श्री सूयगडांग सूत्र

(द्वितीय श्रुतस्कन्ध)

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन
संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर
शाखा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-३०५९०१
(०१४६२) २५१२१६, २५७६९९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्न माला का ९३ वाँ रत्न

सूयगडांग सूत्र

(द्वितीय श्रुतस्कन्ध)

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

सम्पादक

नेमीचन्द बांठिया

पारसमल चण्डालिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म

जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

शाखा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-३०५९०१

(०१४६२) २५१२१६, २५७६९९ फेक्स नं. २५०३२८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य सहायक

डागा परिवार, जोधपुर (राज.)

प्राप्ति स्थान

१. श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस, **जोधपुर** ☎ २६२६१४५
२. शाखा-अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट बाहर, **ब्यावर** ☎ २५१२१६
३. महाराष्ट्र शाखा-माणके कंपाउंड, दूसरी मंजिल आंबेड़कर पुतले के बाजू में, **मनमाड़**
४. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन पो० बॉ० नं० २२१७, **बम्बई-२**
५. श्रीमान् हस्तीमल जी किशनलालजी जैन प्रीतम हाऊ० कॉ० सोसा० ब्लॉक नं० १०
स्टेट बैंक के सामने, **मालेगांव (नासिक)**
६. श्री एच. आर. डोशी जी-३६ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, **दिल्ली-६** ☎ २३२३३५२१
७. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, **अहमदाबाद**
८. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, **बुलडाणा**
९. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, **भीलवाड़ा**
१०. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगंज, **इन्दौर**
११. श्री विद्या प्रकाशन मन्दिर, ट्रांसपोर्ट नगर, **मेरठ** (उ. प्र.)
१२. श्री अमरचन्दजी छाजेड़, १०३ वाल टेक्स रोड़, **चैन्नई** ☎ २५३५७७७५
१३. श्री संतोषकुमार बोथरा वर्द्धमान स्वर्ण अलंकार ३६४, शांपिंग सेन्टर, **कोटा** ☎ २३[illegible] ६५०

मूल्य : २५-००

तृतीय आवृत्ति
१०००

वीर संवत् २५३१
विक्रम संवत् २०६२
जुलाई २००५

मुद्रक - स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर ☎ २४२३२६५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निवेदन

स्थानकवासी जैन परम्परा के मान्य आगम साहित्य अंग, उपांग, मूल और छेद रूप चार भागों में वर्तमान में विशेष प्रसिद्ध है। इनमें अंग रूप आगम प्रभु महावीर का उपदेश है, जिसे गणधरों ने अंग साहित्य के रूप में रचना की है। शेष आगम साहित्य की रचना पूर्वधर आचार्य भगवन्तों की है। यद्यपि इनकी रचना पूर्वधर आचार्य भगवंतों की है पर विषय सामग्री एवं प्रामाणिकता आप्त वचनों के समतुल्य है। इसमें किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं है।

अंग आगम साहित्य के क्रम में प्रथम स्थान आचारांग सूत्र का है, जिसमें साधु जीवन के आचार (आचरण) की विशद चर्चा की गई है। वैसे देखा जाय तो आध्यात्मिकता का मूल ही आचरण पर आधारित होता है। साधक का सम्यक् निर्मल आचरण ही उसको आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ाने में सहायक होता है। इस अपेक्षा से आचारांग सूत्र का अंग साहित्य में प्रथम स्थान होना सभी दृष्टि से उचित है। अंग साहित्य में दूसरा स्थान सूत्रकृताङ्ग सूत्र का है। जिसमें आचार के साथ विचार की मुख्यता है। यानी इसमें दार्शनिक विचारधाराओं को प्रमुखता से प्रतिपादित किया गया है।

इस सूत्र में प्रभु महावीर के समय भारत वर्ष में प्रचलित लगभग सभी दार्शनिक मान्यताओं को इसमें चर्चित किया, जिसमें कुछ का सम्बन्ध आचार से, तो कुछ का सम्बन्ध दर्शन से है। आगमकार ने पूर्व पक्ष (परमत का) का परिचय देकर बाद में उन्हें खण्डित कर स्वमत अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र जैन परम्परा में दार्शनिक विषय को प्रतिपादित करने वाला एक विशिष्ट आगम है। इसमें नवदीक्षित श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिए और विचार पक्ष को विशुद्ध बनाए रखने के लिए जैन सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को जिस प्रभु महावीर के समय प्रचलित ३६३ मतों (क्रियावादी १८० अक्रियावादी ८४ अज्ञानवादी ६७ और विनयवादी ३२) को जानने की उत्सुकता हो, जैन और जैनेत्तर दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उनके लिए प्रस्तुत आगम में यथेष्ठ सामग्री उपलब्ध है। इसके अलावा इसमें जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष आदि का भी विशद विवेचन है।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के दो श्रुत स्कन्ध हैं। दोनों में ही प्रधान रूप से दार्शनिक विचार चर्चा है। प्रथम श्रुत स्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं और दूसरे श्रुत स्कन्ध में सात अध्ययन हैं। प्रस्तुत दूसरे श्रुत स्कन्ध का प्रथम अध्ययन पुण्डरीक का है। इसमें एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर बताया गया कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं पर स्वयं ही कष्टों में फंस जाते हैं। राजा वहाँ का वहीं रह जाता है। जबकि दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खींचा हुआ चला आता है। द्वितीय अध्ययन में कर्म बन्ध के तेरह स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्ययन "आहारपरिज्ञा" में बताया गया है कि भिक्षु को निर्दोष आहार पानी की गवेषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथे अध्ययन "प्रत्याख्यान परिज्ञा" में त्याग प्रत्याख्यान-व्रत नियमों का स्वरूप बताया गया है। पांचवें आचार श्रुत अध्ययन में त्याज्य वस्तुओं की गणना की गई है तथा लोक मूढ़ मान्यता का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन "आर्द्रकीय" है। जिसमें आर्द्रकमुनि द्वारा गोशालक के द्वारा प्रभु महावीर पर लगाए गलत आक्षेपों का सटीक उत्तर है। इसके अलावा बौद्ध भिक्षु वेदवादी ब्राह्मण, सांख्यमतवादी एक दण्डी और हस्ती तापस के साथ विशद चर्चा तथा सभी को युक्ति, प्रमाण निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के अनुसार दिये गये उत्तरों को बहुत ही रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है। सातवां अध्ययन "नालन्दीय" है। राजगृह नगर के बाहर उपनगरी नालन्दा के निकवर्ती "मनोरथ" नामक उद्यान में प्रभु महावीर के प्रथम गणधर गौतम एवं प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्य निर्ग्रन्थ उदक पेढाल पुत्र की धर्मचर्चा का बड़ा ही रोचक एवं विस्तृत वर्णन है। गणधर गौतम ने अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा उदक निर्ग्रन्थ की शंकाओं का समाधान किया जिससे संतुष्ट होकर वह प्रभु महावीर के श्री चरणों में समर्पित हुआ एवं पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार प्रस्तुत दूसरा श्रुतस्कन्ध दार्शनिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध का संयुक्त प्रकाशन बहुत समय पूर्व संघ द्वारा हुआ था। जिसका अनुवाद पूज्य श्री उमेश मुनि जी म. सा. "अणु" ने किया था। जिसमें मूल पाठ के साथ मात्र संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद ही था। जो काफी समय से अनुपलब्ध था। वर्तमान में सूत्रकृताङ्ग सूत्र का प्रकाशन दो भागों में किया गया है जिसका प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रकाशित हो चुका है। यह दूसरा श्रुतस्कन्ध पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस श्रुतस्कन्ध का मुख्य आधार जैनाचार्य पूज्य जवाहरलाल जी म. सा. के निर्देशन में अनुवादित सूत्रकृताङ्ग सूत्र के चार भाग हैं। जो पं. अम्बिकादत्त जी ओझा व्याकरणाचार्य द्वारा सम्पादित किये हुए हैं। इस प्रकाशन की शैली संघ द्वारा प्रकाशित भगवती सूत्र की रखी गई है। जिसमें मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर विवेचन भी दिया गया है। ताकि विषय वस्तु को समझने में सहुलियत हो।

इसकी प्रेस काफी श्रीमान् पारसमल जी सा. चण्डालिया ने तैयार की जिसे पूज्य श्री "वीरपुत्र" जी म. सा. को तत्त्वज्ञ सुश्रावक मुमुक्षु आत्मा श्री धनराजजी बडेरा (वर्तमान में धर्मेशमुनि जी) तथा सेवाभावी सुश्रावक श्री हीराचन्दजी पींचा तथा उनके सुपुत्र श्री दिनेश जी पींचा ने सुनाया। म. सा. श्री ने जहाँ जहाँ उचित समझा संशोधन बताया। इसके पश्चात् पुनः इसे श्रीमान् पारसमल जी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चण्डालिया एवं मैंने गहन अवलोकन किया। फिर भी आगम ज्ञान की अल्पता एवं मुद्रण दोष से कहीं कोई त्रुटि रह गई हो, तो आगम मनीषी महानुभावों से निवेदन है कि हमें सूचित करने की कृपा कर अनुग्रहित करे।

इसकी प्रथम आवृत्ति के प्रकाशक में अर्थ सहयोगी आदरणीय दानवीर, समाज के भामाशाह दृढ़धर्मी, प्रियधर्मी सेठ वल्लभचन्दजी सा. डागा थे। खेद है कि आपश्री का देहावसान दिनांक २४-३-२००५ को हो गया। आपश्री की उदारता अनुकरणीय थी। आपके पांच पुत्र हैं श्रीमान् हुकमचन्दजी सा., इन्द्रचन्दजी सा., प्रसन्नचन्दजी सा., विमलचन्दजी सा., राजेन्द्रकुमारजी सा. है। सभी पुत्र रत्न धार्मिक संस्कारों से संस्कारित और अपने पूज्य पिताश्री के पदचिन्हों पर चलने वाले हैं। सभी की भावना है कि सेठ सा. द्वारा जो शुभ प्रवृत्तियाँ चालू थी वे सभी निरन्तर चालू रखी जाय। तदनुसार आगम प्रकाशन के आर्थिक सहयोग में भी आप सदैव तैयार रहते हैं। मेरे निवेदन पर आप सभी ने तुरन्त स्वीकृति प्रदान कर उदारता का परिचय दिया। इसके लिए समाज आपका आभारी है।

आपकी उदारता एवं धर्म भावना का संघ आदर करता है। आपने प्रस्तुत आगम पाठकों को अर्द्ध मूल्य में उपलब्ध कराया। उसके लिए संघ एवं पाठक वर्ग आपका आभारी है।

यद्यपि कागज और मुद्रण सामग्री के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही है एवं इस पुस्तक के प्रकाशन में जो कागज काम में लिया गया है वह श्रेष्ठ उच्च क्वालिटी का मेपलिथो, बाईंडिंग पक्की तथा सेक्शन है बावजूद इसके **डागा परिवार के आर्थिक सहयोग के कारण इसका अर्द्ध मूल्य मात्र २५ रुपया ही रखा गया है।** जो अन्यत्र स्थान से प्रकाशित आगमों से अति अल्प है। सुज्ञ पाठक बंधु इस नूतन प्रकाशन का अधिक से अधिक लाभ उठावें। इसी शुभ भावना के साथ!

ब्यावर (राज.)
दिनांकः २८-७-२००५

संघ सेवक
नेमीचन्द बांठिया
अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	काल मर्यादा
१. बड़ा तारा टूटे तो-	एक प्रहर
२. दिशा-दाह *	जब तक रहे
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो-	दो प्रहर
४. अकाल में बिजली चमके तो-	एक प्रहर
५. बिजली कड़के तो-	आठ प्रहर
६. शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात-	प्रहर रात्रि तक
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो-	जब तक दिखाई दे
८-९. काली और सफेद धूंअर-	जब तक रहे
१०. आकाश मंडल धूलि से आच्छादित हो-	जब तक रहे
औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	
११-१३. हड्डी, रक्त और मांस,	ये तिर्यंच के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हो, तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो १२ वर्ष तक।
१४. अशुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे-	तब तक
१५. श्मशान भूमि-	सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

* आकाश में किसी दिशा में नगर जलने या अग्नि की लपटें उठने जैसा दिखाई दे और प्रकाश हो तथा नीचे अंधकार हो, वह दिशा-दाह है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

****

१६. चन्द्र ग्रहण-	खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो तो १२ प्रहर,

(चन्द्र ग्रहण जिस रात्रि में लगा हो उस रात्रि के प्रारम्भ से ही अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१७. सूर्य ग्रहण-	खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो तो १६ प्रहर

(सूर्य ग्रहण जिस दिन में कभी भी लगे उस दिन के प्रारंभ से ही उसका अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१८. राजा का अवसान होने पर,	जब तक नया राजा घोषित न हो
१९. युद्ध स्थान के निकट	जब तक युद्ध चले
२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो,	जब तक पड़ा रहे

(सीमा तिर्यंच पंचेन्द्रिय के लिए ६० हाथ, मनुष्य के लिए १०० हाथ। उपाश्रय बड़ा होने पर इतनी सीमा के बाद उपाश्रय में भी अस्वाध्याय नहीं होता। उपाश्रय की सीमा के बाहर हो तो यदि दुर्गन्ध न आवे या दिखाई न देवे तो अस्वाध्याय नहीं होता।)

२१-२४. आषाढ़, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा	दिन रात
२५-२८. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा-	दिन रात
२९-३२. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि- इन चार सन्धिकालों में-	१-१ मुहूर्त्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट - नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनमें होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री सूयगडांग सूत्र

दूसरा श्रुतस्कन्ध

विषयानुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	पुण्डरीक नामक पहला अध्ययन	१-३९
२.	क्रिया स्थान नामक दूसरा अध्ययन	४०-९२
३.	आहार परिज्ञा नामक तीसरा अध्ययन	९३-११७
४.	प्रत्याख्यान क्रिया नामक चौथा अध्ययन	११८-१२७
५.	आचार श्रुत नामक पांचवां अध्ययन	१२८-१५४
६.	आद्रकीय नामक छठा अध्ययन	१५५-१८६
७.	नालंदीय नामक सातवां अध्ययन	१८७-२१४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स"

सिरी सूयगडांग सुत्तं

दूसरा श्रुतस्कन्ध

उत्थानिका - पहला श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ। उसके बाद दूसरा श्रुतस्कन्ध प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बात संक्षिप्त में कही गयी है वही बात इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध में विस्तार के साथ एवं युक्तिपूर्वक बताई गयी है। जो बात संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकार से बताई जाती है वह अच्छी तरह समझने में आती है। अतः प्रथम श्रुतस्कन्ध के तत्त्वों को विस्तार के साथ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वारा वर्णन करना ठीक ही है। अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें कहीं गयी हैं। उनको दृष्टान्त देकर सरलता के साथ समझाने के लिये इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना हुई है। अतः ये दोनों ही श्रुतस्कन्ध संक्षेप और विस्तार के साथ एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं यह जानना चाहिए।

इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। ये अध्ययन प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों से बहुत बड़े-बड़े हैं। इसलिये ये महा-अध्ययन कहे जाते हैं। इन में प्रथम अध्ययन का नाम पुण्डरीक अध्यनन है। पुण्डरीक का अर्थ है सफेद कमल। इस अध्ययन में श्वेत कमल की उपमा देकर यहाँ धर्म में रुचि रखने वाले राजा महाराजा आदि बताये गये हैं और उनको विषय भोग से निवृत्त करके मोक्ष मार्ग का पथिक बनाने वाले शुद्ध चारित्रवान् साधुओं का कथन किया गया है। जो लोग प्रव्रज्याधारी होकर भी विषय रूपी पङ्क (कीचड़) में निमग्न हो जाते हैं। वे साधु नहीं हैं। अतएव वे स्वयं संसार सागर में पार नहीं हो सकते हैं, तो फिर दूसरों को तो संसार सागर से पार ही कैसे कर सकते हैं? यह बात भी इस अध्ययन में बतलाई गयी है।

पुण्डरीक नामक पहला अध्ययन

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एव-मक्खायं । इह खलु पोंडरीए णामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते -

से जहा-णामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहु-पुक्खला लद्धट्ठा पुंडरिकिणी पासाईया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउम-वर-पोंडरीया बुइया, अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासाईया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए बहु-मज्झ-देस-भाए एगे महं पउम-वर-पोंडरीए बुइए, अणुपुव्वुट्ठिए ऊसिए रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासाईए जाव पडिरूवे। सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउम-वरपोंडरिया बुइया अणु-पुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा । सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहु-मज्झ-देस-भाए एगं महं पउम-वर-पोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे।। १ ॥

कठिन शब्दार्थ - **आउसं** - आयुष्मन् !, **पोंडरीए** - पुण्डरीक, **णामं** - नामक, **अज्झयणे** - अध्ययन, **अयमट्ठे** - यह अर्थ, **पुक्खरिणी**- पुष्करिणी, **बहुउदगा** - बहुत जल वाली, **बहुसेया** - बहुत पंक वाली, **बहुपुक्खला** - बहुत कमलों से युक्त, **पउमवर पोंडरीया** - उत्तमोत्तम श्रेष्ठ श्वेत कमल, **अणुपुव्वुट्ठिया** - अनुक्रम से उपस्थित, **ऊसिया** - ऊपर उठे हुए, **पासाईया** - प्रसन्न करने वाले, **दरिसणिजा** - दर्शनीय, **अभिरूवा** - अभिरूप-कमनीय, **पडिरूवा** - प्रतिरूप-रमणीय **बहुमज्झदेसभाए** - ठीक मध्यदेश भाग में ।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि - हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ।

जैसे कि एक पुष्करिणी (कमलों वाली बावडी) है उसमें बहुत जल तथा कीचड़ और बहुत से कमल है । वह चित्त को प्रसन्न करने वाली दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप है। उसमें इधर-उधर बहुत से सुन्दर कमल खिले हुए हैं, वे जल से ऊपर उठे हुए, दीप्ति से युक्त, सुन्दर रंग वाले, श्रेष्ठ गंध वाले, मधुर रस वाले, कोमल स्पर्शवाले, मनोहर, दर्शनीय और सुन्दर हैं । उस पुष्करिणी के ठीक मध्य भाग में, एक बहुत बड़ा, उत्तम सफेद कमल है, वह जल से ऊपर उठा हुआ, कान्ति से युक्त, रूप-गंध-रस और स्पर्श में उत्तम, मनोहर, दर्शनीय और सुन्दर है । उस पुष्करिणी में वह बड़ा सफेद कमल, इधर-उधर उगे हुए, उपर्युक्त गुणों से युक्त बहुत-से कमलों के बीचोबीच है ।

विवेचन - इस सूत्र में शास्त्रकार ने संसार का मोहक स्वरूप सरलता से समझाने के लिये और उसके आकर्षण से ऊपर उठ कर साधक को मोक्ष के अभिमुख करने के लिये पुष्करिणी और पुण्डरीक के रूपक का चित्ताकर्षक वर्णन किया है। पुण्डरीक के समान संसार के विषय भोग रूपी कीचड़ और कर्म रूपी जल से ऊपर उठकर संयम रूप सफेद कमल को ग्रहण करे और मोक्ष प्राप्ति के लिये संसार की मोहमाया से ऊपर उठकर साधक श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान सम्यग्-दर्शन आदि रूप मोक्ष मार्ग को अपनावे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं महं एगं पउम-वर-पोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं । तए णं से पुरिसे एवं वयासी -

'अहमंसि पुरिसे खेयण्णे-कुसले-पंडिए-वियत्ते-मेहावी-अबाले-मग्गत्थे-मग्गविऊ-मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू, अहमेयं पउम-वर पोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु' -

इइ बुया से पुरिसे अभिक्कमेइ तं पुक्खरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, पहीणे तीरं अपत्ते पउमवर-पोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए-सेयंसि णिसण्णे । पढमे पुरिसजाए ।। २ ॥

कठिन शब्दार्थ - आगम्म - आकर, **पुरित्थिमाओ** - पूर्व, **दिसाओ** - दिशा से, **तीरे** - तीर पर, **ठिच्चा** - खड़ा हो कर, **वियत्ते** - व्यक्त-बालभाव से निवृत्त, **मग्गत्थे** - मार्गस्थ-मार्ग में स्थित, **मग्गविऊ** - मार्ग का जानकार, **गइपरक्कमण्णू** - गति पराक्रमज्ञ-अभीष्ट को प्राप्त कराने वाले मार्ग का ज्ञाता, **उण्णिक्खिस्सामि** - उखाड़ूँगा, **अभिक्कमेइ** - प्रवेश करता है, **पहीणे** - छूट गया, **अपत्ते** - अप्राप्त-नहीं मिला, **हव्वाए** - इस पार, **पाराए** - उस पार **सेयंसि** - कीचड़ में, **णिसण्णे** - फंस गया।

भावार्थ - जिस पुष्करिणी का वर्णन प्रथम सूत्र में किया गया है उसके तट पर एक पुरुष पूर्व दिशा से आता है और वह पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर उस उत्तम श्वेतकमल को देख कर कहता है कि - "मैं बड़ा ही बुद्धिमान्, भले और बुरे कर्त्तव्य का ज्ञाता, युवा और अभीष्ट सिद्धि के मार्ग को जानने वाला हूँ। मैं इस पुष्करिणी के मध्य में सुशोभित इस उत्तम श्वेत कमल को बाहर निकालने के लिये आया हूँ" यह कह कर वह पुरुष उस श्वेत कमल को निकालने के लिये उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है परन्तु वह ज्यों-ज्यों आगे जाता है त्यों-त्यों उसको अधिक जल और अधिक कीचड़ मिलते हैं। वह बिचारा पुष्करिणी के तीर से भी भ्रष्ट हो जाता है और श्वेत कमल को भी नहीं प्राप्त कर सकता है, वह न इस पार का होता है और न उस पार का होता है किन्तु पुष्करिणी के बीच में कीचड़ तथा जल में फंस कर महान् कष्ट पाता है । यह पहले पुरुष का वृत्तान्त है ।। २ ।।

अहावरे दोच्चे पुरिस-जाए; अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं महं एगं पउमवर-पोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासाइयं जाव पडिरूवं । तं च एत्थ एगं पुरिसजायं पासइ पहीण-तीरं, अपत्तपउम-वरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णं । तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अहो णं इमे पुरिसे अखेयण्णे-अकुसले अपंडिए-अवियत्ते-अमेहावी-बाले-णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ, णो मग्गस्स गइ परक्कमण्णू, जण्णं एस पुरिसे-अहं खेयण्णे-कुसले जाव पउम-वर-पोंडरीयं उण्णिक्खस्सामि-णो य खलु एयं पउम-वर-पोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं-जहा णं एस पुरिसे मण्णे । अहमंसि पुरिसे खेयण्णे कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू; अहमेयं पउम-वर-पोंडरीयं उण्णिक्खस्सामि त्ति कट्टु'

इति वच्चा (बूया) से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणीं । जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, पहीणे तीरं, अपत्ते पउम-वर-पोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए; अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे । दोच्चे पुरिस-जाए ।। ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - **दक्खिणाओ** - दक्षिण दिशा से, **मण्णे** - माना, **उण्णिक्खेयव्वं** - निकाला (उखाड़ा) जा सकता ।

भावार्थ - अब दूसरे पुरुष के विषय में कहते हैं । दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा की ओर से पुष्करिणी पर आकर, किनारे पर खड़े रहकर, उस कमल और कीचड़ में फँसे हुए पहले पुरुष को देखता है । तब वह पहले पुरुष के विषय में बोला -

'अहो ! यह व्यक्ति अक्षेत्रज्ञ, अकुशल, अपण्डित, अविवेकी, अबुद्धिमान्, बाल, मार्ग में अस्थित, मार्ग से अपरिचित और मार्ग की उलझनों से अनभिज्ञ है; - परन्तु इस पुरुष ने समझा कि मैं ज्ञानी और कुशल हूँ, इसलिये इस श्रेष्ठ कमल को निकाल लाऊंगा।' पर यह कमल इस प्रकार नहीं उखाड़ा जा सकता, जिस प्रकार कि यह पुरुष मानता है। मैं क्षेत्रज्ञ, कुशल, पण्डित, विवेकी, मेधावी, प्रौढ़, मार्ग में स्थित, मार्ग का ज्ञाता और गति के कौशल को जानने वाला हूँ। इसलिये मैं वहां जाकर, कमल को उखाड़ कर ला सकता हूँ ।'

उसने यह कह कर, पुष्करिणी में प्रवेश किया। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों पानी और कीचड़ की गहराई-अधिकता बढ़ती जाती है। वह किनारे से दूर चला जाता है, पर कमल तक नहीं पहुँच पाता और न इस ओर आ सकता है, न उस ओर जा सकता है। वह दूसरा पुरुष भी कीचड़ में फंस जाता है ।

अहावरे तच्चे पुरिस-जाए । अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं एगं महं पउम-वर-पोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं; ते तत्थ दोण्णि पुरिस जाए पासइ, पहीणे तीरं, अपत्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पउमवर-पोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, जाव सेयंसि णिसण्णे । तए णं से पुरिसे एवं वयासी -

"अहो णं इमे पुरिसा अखेयण्णा-अकुसला-अपंडिया-अवियत्ता-अमेहावी बाला-णो मग्गत्था-णो मग्गविऊ-णो मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू; जं णं एए पुरिसा एवं मण्णे-अम्हे एयं पउम-वर-पोंडरीयं उण्णिक्खस्सामो, णो य खलु एयं पउम-वर-पोंडरीयं एवं उण्णिखेयव्वं, जहा णं एए पुरिसा मण्णे । अहमंसि पुरिसे खेयण्णे-कुसले-पंडिए-वियत्ते-मेहावी-अबाले-मग्गत्थे-मग्गविऊ-मग्गस्स गइ परक्कमण्णू, अहमेयं पउम-वर-पोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु ।"

इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं । जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे। तच्चे पुरिस जाए ।। ४ ॥

अब तीसरे पुरुष के विषय में कहते हैं । तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा की ओर से, उस पुष्करिणी पर आकर, किनारे पर खड़ा रह कर, पुष्करिणी में श्रेष्ठ कमल और उसे प्राप्त करने के लिये जाने वाले, कीचड़ में फँसे हुए दो व्यक्तियों को देखता है ।

(शेष सूत्र का अर्थ तीसरे सूत्र के समान है ।)

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए । अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं महं एगं पउम-वर-पोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ तिण्णि पुरिसजाए पासइ, पहीणे तीरं, अपत्ते जाव सेयंसि णिसण्णे । तए णं से पुरिसे एवं वयासी -

"अहो णं इमे पुरिसा अखेयण्णा जाव णो मग्गस्स गइ-परिक्कमण्णू, जण्णं एए पुरिसा एवं मण्णे अम्हे एयं पउम-वर-पोंडरीयं उण्णिक्खस्सामो णो य खलु एयं पउमवर-पोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं, जहा णं एए पुरिसे मण्णे । अहमंसि पुरिसे खेयण्ण जाव मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू, अहमेयं पउम-वर-पोंडरीयं एवं उण्णिक्खस्सामि त्ति कट्टु' -

इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं । जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए जाव णिसण्णे । चउत्थे पुरिसजाए ।। ५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चौथा पुरुष उत्तर दिशा की ओर से पुष्करिणी पर आकर, किनारे पर खड़ा रहकर, उस श्रेष्ठ कमल को और उसे लेने जाकर कीचड़ में फंसे हुए तीन पुरुषों को देखता है ।।५॥

(शेष सूत्र का अर्थ तीसरे सूत्र के समान है)

अह भिक्खू लूहे-तीरट्ठी जाव गइ-परक्कमण्णू, अण्णयराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं महं एगं पउम-वर-पोंडरीयं जाव पडिरूवं, ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासइ, पहीणे तीरं, अपत्ते जाव पउम-वर-पोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे । तए णं से भिक्खू एवं वयासी -

'अहो णं इमे पुरिसा अखेयण्णा जाव णो मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू, जं एए पुरिसा एवं मण्णे-अम्हे एयं पउमवर-पोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो, णो य खलु एयं पउमवर-पोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं, जहा णं एए पुरिसा मण्णे । अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी-खेयण्णे जाव मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू; अहमेयं पउमवर-पोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु' -

इति वुच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा-'उप्पयाहि ! खलु भो पउमवर-पोंडरीया ! उप्पयाहि' ।

अह से उप्पइए पउम-वर-पोंडरीए ।। ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - **लूहे** - रूक्ष-राग द्वेष रहित, **तीरट्ठी** - तीरार्थी-संसार सागर के तट पर जाने की इच्छा करने वाला, **अणुदिसाओ** - विदिशा से, **उप्पयाहि** - बाहर निकलो (ऊपर आओ)।

भावार्थ - पहले उन चार पुरुषों का वर्णन किया गया है जो श्वेत कमल को पुष्करिणी से बाहर निकालने के लिये आये तो थे परन्तु वे आप ही अज्ञानवश उस पुष्करिणी के कीचड़ में फंस गये फिर वे कमल को बाहर निकाल सकें इसकी तो आशा ही क्या है ? अब पाँचवें पुरुष का वर्णन किया जाता है - यह पुरुष भिक्षा मात्र जीवी साधु है तथा राग द्वेष से रहित रूक्ष घड़े के समान कर्म मल के लेप से रहित है, यह संसार सागर से पार जाने की इच्छा करने वाला खेदज्ञ है। यह पुरुष भी पूर्व पुरुषों के समान ही किसी दिशा से उस पुष्करिणी के तट पर आया और उसके तट पर खड़ा होकर उस उत्तम श्वेत कमल को तथा उस पुष्करिणी के अगाध कीचड़ में फंस कर कष्ट पाते हुए उन चार पुरुषों को भी उसने देखा। उसने उन पुरुषों का अज्ञान प्रकट करते हुए कहा कि ये लोग कार्य शैली को नहीं जानते हैं पुष्करिणी के अगाध जल और अगाध कीचड़ में स्वयं फंस कर भला इस श्वेत कमल को कोई किस तरह निकाल सकता है ? मैं कार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्धति को जानने वाला हूँ और श्वेत कमल को इस पुष्करिणी से बाहर निकालने के लिये आया हूँ इस प्रकार कह कर वह साधु उस पुष्करिणी में प्रवेश न करके तट पर ही खड़ा होकर कमल से कहता है कि - 'हे उत्तम श्वेत कमल! बाहर निकलो, बाहर निकलो।' साधु की इस आवाज को सुन कर वह श्वेत कमल उस पुष्करिणी से बाहर आता है। यह इस सूत्र का तात्पर्य है। इस सूत्र में सत्य अर्थ को समझाने के लिये पुष्करिणी, कमल, एवं कीचड़ में फंसे हुए चार पुरुष तथा किनारे खड़ा होकर आवाज मात्र से कमल को बाहर निकालने वाले साधु पुरुष दृष्टान्त रूप से कहे गये हैं परन्तु इस सूत्र में दार्ष्टान्त का वर्णन नहीं है वह आगे के सूत्र में कहा जायेगा ।। ६ ॥

"किट्टिए णाए समणाउसो ! अट्ठे पुण से जाणियव्वे भवइ।"

"भंते ! त्ति" - समणं भगवं महावीरं णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य वंदंति णमंसंति; वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-"किट्टिए णाए समणाउसो ! अट्ठं पुण से ण जाणामो ।"

"समणाउसो त्ति" - समणे भगवं महावीरे ते य बहवे णिग्गंथे य णिग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी-हंत समणाउसो ! आइक्खामि, विभावेमि, किट्टेमि, पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सणिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि से बेमि ।। ७॥

कठिन शब्दार्थ - **किट्टिए** - बताया है, **समणाउसो** - आयुष्मन् श्रमणो !, **आइक्खामि** - आख्यान करता हूँ, कहता हूँ, **विभावेमि** - प्रकट करता हूँ, **किट्टेमि** - समझाता हूँ, **पवेदेमि** - प्रवेदन करता हूँ, **सअट्ठं** - अर्थ सहित, **सहेउं** - हेतु सहित, **सणिमित्तं** - निमित्त सहित, **भुज्जो भुज्जो** - बार बार, **उवदंसेमि** - बताता हूँ ।

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बोले-'हे आयुष्मन् श्रमणो ! यह उदाहरण कहा गया है। इसका अर्थ=मर्म जानने योग्य है ।'

'हां भन्ते !' - यह कहकर सभी साधु और साध्वी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करते हैं और वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार बोले - 'हे भगवन् ! जो यह उदाहरण कहा गया है, इसका रहस्य हम नहीं जानते हैं ।'

'हे आयुष्मन् श्रमणो !'-श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बहुत-से साधु और साध्वियों को सम्बोधित करके इस प्रकार बोले-'अच्छा, मैं इस उदाहरण का रहस्य अर्थ, हेतु और कारण सहित स्पष्ट, विस्तृत और सुगम बनाकर कहता हूँ ।' ।७।

लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! पुक्खरिणी बुइया। कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! उदए बुइए। काम भोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइए । जण जाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउम-वर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पोंडरीए बुइए । रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउम-वर-पोंडरीए बुइए । अण्ण-उत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया बुइया । धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू बुइए । धम्म-तित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो! से तीरि बुइए । धम्म कहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइए । णिव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए बुइए । एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइयं ।।८।।

कठिन शब्दार्थ - **अप्पाहट्टु** - अपनी इच्छा से मान कर (एक अपेक्षा से) **उदए** - उदक-जल, **सेए**- कीचड़, **जण** - जन-आर्य देश के मनुष्य, **जाणवयं** - जनपद को अर्थात् देशों को, **अण्णउत्थिया**- अन्यतीर्थिक, **धम्मं** - धर्म को, **धम्मतित्थं** - धर्म तीर्थ को, **णिव्वाणं** - निर्वाण-मोक्ष को ।

भावार्थ - श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रमण और श्रमणियों से कहते हैं कि - यह जो विविध प्रकार के मनुष्यों से परिपूर्ण लोक हैं इसको तुम एक प्रकार की पुष्करिणी समझो। जैसे पुष्करिणी अनेक प्रकार के कमलों का आधार होती है इसी तरह यह मनुष्य लोक भी नाना प्रकार के मनुष्यों का आधार है अतः इस तुल्यता को लेकर मनुष्य लोक को मैंने पुष्करिणी का रूपक दिया है। जैसे पुष्करिणी में जल के कारण कमलों की उत्पत्ति होती है इसी तरह आठ प्रकार के कर्मों के कारण मनुष्य लोक में मनुष्यों की उत्पत्ति होती है अतः जल से कमल की उत्पत्ति के समान कर्मों से मनुष्य की उत्पत्ति होने के कारण मैंने आठ प्रकार के कर्मों को लोकरूपी पुष्करिणी का जल कहा है । तथा पुष्करिणी के महान् कीचड़ में फंसा हुआ पुरुष जैसे अपना उद्धार करने में समर्थ नहीं होता है इसी तरह विषय भोग में निमग्न प्राणी अपना उद्धार करने में समर्थ नहीं होते हैं अतः विषय भोग को कीचड़ के समान फंसाने वाला समझ कर मैंने विषयभोग को मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी का कीचड़ कहा है। जैसे पुष्करिणी में नाना प्रकार के कमल होते हैं इसी तरह इस मनुष्य लोक में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं अतः मैंने मनुष्य लोक में निवास करने वाले मनुष्यों को मनुष्य लोकरूपी पुष्करिणी के बहुत से कमल कहे हैं। जैसे पुष्करिणी के समस्त कमलों में प्रधान एक उत्तम और सबसे बड़ा श्वेत कमल है। इसी तरह मनुष्य लोक के सब मनुष्यों से श्रेष्ठ और सब का शासक एक राजा होता है, उस राजा को मैंने मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी का सबसे बड़ा कमल कहा है। जैसे कोई निर्विवेकी मनुष्य उस पुष्करिणी के उस प्रधान श्वेत कमल को निकालने के लिये पुष्करिणी में प्रवेश करके उसके महान् कीचड़ में फंस कर अपने को तथा उस कमल को बाहर निकालने के लिये समर्थ नहीं होता है इसी तरह जो मनुष्य, मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी के विषय भोग रूपी कीचड़ में फंसा हुआ है वह अपने को तथा मनुष्यों में प्रधान राजा आदि को संसार से उद्धार करने में समर्थ नहीं होता है, इस तुल्यता को ले कर मैंने विषयभोग में प्रवृत्त अन्यतीर्थियों को वे, चार पुरुष कहे हैं, जो उत्तम श्वेत कमल को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुष्करिणी से बाहर निकालने के लिये चार दिशाओं से आये थे परन्तु वे चारों ही पुष्करिणी के महान् कीचड़ में स्वयं फंस कर अपने को भी उद्धार करने में समर्थ नहीं हुए । जैसे कोई विद्वान् पुरुष पुष्करिणी के अन्दर न जाकर उसके तट पर ही खड़ा रह कर केवल शब्द के द्वारा उस श्वेत कमल को बाहर निकाल ले इसी तरह राग द्वेष रहित धार्मिक पुरुष विषय भोग को त्याग कर धर्मोपदेश के द्वारा राजा महाराजा आदि को संसार सागर से पार कर देता है इसलिये मैंने राग द्वेष रहित उत्तम साधु को अथवा उत्तम धर्म को भिक्षु कहा है। जैसे वह विद्वान् पुरुष उस पुष्करिणी के तट पर स्थित रहता है इसी तरह उत्तम धर्म या उत्तम साधु धर्म तीर्थ में स्थित रहते हैं। इसलिए मैंने धर्म तीर्थ को मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी का तट कहा है। जैसे विद्वान् पुरुष श्वेत कमल को केवल शब्द के द्वारा बाहर निकाल ले इसी तरह उत्तम साधु धर्मोपदेश के द्वारा राजा महाराजा आदि को संसार से उद्धार कर देते हैं इसलिये धर्मोपदेश को मैंने उस भिक्षु का शब्द कहा है। जैसे जल और कीचड़ को त्याग कर कमल बाहर आता है इसी तरह उत्तम पुरुष अपने आठ प्रकार के कर्म तथा विषय भोगों को त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं अतः निर्वाण पद की प्राप्ति को मैंने कमल का पुष्करिणी से बाहर आना कहा है।। ८ ॥

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववण्णा। तं जहा-आरिया वेगे, अणारिया वेगे; उच्चागोया वेगे, णीया-गोया वेगे, कायमंता वेगे, रहस्समंता वेगे; सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे; सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे। तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवइ महया-हिमवंत-मलय-मंदर-महिंद-सारे, अच्चंत-विसुद्ध-रायकुल-वंस-प्पसूए, णिरंतर-राय-लक्खण-विराइयंग-मंगे, बहुजण-बहुमाण-पूइए, सव्व-गुण-समिद्धे, खत्तिए, मुदिए, मुद्धा-भिसित्ते, माउ-पिउ-सुजाए, दय-प्पिए, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, मणुस्सिंदे, जणवय-पिया, जणवय-पुरोहिए, सेउकरे, केउकरे, णर-पवरे, पुरिस-पवरे, पुरिस-सीहे, पुरिस-आसीविसे, पुरिस-वर-पोंडरीए, पुरिस-वर-गंधहत्थी, अड्ढे, दित्ते, वित्ते, विच्छिण्ण-विउल-भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे, बहुधण-बहु-जायरूव-रयए, आओग-पओग-संपउत्ते, विच्छड्डिय-पउर-भत्त-पाणे, बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलग-प्पभूए, पडिपुण्ण कोस-कोट्ठागारा-उहागारे, बलवं, दुब्बल-पच्चामित्ते, ओहय-कंटयं, णिहय-कंटयं, मलिय-कंटयं, उद्धिय-कंटयं, अकंटयं; ओहय-सत्तू, णिहयसत्तू, मलियसत्तू, उद्धियसत्तू, णिज्जियसत्तू, पराइय-सत्तू, ववगय दुब्भिक्खमारि-भय विप्पमुक्कं, रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसंत-डिंब-डंबरं रज्जं पसाहेमाणे विहरइ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्स णं रण्णो परिसा भवइ-उग्गा, उग्ग-पुत्ता, भोगा, भोग-पुत्ता, इक्खागाइ, इक्खागाइ-पुत्ता, णाया, णायपुत्ता, कोरव्वा, कोरव्व-पुत्ता, भट्टा, भट्ट-पुत्ता, माहणा, माहण-पुत्ता, लेच्छइ, लेच्छइ-पुत्ता, पसत्थारो, पसत्थ-पुत्ता, सेणावई, सेणावइ-पुत्ता ।

तेसिं च णं एगईए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए । तत्थ अण्णयरेणं, धम्मेणं पण्णतारो वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो से एवमायाणह-भयंतारो, जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपण्णत्ते भवइ । तं जहा-उड्ढं पायतला, अहे केसग्ग-मत्थया, तिरियं तय-परियंते जीवे, एस आया-पज्जवे कसिणे। एस जीवे जीवइ, एस मए णो जीवइ; सरीरे धरमाणे धरइ, विणंट्ठंमि य णो धरइ । एयंतं जीवियं भवइ । आदहणाए परेहिं णिज्जइ । अगणि-झामिए सरीरे, कवोय-वण्णाणि अट्ठीणि भवंति । आसंदी-पंचमा पुरिसा गामं पच्चा-गच्छंति । एवं असंते असंविज्जमाणे । जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवइ-अण्णो भवइ जीवो, अण्णं सरीरं, तम्हा ते एवं णो विपडिवेदेंति-अयमाउसो ! आया दीहे त्ति वा, हस्से त्ति वा, परिमंडले त्ति वा, वट्टे त्ति वा, तंसे त्ति वा, चउरंसे त्ति वा आयये त्ति वा, छलंसिए त्ति वा, अट्ठंसे त्ति वा, किण्हे त्ति वा, णीले त्ति वा, लोहिय-हालिद्दे-सुक्किले त्ति वा, सुब्भिगंधे त्ति वा, दुब्भिगंधे त्ति वा; तित्ते त्ति वा, कडुए त्ति वा, कसाए त्ति वा, अंबिले त्ति वा महुरे त्ति वा; कक्खडे त्ति वा, मउए त्ति वा, गुरुए त्ति वा लघुए त्ति वा, सिए त्ति वा उसिणो त्ति वा, णिद्धे त्ति वा लुक्खे त्ति वा-एवं असंते असंविज्जमाणे । जेसिं तं सुयक्खायं भवइ-अण्णो जीवो अण्णं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति । से जहा णामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! असी, अयं कोसी; एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया, इमं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिणिव्वट्टित्ताणं उव-दंसेज्जा-अयमाउसो ! मुंजे, इमं इसियं; एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया, इमं सरीरं । से जहा णामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! मंसे, अयं अट्ठी; एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो! आया, इमं सरीरं । से जहा णामए केइ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिसे करयलाओ आमलगं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! करयले अयं आमलए; एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया, इमं सरीरं । से जहा णामए केइ पुरिसे दहिओ णवणीयं, अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! णवणीयं, अयं तु दही; एवमेव णत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं । से जहा णामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! तेल्लं, अयं पिण्णाए; एवमेव जाव सरीरं। से जहा णामए केइ पुरिसे इक्खूओ खोयरसं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! खोयरसे, अयं छोए; एवमेव जाव सरीरं। से जहा णामए केइ पुरिसे अरणीओ अग्गिं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! अरणी, अयं अग्गी; एवमेव जाव सरीरं । एवं असंते असंविज्जमाणे । जेसिं तं सुयक्खायं भवइ, तंजहा-अण्णो जीवो, अण्णं सरीरं; तम्हा ते मिच्छा ।

से हंता तं हणह-खणह-छणह-डहह-पयह-आलुंपह-विलुंपह-सहसाक्कारेह-विपरामुसह, एयावता जीवे णत्थि परलोए। ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा-किरियाइ वा, अकिरिया इ वा, सुक्कडे इ वा, दुक्कडे इ वा, कल्लाणे इ वा, पावए इ वा, साहु इ वा, असाहु इ वा, सिद्धि इ वा, असिद्धि इ वा, णिरए इ वा, अणिरए इ वा । एवं ते विरूवरूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूवरूवाइं काम-भोगाइं समारभंति भोयणाए ।

एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पण्णवेंति। तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साहु सुयक्खाए समणे त्ति वा, माहणे त्ति वा, कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि; तं जहा-असणेण वा, पाणेण वा, खाइमेण वा, साइमेण वा, वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा । तत्थेगे पूयणाए समाउट्ठिंसु, तत्थेगे पूयणाए णिकाइंसु ।

पुव्वमेव तेसिं णायं भवइ-समणा भविस्सामो, अणगारा, अकिंचणा, अपुत्ता, अपसू, पर-दत्त-भोइणो, भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो । समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति । सयमाइयंति, अण्णे वि आइयावेंति, अण्णं वि आयतंतं समणुजाणंति । एवमेव ते इत्थि-काम-भोगेहिं मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, अज्झोववण्णा, लुद्धा, राग-दोस-वसट्टा; ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, ते णो परं समुच्छेदेंति, ते णो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अण्णाइं पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्व-संजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा काम-भोगेसु विसण्णा ।

इति पढमे पुरिसजाए तज्जीव-तच्छरीरए त्ति आहिए ।। ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - **आरिया** - आर्य, **अणारिया** - अनार्य, **उच्चागोया** - उच्च गोत्र में उत्पन्न, **णीयागोया** - नीच गोत्र में उत्पन्न, **कायमंता** - लम्बे शरीर वाले, **रहस्समंता** - छोटे शरीर वाले, **महयाहिमवंत-मलयमंदरमहिंदसारे** - महाहिमवान्, मलय, मंदराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान, **अच्चंतविसुद्धराय-कुलवंसप्पसूए** - अत्यंत विशुद्ध राज कुल के वंश में उत्पन्न, **णिरंतरायलक्खण विरइयंगमंगे**- अंग और प्रत्यंग राज लक्षणों से सुशोभित, **बहुजणबहुमाणपूइए** - बहुतजनों के द्वारा बहुमान से पूजित, **सव्वगुण समिद्धे** - समस्त गुणों से परिपूर्ण, **खत्तिए** - क्षत्रिय, **मुदिए** - मुदित, **मुद्धाभिसित्ते**- मूर्धाभिषिक्त राज्याभिषेक किया हुआ, **माउपिउसुजाए** - माता-पिता का सुपुत्र, **दयप्पिए**- दयालु, **सीमंकरे** - मर्यादा स्थापित करने वाला, **सीमंधरे** - मर्यादा का स्वयं पालन करने वाला, **खेमंकरे** - प्रजा का कल्याण करने वाला, **खेमंधरे** - स्वयं कल्याण को धारण करने वाला, **णरपवरे** - नर प्रवर-मनुष्यों में श्रेष्ठ, **अड्ढे** - आढ्य-धनवान्, **दित्ते** - तेजस्वी, **वित्ते** - प्रसिद्ध, **विच्छिण्ण-विउलभवणसयणासणजाण-वाहणाइण्णे** - बड़े बड़े मकान, शयन, आसन यान और वाहन से परिपूर्ण, **बहुधणबहुजायरूवरयए**- बहुत धन सुवर्ण और चांदी से भरे हुए, **आओगपओगसंपउत्ते** - आयोग प्रयोग संप्रयुक्त-विपुल आय और व्यय वाले, **विच्छड्डिय-पउरभत्तपाणे** - प्रचुर भात पानी, **पडिपुण्ण-कोसकोट्ठागाराउहागारे** - खजाना, अन्न रखने का स्थान, शस्त्र रखने के स्थान से प्रतिपूर्ण, **दुब्बलपच्चामित्ते** - शत्रुओं को दुर्बल किया हुआ, **ववगयदुभिक्खमारियविप्पमुक्के** - दुर्भिक्ष और महामारी के भय से रहित, **पसंतडिंबडंबरं** - स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित, **पसाहेमाणे** - शासन करता हुआ ।

उग्गा - उग्र-उग्र कुल में उत्पन्न, **उग्गपुत्ता** - उग्रपुत्र, **भोगपुत्ता** - भोग पुत्र, **कोरव्वा** - कुरुकुल में उत्पन्न, **भट्टा** - सुभट कुल में उत्पन्न, **सड्ढी** - श्रद्धावान्, **पायतला** - पादतल से, **केसग्गमत्थया** - मस्तक के केशाग्र से, **तयपरियंते** - चमड़े तक, **धरमाणे** - स्थित रहने पर, **विणट्ठंमि**- नष्ट होने पर, **आदहणाए**- जलाने के लिए, **णिज्जइ** - ले जाते हैं, **अगणिझामिए** - अग्नि के द्वारा जलाने पर, **अट्ठीणि** - हड्डियाँ, **कवोयवण्णाणि** - कपोत वर्ण वाली, **पच्चागच्छंति** - लौट जाते हैं, **असंविज्जमाणे** - शरीर से भिन्न जीव का संवेदन (अस्तित्व) नहीं, **छलंसिए** - षट् कोण वाला, **कोसाओ** - म्यान से, **असिं** - तलवार को, **अभिणिव्वट्टित्ताणं** - निकाल कर, **मुंजाओ** - मूंज से, **इसियं** - शलाका को, **मंसाओ** - मांस से, **अट्ठिं** - हड्डी को, **करयलाओ** - हथेली से, **आमलगं** - आँवले को, **दहिओ** - दही से, **णवनीयं** - नवनीत (मक्खन) को, **तिलेहिंतो** - तिल में से, **तेल्लं** - तैल को, **पिण्णाए** - खली, **इक्खूओ** - ईख से, **छोए** - छिलका, **अरणीओ** - अरणी से, **सयं** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं, **आइयंति** - परिग्रह स्वीकार करते हैं, **रागदोसवसट्टा**- राग द्वेष के वशवर्ती (वशीभूत), **समुच्छेदेंति** - मुक्त कर सकते हैं, **आरियं मग्गं** - आर्य मार्ग को, **असंपत्ता** - प्राप्त नहीं होते हुए, **विसण्णा**-निमग्न-आसक्त, **तज्जीवतच्छरीरए**-तज्जीवतच्छरीरवादी।

भावार्थ - श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि- इस मनुष्य लोक के पूर्व आदि दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं। वे एक प्रकार के नहीं होते। कोई पुरुष आर्यधर्म के अनुयायी होते हैं और कोई अनार्य होते हैं। जो धर्म सब प्रकार के बुरे धर्मों से रहित है उसे आर्य धर्म कहते हैं और जो इससे विपरीत है उसे अनार्य धर्म कहते हैं। इस भारत वर्ष के साढ़े पचीस जनपद (देश) में उत्पन्न पुरुष आर्य धर्म के अनुयायी होते हैं और इससे बाहर निवास करने वाले मनुष्य अनार्य होते हैं। इन आर्य पुरुषों में कोई इक्ष्वाकु आदि उच्च गोत्र में उत्पन्न और कोई नीच गोत्र में उत्पन्न होते हैं। कोई लम्बे शरीर वाले होते हैं और कोई वामन, कुबड़े आदि होते हैं। किसी का शरीर सोने की तरह सुन्दर होता है और किसी का काला तथा रूक्ष होता है। कोई सुन्दर अंगोपाङ्ग से युक्त मनोहर होता है और कोई कुरूप होता है। इन पुरुषों में जो उच्च गोत्र वाले तथा उत्तम शरीर आदि गुणों से युक्त होते हैं उनमें कोई पुरुष अपने पूर्व पुण्य के उदय से मनुष्यों का राजा होता है। उसके गुण इस प्रकार जानने चाहिये - वह राजा, हिमवान्, मलय, मन्दराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान बलवान् अथवा धनवान् होता है। वह स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र के भय से रहित होता है। एवं वह उववाई सूत्र में कहे हुए राजा के समस्त गुणों से सुशोभित होता है ।

उस राजा की एक परिषद् होती है उसमें आगे कहे जाने वाले लोग सभासद् होते हैं। उग्र जाति वाले तथा उनके पुत्र एवं भोग जाति वाले और उनके पुत्र, तथा सेनापति और उनके पुत्र, सेठ, साहुकार, राजमन्त्री तथा उनके पुत्र आदि उसके परिषद् के सभासद् होते हैं ।

इनमें कोई पुरुष धर्म में रुचि रखने वाला होता है । ऐसे पुरुष को जानकर अपने धर्म की शिक्षा देने के लिये अन्यदर्शनी लोग उसके पास जाते हैं। वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के निकट जाकर कहते हैं कि - हे राजन् ! मेरा ही धर्म सब कल्याणों का कारणरूप सत्यधर्म है दूसरे सब अनर्थ हैं। इस प्रकार वे अपना सिद्धान्त सुना कर उस धर्मश्रद्धालु राजा आदि को अपने धर्म में दृढ़ करते हैं। इन अन्यतीर्थियों में पहला तज्जीवतच्छरीरवादी है । यह शरीर से भिन्न आत्मा को नहीं मानता है । इसका सिद्धान्त है कि- शरीर ही आत्मा है। पादतल से ऊपर और केशाग्र मस्तक से नीचे तथा तिरच्छा चमड़े तक का जो शरीर है वही जीव है अतः जिसने शरीर को प्राप्त किया है उसने जीव को भी प्राप्त किया है अतः शरीर से जुदा आत्मा को मान कर उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के दुःखों को सहन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सब लोग यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि- जब तक यह पांच भूतों का बना हुआ शरीर जीता रहता है तभी तक यह जीव भी जीता रहता है परन्तु शरीर के नष्ट होने पर उसके साथ ही जीव भी नष्ट हो जाता है। मरने के पश्चात् उस मृत व्यक्ति को जलाने के लिए जो लोग श्मशान में ले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं वे भी उसे जला कर अकेले ही घर पर चले आते हैं उनके साथ कोई जीव नामक पदार्थ नहीं आता है तथा उस जीव नामक पदार्थ को शरीर छोड़ कर अलग जाता हुआ कोई नहीं देखता है। श्मशान में तो केवल जली हुई उस शरीर की हड्डियाँ रह जाती हैं, उनके सिवाय कोई दूसरा विकार भी वहाँ नहीं देखा जाता जिसको जीव का विकार कहा जाय । अतः आत्मा शरीर स्वरूप ही है शरीर से अतिरिक्त नहीं है यही ज्ञान यथार्थ और सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है जो लोग शरीर को दूसरा और आत्मा को दूसरा बताते हैं वे वस्तु तत्त्व को नहीं जानते हैं । जो वस्तु जगत् में होती है वह किसी वस्तु से बड़ी और किसी से छोटी अवश्य होती है तथा उसकी अवयव रचना भी किसी प्रकार की होती ही है एवं वह काली नीली पीली या सफेद आदि ही होती है तथा उसमें सुगन्ध दुर्गन्ध और मृदु या कठिन स्पर्श तथा मधुरादि रसों में कोई एक रस अवश्य रहता है परन्तु इनसे रहित कोई भी वस्तु नहीं होती । अतः आत्मा शरीर से भिन्न यदि होता तो वह अवश्य शरीर से बड़ा या छोटा होता तथा उसकी अवयव रचना भी किसी प्रकार की अवश्य होती एवं उसमें कृष्णादि वर्णों में से कोई वर्ण तथा मधुरादि रसों में से कोई रस और गन्ध तथा स्पर्श भी अवश्य होते परन्तु ये सब आत्मा में पाये नहीं जाते हैं अतः शरीर से भिन्न आत्मा के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है । जो वस्तु जिससे भिन्न होती है वह उससे अलग कर के दिखायी भी जा सकती है जैसे तलवार म्यान से भिन्न है इसलिए वह म्यान से बाहर निकाल कर दिखायी जाती है तथा मुञ्ज से सलाई, हथेली से आँवला, मांस से हड्डी, तिल से तेल, ईख से रस, अरणि से अग्नि बाहर निकाल कर दिखाये जाते हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को अलग अलग करके दिखलाना शक्य है परन्तु जो वस्तु जिससे भिन्न नहीं किन्तु तत्स्वरूप ही है उससे अलग करके उसको दिखलाना शक्य नहीं है, यही कारण है कि शरीर से जुदा कर के आत्मा को कोई नहीं दिखा सकता क्योंकि वह शरीर स्वरूप ही है उससे भिन्न नहीं है । यदि वह शरीर से भिन्न होता तो म्यान से तलवार, मुंज से सलाई, हथेली से आँवला, दही से घृत, ईख से रस, तिल से तैल और अरणि से आग की तरह शरीर से बाहर निकाल कर अवश्य दिखाया जा सकता था परन्तु वह शरीर से जुदा दिखाने योग्य नहीं है अतः वह शरीर से भिन्न नहीं है यह सिद्धान्त ही युक्ति युक्त समझना चाहिये ।

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मान कर शरीर के साथ ही आत्मा का नाश स्वीकार करने वाले नास्तिकगण शुभ क्रिया अशुभ क्रिया, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, मोक्ष एवं पुण्य-पाप के फल, सुख दुःख को नहीं मानते हैं । वे कहते हैं कि जब तक यह शरीर है तभी तक यह जीव भी है इसलिये खूब मौज मजा करना चाहिये तथा नरक आदि से डरना मूर्खता है । जिस किसी प्रकार भी विषय भोग को प्राप्त करना ही बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है यही नास्तिकों का सिद्धान्त है ।

वस्तुतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं । पशु पक्षी आदि भी पहले समझ लेते हैं कि यह वस्तु ऐसी है, उसके पश्चात् वे प्रवृत्ति करते हैं अतः सभी चेतन प्राणी अपने अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं इसमें किसी का भी मतभेद नहीं है। इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक प्राणियों के द्वारा अनुभव किया जाने वाला वह ज्ञान, गुण है और अमूर्त्त है उस अमूर्त्त ज्ञान गुण का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिये क्योंकि गुणी के बिना गुण का रहना संभव नहीं है। यद्यपि ज्ञान रूप गुण का आश्रय शरीर है यह नास्तिक गण बतलाते हैं तथापि उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि शरीर मूर्त्त है और ज्ञान अमूर्त्त है, मूर्त्त का गुण मूर्त्त ही होता है अमूर्त्त नहीं होता है इसलिये अमूर्त्त ज्ञान, मूर्त्त शरीर का गुण नहीं हो सकता है। अतः अमूर्त्त ज्ञान रूप गुण का आश्रय अमूर्त्त आत्मा को माने बिना काम नहीं चल सकता है। इस प्रकार ज्ञान गुण के आश्रय आत्मा की सिद्धि होने पर भी नास्तिक जो आत्मा को शरीर से पृथक् नहीं मानते हैं यह उनका दुराग्रह है। यदि आत्मा शरीर से भिन्न न हो तो किसी भी प्राणी का मरण नहीं हो सकता है क्योंकि शरीर तो मरने पर भी बना ही रहता है फिर तो किसी का मरण होना ही नहीं चाहिये। यद्यपि नास्तिक शरीर से भिन्न आत्मा का खण्डन करने के लिये उसमें वर्ण, गन्ध, रस, अवयव रचना आदि का अभाव दिखलाते हैं और इस अभाव को दिखा कर आत्मा के सद्भाव का खण्डन करते हैं परन्तु वे यह नहीं समझते हैं कि, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और अवयव रचना आदि गुण मूर्त्त पदार्थ के होते हैं अमूर्त्त के नहीं होते । आत्मा तो अमूर्त्त है फिर उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और अवयव रचना आदि गुण हो ही कैसे सकते हैं ? तथा इनके न होने से अमूर्त्त आत्मा के अस्तित्व का खण्डन कैसे किया जा सकता है ? हम नास्तिक से पूछते हैं कि – वह अपने ज्ञान के अस्तित्व का अनुभव करता है या नहीं ? यदि नहीं करता है तो उसकी नास्तिकवाद के समर्थन आदि में प्रवृत्ति कैसे होती है ? और यदि वह अनुभव करता है तो उसमें वह कौनसा वर्ण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श तथा अवयव रचना को प्राप्त करता है ? यदि उस ज्ञान में वर्ण आदि की उपलब्धि न होने पर भी नास्तिक उसका सद्भाव मानता है तो फिर आत्मा को न मानने का क्या कारण है ? नास्तिक कहते हैं कि – "जो वस्तु जिससे भिन्न होती है वह उससे अलग करके दिखायी जा सकती है जैसे म्यान से बाहर निकाल कर तलवार दिखायी जाती है" इत्यादि परन्तु यह भी इनका कथन असंगत है क्योंकि – तलवार आदि तो मूर्त्त पदार्थ हैं वे दिखाये जाने योग्य हैं अतः वे दूसरी वस्तु से बाहर निकाल कर दिखाये जा सकते हैं परन्तु जो अमूर्त्त होने के कारण दिखाने योग्य नहीं है उसको कोई कैसे दिखा सकता है ? नास्तिक अपने ज्ञान को क्यों नहीं दिखा देता ? वह अपने ज्ञान को समझाने के लिये शब्द का प्रयोग क्यों करता है ? जैसे हथेली में स्थित आँवले को बताने के लिये शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है किन्तु सीधे ही दर्शक को वह दिखा दिया जाता है इसी तरह नास्तिक अपने ज्ञान को क्यों नहीं दिखा देते ? यदि वे कहें कि – अमूर्त्त होने के कारण ज्ञान नहीं दिखाया जा सकता है तो यही उत्तर आत्मा के न दिखाये जाने के पक्ष में भी क्यों न समझा जावें।

ये नास्तिक, लोकायतिक कहलाते हैं इनके मत में कोई दीक्षा नहीं होती है लेकिन ये पहले शाक्य मत के अनुसार दीक्षा धारण करते हैं और पीछे लोकायतिक मत के ग्रन्थों को पढ़कर ये लोकायतिक बन जाते हैं । ये लोकायतिक मत को ही सत्य मानते हुए परलोक आदि का खण्डन करते हैं और जिस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी प्रकार विषय भोग की प्राप्ति को ही पुरुष का परम कर्त्तव्य बताते हैं । विषय प्रेमी जीवों को इनका मत बड़ा ही आनन्द दायक प्रतीत होता है क्योंकि इसमें पाप, परलोक और नरकादि का भय नहीं है और विषयभोग की इच्छानुसार आज्ञा है। वे विषयप्रेमी जीव इनके मत को बड़े आदर के साथ ग्रहण करके कहते हैं कि हे महानुभाव ! आपने मुझको बहुत उत्तम और आनन्ददायक धर्म का उपदेश किया है वस्तुतः यही धर्म सत्य है दूसरे सब धर्म धूर्तों ने अपने स्वार्थ साधन के लिये रचे हैं । आपने इस सत्य धर्म को सुना कर मेरा बड़ा ही उपकार किया है इसलिये हम आपको सब प्रकार की विषयभोग की सामग्री अर्पण करते हैं आप उन्हें स्वीकार करें । यह कह कर नास्तिकों के शिष्य उनको नाना प्रकार की विषयभोग की सामग्री अर्पण करते हैं और वे उस सामग्री को प्राप्त करके भोग भोगने में अत्यन्त प्रवृत्त हो जाते हैं । जिस समय ये नास्तिक शाक्य मत के अनुसार दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय तो वे प्रतिज्ञा करते हैं कि - "हम धन धान्य तथा स्त्री पुत्र आदि से रहित होकर दूसरे के द्वारा दिये हुए भिक्षान्न मात्र से अपना जीवन निर्वाह करते हुए सांसारिक भोगों के त्यागी बनेंगे" परन्तु इस प्रतिज्ञा को तोड़ कर ये भारी विषयलम्पट हो जाते हैं और दूसरों को भी अपने कुमन्तव्यों का उपदेश करके उनके जीवन को भी बिगाड़ देते हैं। इन लोकायतिकों का गृहस्थाश्रम भी नष्ट हो जाता है और परलोक भी बिगड़ जाता है। ये न इसी लोक के होते हैं और न परलोक के ही होते हैं किन्तु उभय भ्रष्ट होकर अपने जीवन को नष्ट करते हैं । ये लोग जब कि स्वयं अपने को संसार सागर से उद्धार नहीं कर सकते तब फिर ये अपने उपदेशों से दूसरे का कल्याण कर सकेंगे यह तो आशा ही करना व्यर्थ है । अतः पूर्वोक्त पुष्करिणी के कमल को निकालने की इच्छा से पुष्करिणी के घोर कीचड़ में फंसकर उससे अपने को उद्धार करने में असमर्थ प्रथम पुरुष इस शरीरात्मवादी को समझना चाहिये ।

विवेचन - प्रथम पुरुष पुष्करिणी के पूर्व दिशा से आया वह श्वेत कमल को पाने के लिए पुष्करिणी में उतरा और बीच में ही कीचड़ में फंसकर दुःखी बनता है उसका पूर्व किनारा भी छूट गया और कमल तक भी पहुँचा नहीं, बीच में ही कीचड़ में फंसकर दुःखी बना, इस प्रथम पुरुष की तरह तज्जीवतच्छरीरवादी को भी समझना चाहिए इसकी मान्यता है कि जो शरीर दिखाई देता है वही आत्मा है। स्वर्ग, नरक मोक्ष आदि कुछ भी नहीं है जैसा कि उनका कथन है -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् - जब तक जीवे तब तक सुख पूर्वक जीवे खूब माल ताल उड़ावे और मौजे मजा करें यदि घर में सामग्री न हो तो दूसरों से कर्ज लेकर खूब खावे पीवे और विषय-भोग सेवन करें क्योंकि जब शरीर को चिता में जला दिया जाता है तब आत्मा भी उसी के साथ जल कर भस्म हो जाता है परलोक में जाने वाला कोई आत्मा नहीं है।

यह नास्तिक मोक्ष मार्ग को पाने के लिए आतुर होता है परन्तु साधु वेश धारण करके भी सांसारिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषयभोग रूपी कीचड़ में फंस जाता है । उस समय गृहस्थाश्रम और साधु जीवन दोनों से भ्रष्ट हो जाने से वह अपना कल्याण करने में असमर्थ हो जाता है। जब स्वयं का कल्याण नहीं कर सकता है तो दूसरे का कल्याण कर ही कैसे सकता है अर्थात् नहीं कर सकता है।

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंच-महब्भूइए त्ति आहिज्जइ ।

इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववण्णा, तंजहा-आरिया वेगे, अणारिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे । तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइ पुत्ता।

तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए । तत्थ अण्णयरेणं धम्मेणं पण्णतारो-वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो, से एव-माणाणह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवइ ।

इह खलु पंचमहब्भूया, जेहिं णो विज्जइ किरिया त्ति वा, अकिरिया त्ति वा, सुक्कडे त्ति वा, दुक्कडे त्ति वा, कल्लाणे त्ति वा, पावए त्ति वा, साहुत्ति वा, असाहु त्ति वा, सिद्धि त्ति वा, असिद्धि त्ति वा, णिरए त्ति वा, अणिरए त्ति वा । अवि अंतसो तण-माय-मवि।

तं च पिहुद्देसेणं पुढो-भूत-समवायं जाणेज्जा । तं जहा-पुढवी एगे महब्भूए, आऊ दुच्चे महब्भूए, तेऊ तच्चे महब्भूए, वाऊ चउत्थे महब्भूए, आगासे पंचमे महब्भूए ।

इच्चेए पंच-महब्भूया, अणिम्मिया, अणिम्माविया अकडा, णो कित्तिमा, णो कडगा, अणाइया, अणिहणा, अवंझा, अपुरोहिया, सतंता, सासया । आयछट्ठा पुण एगे एवमाहु-सओ णत्थि विणासो, असओ णत्थि संभवो ।

एयावता व जीवकाए, एयावता व अत्थिकाए एयावता व सव्व लोए; एयं मुहं लोगस्स करणयाए; अवि अंतसो तण-माय-मवि ।

से किणं, किणावेमाणे, हणं, घायमाणे, पयं, पयावेमाणे, अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता, घायइत्ता, एत्थं पि जाणाहि णत्थित्थ दोसो । ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा-किरिया इ वा जाव अणिरए इ वा । एवं ते विरूवरूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूव-रूवाइं काम-भोगाइं समारंभंति भोयणाए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवमेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा, तं पत्तियमाणा जाव इति ते णो हव्वाए, णो पाराए, अंतरा काम-भोगेसु विसण्णा ।

दोच्चे पुरिसजाए पंच महब्भूइए त्ति आहिए ।।१०।।

कठिन शब्दार्थ - पंचमहब्भूइए - पंच महाभूतिक, **णिरवसेसं** - निरवशेष-शेष सारा वर्णन पूर्व सूत्रोक्तानुसार जानना, **भूतसमवायं** - भूत समवाय-भूत समूह को, **महब्भूए** - महाभूत, **आगासे** - आकाश, **अणिम्मिया** - अनिर्मित, **अणिम्मावित्रा** - अनिर्मापित-दूसरों के द्वारा भी निर्मित नहीं है, **कित्तिमा** - कृत्रिम, **अणिहणा** - अनिधन-नाश रहित, **अवंझा** - अवन्ध्य, **सतंता** - स्वतन्त्र, **सासया**- शाश्वत, **आयछट्ठा** - छठी आत्मा को, **सओ** - सत्, **मुहं**- मुख्य, **करणयाए** - कारण, **णत्थित्थ** - इसमें नहीं है, **विप्पडिवण्णा** - विपरीत विचार वाले ।

भावार्थ - प्रथम पुरुष के वर्णन के पश्चात् दूसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है । दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है। यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश मान कर दूसरे पदार्थों को स्वीकार नहीं करता है। संसार की समस्त क्रियायें इन पांच महाभूतों के द्वारा ही की जाती है इसलिए पञ्चमहाभूतों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है यह पाञ्चमहाभूतिकों की मान्यता है। यद्यपि सांख्यवादी पूर्वोक्त पाँच महाभूत तथा छठी आत्मा को भी मानता है तथापि वह भी पाञ्चमहाभूतिक से भिन्न नहीं है क्योंकि वह आत्मा को निष्क्रिय मानकर पाँच महाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही समस्त कार्यों का कर्त्ता मानता है। अतः आत्मा को स्वीकार न करने वाले नास्तिक और आत्मा को क्रिया रहित मानने वाले सांख्यवादी दोनों ही पाञ्चमहाभूतिक समझने योग्य हैं। नास्तिक कहते हैं कि - पृथ्वी आदि पाँच महाभूत सदा विद्यमान रहते हैं इनका नाश कभी नहीं होता है तथा ये सबसे बड़े होने के कारण महाभूत कहलाते हैं। आना, जाना, उठना, बैठना, सोना, जागना आदि समस्त क्रियायें इनके द्वारा ही की जाती हैं। किसी दूसरे काल, ईश्वर अथवा आत्मा आदि के द्वारा नहीं, क्योंकि काल, ईश्वर तथा आत्मा आदि पदार्थ मिथ्या हैं इनकी कल्पना करना व्यर्थ है एवं स्वर्ग नरक आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना भी मिथ्या है। वस्तुतः इसी जगह जो उत्तम सुख भोगा जाता है वह स्वर्ग है तथा भयंकर रोग शोक आदि पीड़ायें भोगना नरक है इनसे भिन्न स्वर्ग या नरक कोई लोक विशेष नहीं है अतः स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की तपस्याओं के अनुष्ठान से शरीर को क्लेश देना तथा नरक के भय से इस लोक के सुख को त्याग करना अज्ञान है । शरीर में जो चैतन्य अनुभव किया जाता है वह शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों का ही गुण है किसी अप्रत्यक्ष आत्मा का नहीं । शरीर के नाश होने पर उस चैतन्य का भी नाश हो जाता है अतः नरक या तिर्यञ्च योनि में जन्म लेकर कष्ट भोगने का भय करना अज्ञान है, यह पंचमहाभूतवादी नास्तिकों का मन्तव्य है ।

अब सांख्यमत बताया जाता है - सांख्यवादी कहता है कि-सत्त्व, रज और तम ये तीन पदार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार के मूल कारण हैं इन तीन पदार्थों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं। वह प्रकृति ही समस्त विश्व की आत्मा है और वही सब कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि पुरुष या जीव नामक एक चेतन पदार्थ भी अवश्य है तथापि वह आकाशवत् व्यापक होने के कारण क्रिया रहित है। वह प्रकृति के द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगता है और बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों का प्रकाश करता है । इन दो कार्यों से भिन्न कोई कार्य वह पुरुष या जीव नहीं करता है। जिस बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को वह पुरुष या जीव प्रकाशित करता है वह बुद्धि भी प्रकृति से भिन्न नहीं किन्तु उसी का कार्य है अतएव वह त्रिगुणात्मिका है । अर्थात् वह बुद्धि भी तीन सूतों से बनी हुई रस्सी के समान सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से ही बनी हुई है । सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों का सदा उपचय और अपचय होता रहता है, इसलिए ये तीनों गुण कभी स्थिर नहीं रहते। जब सत्त्व गुण की वृद्धि होती है तब मनुष्य शुभ कृत्य करता है और जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब पाप और पुण्य दोनों से मिश्रित कार्य किये जाते हैं एवं तमोगुण के उपचय होने पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि एकान्त पापमय कार्य किए जाते हैं। इस प्रकार जगत् के समस्त कार्य सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के उपचय और अपचय के द्वारा ही किये जाते हैं निष्क्रिय आत्मा के द्वारा नहीं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप पाँच महाभूत, सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के द्वारा ही उत्पन्न हैं अतः प्रकृति ही सबकी अधिष्ठात्री और आत्मा है । प्रकृति से पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार समझना चाहिये-सत्त्व, रज और तम इन तीन पदार्थों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं उस प्रकृति से बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है और उस बुद्धि तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, अहङ्कार से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँच तन्मात्राओं (सूक्ष्मभूतों) की उत्पत्ति होती है, उक्त पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पाँच महाभूत और ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन उत्पन्न होता है। ये सब मिलकर २४ पदार्थ होते हैं। ये ही समस्त विश्व के परिचालक हैं। यद्यपि पच्चीसवाँ पुरुष भी एक पदार्थ है तथापि वह भोग और बुद्धि से गृहीत पदार्थ के प्रकाश करने के सिवाय और कुछ नहीं करता है। अतः प्रकृति से समस्त कार्य होते हैं यह सांख्यवादी का सिद्धान्त हैं। इनके मत में पुण्य पाप आदि सभी क्रियायें प्रकृति करती है इसलिए भारी से भारी पाप करने पर भी आत्मा को उसका लेप नहीं होता है किन्तु वह निर्मल बना रहता है। एकेन्द्रिय प्राणियों की तो बात ही क्या है ? यदि पंचेन्द्रिय प्राणी को भी कोई खरीदे, घात करे, उसका मांस पकावे, तो भी उसका आत्मा पाप से अलिप्त ही रहता है। यह संक्षेपतः सांख्यमत कहा गया है ।

वस्तुतः विचारवान् पुरुष की दृष्टि में यह मत बिल्कुल निःसार और युक्तिरहित है क्योंकि सांख्यवादी, पुरुष को चेतन और प्रकृति को अचेतन तथा नित्य कहता है, ऐसी दशा में अचेतन और नित्य प्रकृति इस विश्व को किस प्रकार उत्पन्न कर सकती है ? क्योंकि वह ज्ञानरहित जड़ है तथा जो वस्तु असत् है (है ही नहीं) वह कभी नहीं होती और जो सत् है उसका अभाव नहीं होता यह भी सांख्य मानता है अतः जिस समय प्रकृति और पुरुष दो ही थे उस समय यह विश्व तो था ही नहीं फिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? यह सांख्यवादी को सोचना चाहिये तथा यह बिचारा आत्मा तो पाप पुण्य कुछ करता ही नहीं फिर इसे दुःख सुख क्यों भोगने पड़ते हैं ? प्रकृति ने पाप पुण्य किये हैं इसलिए उचित तो यह है कि उनका फल प्रकृति ही भोगे । प्रकृति के पाप पुण्य का फल यदि पुरुष भोगता है तो देवदत्त के पाप पुण्य का फल यज्ञदत्त क्यों नहीं भोगता है ? अतः दूसरे के कर्म का फल दूसरा भोगे यह कदापि सम्भव नहीं है तथा केवल जड़ से विश्व की उत्पत्ति मानना भी असंगत है। इसी तरह लोकायतिकों (नास्तिकों) ने जो विश्व का कर्त्ता पाँच महाभूतों को माना है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पाँच महाभूत जड़ हैं, चेतन नहीं हैं। फिर वे जगत् के कर्त्ता कैसे हो सकते हैं ? यदि कहो कि-शरीर के आकार में परिणत पाँच महाभूत चेतन हैं तो यह भी असंगत हैं, क्योंकि इनका अधिष्ठाता जब तक कोई चेतन पदार्थ न माना जाय तब तक शरीर के आकार में इनका परिणाम होना ही असम्भव है। बिना कारण परिणाम नहीं हो सकता है अतः शरीर के आकार में पाँच भूतों के परिणाम का कारण आत्मा को मानना ही युक्तियुक्त है । अतः पूर्वोक्त सांख्य तथा नास्तिक दोनों के मत युक्तिरहित हैं । यद्यपि सांख्य और नास्तिकों का सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है तथापि ये लोग अपने मतों को सत्य समझते हुए दूसरों को भी अपने मत का उपदेश देते हैं। इनके शिष्य इनके धर्म को सत्य मान कर अपने को कृतार्थ समझते हैं और इनके भोगार्थ नाना प्रकार की विषय भोग की सामग्री इन्हें अर्पण करते हैं। विषय भोग की सामग्री को पाकर ये लोग सांसारिक सुख भोग में इस प्रकार आसक्त हो जाते हैं जैसे महान् कीचड़ में हाथी फँस जाता है । ये लोग इस लोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ये न तो स्वयं संसार सागर को पार कर सकते हैं और न दूसरों को पार करवा सकते हैं किन्तु विषय भोगरूपी कीचड़ में फंसकर ये सदा संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं । यह दूसरे पुरुष का वृत्तान्त है। इसके पश्चात् अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है ।। १० ॥

विवेचन - पाञ्चमहाभूतिक की मान्यता है कि सारा संसार तथा संसार की सारी क्रियाएँ, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश आदि पांच महाभूतों के ही कारण है। ये महाभूत अनादि, अनन्त, अकृत, अनिर्मित, अकृत्रिम, अप्रेरित और स्वतन्त्र हैं। इनको काल, ईश्वर, आत्मा आदि कोई भी प्रेरित नहीं करता है। किन्तु ये स्वयं समस्त क्रियाएँ करते हैं। इसलिये क्रिया, अक्रिया, पुण्य पाप, स्वर्ग, नरक, आत्मा परमात्मा आदि वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। यह लोकायतिकों (नास्तिकों) का मत है।

सांख्य मत के अनुसार पांच महाभूतों के अतिरिक्त छठा आत्मा भी है परन्तु वह निष्क्रिय है, अकर्त्ता है, कोई क्रिया नहीं करता है इसलिये अच्छा या बुरा फल उसे नहीं मिलता है। अतः दोनों ही प्रकार के पांच महाभूतवादियों के मतानुसार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन आदि में कोई दोष नहीं है। ऐसा मानकर वे निःसंकोच स्वयं सावद्य कार्यों में एवं काम भोगों में प्रवृत्त होते रहते हैं। फिर उन्होंने जिन राजा-महाराजा आदि धर्म श्रद्धालुओं को पक्के भगत बनाए हैं वे भी विविध प्रकार से उनकी पूजा प्रतिष्ठा करके उनके लिये विषय भोगों की सामग्री जुटाते रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार वे इस लोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। वे संसार समुद्र को पार नहीं कर सकते हैं। अध बीच में ही काम-भोगों के कीचड़ में फंस जाते हैं। अतः श्वेत कमल के समान निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार जब वे संसार सागर से अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर सकते हैं, तो दूसरों का तो कर ही कैसे सकते हैं। अर्थात् नहीं कर सकते हैं।। १० ॥

अहावरे तच्चे पुरिस-जाए ईसर-कारणिए त्ति आहिज्जइ।

इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववण्णा । तं जहा-आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ जाव सेणावइ-पुत्ता ।

तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, जाव जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवइ ।

इह खलु धम्मा पुरिसादिया, पुरिसोत्तरिया, पुरिसप्पणीया, पुरिस-संभूया, पुरिस-पज्जोइया, पुरिस-मभिसमण्णागया, पुरिस-मेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहा णामए गंडे सिया, सरीरे जाए, सरीरे संवुड्ढे, सरीरे अभिसमण्णागए, सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा णामए अरई सिया, सरीरे जाया, सरीरे संवुड्ढा, सरीरे अभिसमण्णागया, सरीर-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहा णामए वम्मिए सिया, पुढवी-जाए, पुढवी-संवुड्ढे, पुढवी-अभिसमण्णागए पुढवी-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा णामए रुक्खे सिया पुढवीजाए, पुढवी-संवुड्ढे, पुढवी-अभिसमण्णागए पुढवीमेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहा णामए पुक्खरिणी सिया पुढवीजाया जाव पुढवी-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहा णामए उदग-पुक्खले सिया, उदग-जाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहा णामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदग-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उदिट्ठं पणीयं वियंजियं दुवालसंगं गणि-पिडगं, तं जहा -

आयारो, सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ, सव्वमेयं मिच्छा, ण एयं तहियं, ण एयं आहा-तहियं । इमं सच्चं, इमं तहियं, इमं आहातहियं । ते एवं सण्णं कुव्वंति, ते एवं सण्णं संठवेंति, ते एवं सण्णं सोवट्ठ-वयंति; तमेव ते तज्जाइयं दुक्खं णाइउट्टंति, सउणी पंजरं जहा ।

ते णो एवं विप्पडिवेदेंति तं जहा-किरिया इ वा, जाव अणिरए इ वा; एवमेव ते विरूव-रूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूव-रूवाइं काम-भोगाइं समारभंति भोयणाए । एवमेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा एवं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए, णो पाराए, अंतरा काम भोगेसु विसण्णे त्ति ।

तच्चे पुरिसजाए ईसर-कारणिए त्ति आहिए ।।११।।

कठिन शब्दार्थ - ईसरकारणिए - ईश्वर कारणिक, **पुरिसादिया** - पुरुषादिक-पुरुष (ईश्वर) कारण है, **पुरिसोत्तरिया**- पुरुषोत्तरा-ईश्वर कार्य है, **पुरिसपण्णीया** - पुरुष प्रणीत-ईश्वर द्वारा रचित, **पुरिससंभूया**- पुरुषसम्भूत-ईश्वर से उत्पन्न, **पुरिसपज्जोइया** - पुरुष प्रद्योतित-ईश्वर से प्रकाशित, **पुरिसमभिस-मण्णागया**- पुरुष अभिसमन्वागत-ईश्वर के अनुगामी, **अभिभूय** - व्याप्त **गंडे** - गंड (फोड़ा) **अरई**- अरति, **वम्मिए** - वल्मीक, **उदग पुक्खले** - उदग पुष्कर, **उदग बुब्बुए** - पानी का बुदबुद, **उद्दिट्ठं** - उद्दिष्ट-कहा हुआ, **पणीयं** - प्रणीत (बनाया हुआ), **वियंजियं** - व्यंजित (प्रकट किया हुआ) **गणिपिडगं** - गणिपिटक, **तहियं** - तथ्य, **आहातहियं** - यथा तथ्य-यथार्थ, **सण्णं** - संज्ञा (मत), **संठवेंति** - शिक्षा देते हैं, **सोवट्ठवयंति**- स्थापना करते हैं, **सउणी**- शकुनी-पक्षी, **पंजरं**-पिंजरे को, **णाइउट्टंति** - तोड़ नहीं सकते हैं।

भावार्थ - अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है । यह तीसरा पुरुष, चेतन और अचेतन स्वरूप इस समस्त संसार का कर्त्ता ईश्वर नामक एक पदार्थ मानता है। इसका कहना यह है कि जो पदार्थ किसी विशेष अवयव रचना से युक्त होता है वह किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा बनाया हुआ होता है। जैसे घट (घड़ा) विशेष अवयव रचना से युक्त होता है इसलिये वह कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ होता है तथा पट (कपड़ा) भी जुलाहे (बुनकर) के द्वारा बनाया हुआ होता है। इसी तरह प्राणियों का शरीर तथा यह समस्त भुवन (संसार), विशेष अवयव रचना से युक्त है अतः यह भी किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा बनाया हुआ है। जिस बुद्धिमान् कर्त्ता ने इनको उत्पन्न किया है वह हम लोगों के समान अल्पशक्ति तथा अल्पज्ञ नहीं हो सकता है किन्तु वह सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ पुरुष है वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर या परमात्मा कहलाता है उस ईश्वर की कृपा से जीव स्वर्ग भोगता है और उसके कोप से नरक भोगता है। जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला है वह अपनी इच्छा से सुख नहीं प्राप्त कर सकता तथा अपने दुःख को भी दूर नहीं कर सकता है किन्तु ईश्वर की आज्ञा से उसे सुख दुःख की प्राप्ति होती है इस प्रकार ईश्वर की कल्पना करने वाले कहते हैं –

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽय, मात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

अर्थात् – इस अज्ञानी जीव में यह शक्ति नहीं है कि यह सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार स्वयं कर सके किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग या नरक में जाता है । इस प्रकार ईश्वरवादी जैसे समस्त जगत् का कारण ईश्वर को मानता है इसी तरह आत्माद्वैतवादी एक आत्मा को समस्त विश्व का कारण कहता है । जैसा कि –

"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"

अर्थात् – एक ही आत्मा समस्त प्राणियों में स्थित है । वह एक होता हुआ भी जल में चन्द्रमा के समान भिन्न भिन्न प्रतीत होता है । तथा –

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"

अर्थात् – इस जगत् में जो हो चुका है और जो होने वाला है वह सब आत्मा ही है । जैसे मिट्टी के द्वारा बने हुए सभी पात्र मृण्मय (मिट्टी रूप) हैं तथा तन्तु (डोरा) के द्वारा बने हुए सभी वस्त्र तन्तुमय है इसी तरह समस्त विश्व आत्मा के द्वारा निर्मित होने के कारण आत्ममय (आत्म स्वरूप) है। समस्त पदार्थ आत्मा के द्वारा निर्मित होने के कारण आत्मा में ही निवास करते हैं। वे उससे अलग नहीं किये जा सकते हैं, जैसे शरीर में उत्पन्न फोड़ा शरीर में ही स्थित रहता है तथा मन में उत्पन्न दुःख मन में ही विद्यमान रहता है तथा पृथिवी से उत्पन्न वल्मीक (उदई का ढेर) पृथिवी पर ही रहता है एवं जल से उत्पन्न बुद्बुद जल में ही रहता है परन्तु शरीर को छोड़कर फोड़ा, मन को छोड़ कर दुःख, पृथिवी को छोड़ कर वल्मीक और जल को छोड़ कर बुद्बुद अलग नहीं रह सकता है। इसी तरह समस्त पदार्थ आत्मा को छोड़ कर अलग नहीं रह सकते हैं किन्तु वे आत्मा में ही वृद्धि (बढोतरी) और ह्रास (हानि) आदि को प्राप्त करते रहते हैं यह आत्माद्वैतवादी का सिद्धान्त है। ईश्वर कारणवादी और आत्माऽद्वैतवादी ये दोनों ही तीसरे पुरुष में ग्रहण किये गये हैं। ये दोनों ही कहते हैं कि – आचाराङ्ग आदि जो श्रमण निर्ग्रन्थों का द्वादशाङ्ग शास्त्र है वह मिथ्या है क्योंकि वह ईश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं है किन्तु किसी साधारण व्यक्ति के द्वारा निर्मित और विपरीत अर्थ का बोधक है। इस प्रकार आर्हत् दर्शन की निन्दा करने वाले ईश्वरकारणवादी और आत्माद्वैतवादी अपने अपने मतों में अत्यन्त आग्रह रखते हुए अपने सिद्धान्तों की शिक्षा शिष्यों को देते हैं तथा द्रव्योपार्जनार्थ नाना प्रकार के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सावद्य कर्मों का सेवन करके पाप का सञ्चय करते हैं। वे विषयभोग में अत्यन्त आसक्त तथा दाम्भिक (दम्भ-ढोंग करने वाले) होते हैं । इस कारण ये न तो इसी लोक के होते हैं और न परलोक के ही होते हैं किन्तु मध्य में ही कामभोग में आसक्त होकर कष्ट पाते हैं ।

ये जो ईश्वर या आत्मा को जगत् का कर्त्ता मानते हैं वह सर्वथा मिथ्या है क्योंकि - वह ईश्वर अपनी इच्छा से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है अथवा किसी दूसरे की प्रेरणा से करता है ? यदि वह अपनी इच्छा से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है तो प्राणी अपनी इच्छा से ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं यही क्यों न मान लिया जाय ? ईश्वर प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है यह क्यों माना जावे? यदि वह ईश्वर किसी दूसरे की प्रेरणा से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है तो जिसकी प्रेरणा से वह प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है उसकी भी प्रेरणा करने वाला कोई तीसरा होना चाहिये और उस तीसरे का चौथा और चौथे का पाँचवाँ इस प्रकार इस पक्ष में अनवस्था दोष आता है । "**अप्रामाणिकानन्त पदार्थ परिकल्पनया विश्रान्त्यभावो अनवस्था**" - अर्थात् - अप्रामाणिक-प्रमाण बिना आगे से आगे पदार्थों की कल्पना करते जाने से कहीं पर भी विश्रान्ति-समाप्ति न होना अनवस्था दोष कहलाता है। अतः प्राणिवर्ग ईश्वर की प्रेरणा से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं यह पक्ष ठीक नहीं हैं ।

तथा वह ईश्वर सराग है अथवा वीतराग है ? यदि सराग है तो वह साधारण जीव के समान ही सृष्टि का कर्त्ता नहीं हो सकता है और यदि वीतराग है तो वह किसी को नरक के योग्य पाप क्रिया में और किसी को स्वर्ग तथा मोक्ष के योग्य शुभ क्रिया में क्यों प्रवृत्त करता है ? यदि कहो कि - प्राणिवर्ग अपने पूर्वकृत शुभ और अशुभ कर्म के उदय से ही शुभ तथा अशुभ क्रिया में प्रवृत्त होते हैं ईश्वर तो निमित्तमात्र है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि - पूर्वकृत शुभ और अशुभ कर्मों का उदय भी ईश्वर के ही अधीन है अतः वह प्राणियों की शुभ और अशुभ प्रवृत्ति की जिम्मेदारी से नहीं बच सकता है ।

यदि यह मान लें कि प्राणी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि - प्राणी जिस पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं वह पूर्वकृत कर्म भी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से ही हुआ था तथा वह भी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से हुआ था इस प्रकार पूर्वकृत कर्म की परम्परा अनादि सिद्ध होती है। इस प्रकार ईश्वर मानने पर भी जब पूर्वकृत कर्म की परम्परा अनादि सिद्ध होती है तथा वही प्राणी की क्रिया में प्रवृत्ति का कारण भी ठहरती है तब फिर निरर्थक ईश्वर मानने की क्या आवश्यकता है ? जिसके सम्बन्ध से जिसकी उत्पत्ति होती है वही उसका कारण माना जाता है दूसरा नहीं माना जाता। मनुष्य का घाव शस्त्र और औषधि के प्रयोग से अच्छा होता है इसलिए शस्त्र और औषधि ही घाव भरने के कारण माने जाते हैं परन्तु उस घाव के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है उस ठूंठ (सूखा हुआ वृक्ष जो पत्ते आदि से रहित है) को घाव भरने का कारण नहीं माना जाता अतः पूर्वकृत कर्म के उदय से ही प्राणियों की शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति सिद्ध होने पर उसके लिये ईश्वर मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । ईश्वरवादी जो यह कहते हैं कि -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"शरीर और भुवन (संसार), विशेष अवयव रचना से युक्त होने के कारण किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा किये हुए हैं" सो यह भी ईश्वर का साधक नहीं है क्योंकि इस अनुमान से बुद्धिमान् कर्त्ता की सिद्धि होती है, ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। जो बुद्धिमान् होता है वह ईश्वर ही होता है ऐसा नियम नहीं है अतएव घट का कर्त्ता कुम्हार और पट का कर्त्ता जुलाहा माना जाता है ईश्वर नहीं माना जाता है। यदि बुद्धिमान् कर्त्ता ईश्वर ही हो तो फिर ईश्वरवादी घट और पट का कर्त्ता भी ईश्वर को ही क्यों नहीं मानते ?

तथा विशेष अवयव रचना भी बुद्धिमान् कर्त्ता के बिना नहीं होती है यह भी नियम नहीं है क्योंकि-घट पट के समान ही वल्मीक (उदई का ढेर) भी विशेष अवयव रचना से युक्त होता है परन्तु उसका कर्त्ता कुलाल (कुम्हार) आदि के समान कोई बुद्धिमान् पुरुष नहीं होता है अतः शरीर और संसार आदि की विशेष अवयव रचना को देखकर उससे अदृष्ट ईश्वर की कल्पना करना अयुक्त है ।

इसी तरह आत्माद्वैतवाद भी युक्ति रहित है क्योंकि इस जगत् में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है तब फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना, शास्त्र पढ़ना, इत्यादि बातें निरर्थक होंगी तथा ऐसा मानने पर जगत् की विचित्रता जो प्रत्यक्ष देखी जाती है वह भी सिद्ध नहीं हो सकती है किन्तु एक के पाप से दूसरा पापी और एक की मुक्ति से दूसरे की मुक्ति तथा एक के दुःख से दूसरे को दुःखी मानना पड़ेगा परन्तु यह आत्माद्वैतवादी को भी इष्ट नहीं है अतः युक्तिरहित आत्मा द्वैतवाद को सर्वथा मिथ्या जानना चाहिये ।

उक्त रीति से ईश्वरकारणतावाद और आत्माद्वैतवाद यद्यपि मिथ्या हैं तथापि इनके अनुयायी इन मतों के फंदे से इस प्रकार मुक्त नहीं होते जैसे पक्षी अपने पिंजड़े से मुक्त नहीं होता है । ये लोग अपने मतों का उपदेश देकर दूसरे को भी भ्रष्ट करते हैं और स्वयं भी भवसागर से पार नहीं होते । ये कहते हैं कि -

"यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् !
आकाशमिव पङ्केन, नाऽसौ पापेन लिप्यते ।"

अर्थात् जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह यदि समस्त जगत् का घात करे तो भी वह पाप से इस प्रकार लिप्त नहीं होता है जैसे आकाश में कीचड़ नहीं लगता है । यह ईश्वर-कारणवादी कहा गया है । इसके आगे नियतिवादी का मत बताया जाता है ।। ११ ॥

विवेचन - आत्माद्वैतवाद का स्वरूप इस सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में बता दिया गया है तथा ईश्वर कारणवाद का मन्तव्य इस सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तीसरे उद्देशक में बता दिया गया है अतः विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिए।

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियइ-वाइए त्ति आहिज्जइ।
इह खलु पाईणं वा ६ तहेव जाव सेणावइ-पुत्ता वा । तेसिं च णं एगइए सड्ढी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवइ कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपण्णत्ते भवइ ।

इह खलु दुवे पुरिसा भवंति - एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे णो किरिय-माइक्खइ । जे य पुरिसे किरिय-माइक्खइ, जे य पुरिसे णो किरिय-माइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारण-मावण्णा ।

बाले पुण एवं विप्पडियावेएइ कारण-मावण्णे-अहमंसि दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामि वा, पीडामि वा, परितप्पामि वा, अहमेय-मकासि; परो वा, जं दुक्खइ वा, सोयइ वा, जूरइ वा, तिप्पइ वा, पीडइ वा, परितप्पइ वा, परो एव-मकासि। एवं से बाले सकारणं वा, परकारणं वा एवं विप्पडियावेएइ कारण-मावण्णे ।

मेहावी पुण एवं विप्पडियावेएइ कारण-मावण्णे-अहमंसि दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामि वा, पीडामि वा, परितप्पामि वा, णो अहं एव-मकासि। परो वा, जं दुक्खइ वा, जाव परितप्पइ वा, णो परो एव-मकासि । एवं से मेहावी सकारणं वा, परकारणं वा, एवं विप्पडियावेएइ कारणमावण्णे-से बेमि पाईणं वा, ६ जे तस-थावरा पाणा ते एवं संघाय-मागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति, ते एवं विहाण-मागच्छंति, ते एवं संगतियंति उवेहाए ।

णो एवं विप्पडिवेदेंति तंजहा-किरिया त्ति वा जाव णिरए त्ति वा अणिरए त्ति वा; एवं ते विरूव-रूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूव-रूवाइं काम-भोगाइं समारभंति भोयणाए । एवमेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए, णो पाराए, अंतरा काम-भोगेसु विसण्णा ।

चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिए ।

इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणा-पण्णा, णाणा-छंदा, णाणा-सीला, णाणा-दिट्ठी, णाणा-रुई, णाणा-रंभा, णाणा-अज्झवसाण-संजुत्ता, पहीण-पुव्व-संजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए, णो पाराए, अंतरा काम-भोगेसु विसण्णा ।। १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - णियइवाइए - नियतिवादी, कारण-मावण्णे - कारण को मान कर,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेगमागच्छंति - विवेक को प्राप्त होते हैं, **विहाणमागच्छंति** - नाना प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं, **णाणापण्णा** - भिन्न भिन्न बुद्धि वाले, **णाणाच्छंदा**- भिन्न-भिन्न अभिप्राय वाले, **णाणासीला**- नाना शील, **णाणारुई**-नाना रुचि, **णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता**-नाना अध्यवसायों से संयुक्त, **पहीण पुव्वसंजोगा** - पूर्व संयोगों को छोड़े हुए ।

भावार्थ - तीसरे पुरुष के वर्णन के पश्चात् चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है । चौथा पुरुष नियतिवादी कहलाता है । इसका कारण यह है कि - यह समस्त पदार्थों का कारण नियति को मानता है । जो बात अवश्य होने वाली है उसे नियति या होनहार कहते हैं वही सुख दुःख, हानि लाभ और जीवन मरण आदि का कारण है यह नियतिवादियों का मन्तव्य है । इनका यह पद्य इसी अर्थ को स्पष्ट करता है -

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥"

अर्थात् नियति के प्रभाव से भला या बुरा जो फल मनुष्य को प्राप्त होना निश्चित है वह अवश्य उसको प्राप्त होता है । मनुष्य चाहे कितना ही प्रयत्न करे परन्तु जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है और जो होनहार है वह बिना हुए नहीं रहता है ।

जब हम यह देखते हैं कि- बहुत से मनुष्य अपने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए समान रूप से प्रयत्न करते हैं परन्तु किसी के कार्य की सिद्धि होती है और किसी की नहीं होती है तब यह निःसन्देह मानना पड़ता है कि मनुष्य के कार्य की सिद्धि या असिद्धि नियति के हाथ में है, प्रयत्न आदि के वश नहीं है। अतः नियति को छोड़ कर काल ईश्वर तथा अपने कर्म आदि को सुख दुःख आदि का कारण मानना अज्ञान है परन्तु अज्ञानी जीव इस बात को समझते नहीं हैं उन्हें जब दुःख या सुख उत्पन्न होता है तब वे कहते हैं कि - यह दुःख या सुख मेरे द्वारा किये हुए कर्म के प्रभाव से मुझ को प्राप्त हो रहा है तथा जब दूसरे को सुख या दुःख उत्पन्न होता है उस समय भी वे यही मानते हैं कि ये दूसरे के कर्म के प्रभाव से प्राप्त हुए हैं। वस्तुतः यह मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि - सब कुछ नियति से ही प्राणी को प्राप्त होता है। कर्म, ईश्वर या काल आदि के प्रभाव से नहीं। इस कारण विवेकी नियतिवादी पुरुष सुख दुःख आदि की प्राप्ति होने पर यह मानता है कि - मैं जो सुख या दुःख को प्राप्त करता हूँ यह मेरे द्वारा किये हुए कर्मों का फल नहीं है तथा दूसरा जो सुख दुःख आदि को प्राप्त करता है वह भी उसके द्वारा किए हुए कर्मों का फल नहीं है किन्तु नियति इसका कारण है । इस जगत् में दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं, एक क्रियावादी और दूसरा अक्रियावादी। ये दोनों ही नियति के अधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं है। अतः नियति की प्रेरणा से क्रियावादी क्रिया का समर्थन करता है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अक्रियावादी अक्रिया का प्रतिपादन करता है। नियति के अधीन होने के कारण हम दोनों को समान ही समझते हैं । इस जगत् में ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसको अपना आत्मा अप्रिय हो, ऐसी दशा में कोई भी जीव आत्मा को कष्ट देने वाली क्रिया में किस तरह प्रवृत्त हो सकता है ? अतः यह मानना पड़ता है कि जीव स्वाधीन नहीं है वह नियति के वशीभूत है। अतएव अपनी इच्छा न होने पर भी नियति की प्रेरणा से जीव को दुःखजनक क्रिया में प्रवृत्ति करनी पड़ती है एवं शुभ अनुष्ठान करने वाले भी दुःखी और अशुभ कर्म करने वाले भी सुखी देखे जाते हैं इससे भी नियति की प्रबलता सिद्ध होती है ।

इस प्रकार एक नियति को समस्त कार्यों का कारण मान कर नियतिवादी परलोक का भय नहीं करते हैं । वे अपने भोग के लिये बुरे से बुरे कार्य करने में भी संकोच नहीं करते हैं । वस्तुतः यह नियतिवाद युक्तिसंगत न होने के कारण मानने योग्य नहीं है । इस मत की अयौक्तिकता इस प्रकार समझनी चाहिये-जो वस्तु को उनके स्वभावों में नियत करती है उसे नियति कहते हैं। वह यदि अपने अपने स्वभावों में वस्तुओं को नियत करने के लिये मानी जाती है तो फिर नियति को नियति के स्वभाव में नियत रखने के लिये उस नियति से भिन्न एक दूसरी नियति और माननी चाहिये अन्यथा वह नियति दूसरी नियति की सहायता के बिना अपने स्वभाव में किस तरह नियत रह सकती है ? यदि कहो कि नियति अपने स्वभाव में अपने आप ही नियत रहती है इसीलिये दूसरी नियति की आवश्यकता नहीं है तो इसी तरह यह भी समझो कि - सभी पदार्थ अपने अपने स्वभाव में स्वयमेव नियत रहते हैं इसलिये उन्हें अपने स्वभाव में नियत करने के लिये नियति नामक एक दूसरे पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है ।

नियतिवादी ने जो यह कहा है कि - "क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियति के वशीभूत होकर क्रियावाद और अक्रियावाद का समर्थन करते हैं इसलिये ये दोनों ही समान हैं" यह कथन सर्वथा असंगत है क्योंकि क्रियावादी क्रियावाद का समर्थन करता है और अक्रियावादी अक्रियावाद का निरूपण करता है इसलिये इनकी भिन्नता स्पष्ट होने से किसी प्रकार भी तुल्यता नहीं है। यदि कहो कि-ये दोनों नियति के वशीभूत होने के कारण तुल्य हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नियति की सिद्धि किए बिना इन दोनों पुरुषों का नियति के वश में होना सिद्ध नहीं होता और नियति की सिद्धि पूर्वोक्त रीति से होना सम्भव नहीं है अतः क्रियावादी और अक्रियावादी को नियति के अधीन कहना असङ्गत समझना चाहिये ।

प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल नहीं भोगता है यह कथन तो सर्वथा असंगत हैं क्योंकि - ऐसा होने पर तो जगत् की विचित्रता हो ही नहीं सकती। प्राणिवर्ग अपने अपने कर्मों की भिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं परन्तु कर्मों का फल न मानने पर यह नहीं हो सकता है। नियति भी नियत स्वभाव वाली होने के कारण विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकती है। यदि वह विचित्र जगत् की उत्पत्ति करे तो वह विचित्र स्वभाववाली सिद्ध होगी एक स्वभाववाली नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती ऐसी दशा में तो नाम मात्र का ही भेद होगा क्योंकि - हम जिसे कर्म कहते हैं उसे तुम नियति कहते हो परन्तु पदार्थ में कोई भेद नहीं रहता । विद्वानों ने कहा है कि -

"यदिह क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फलं शाखासु जायते" ।। १ ।।
"यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभमशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या ।
तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि" ।। २ ।।

अर्थात् - वृक्ष का मूल सींचने से जैसे शाखा में फल उत्पन्न होता है इसी तरह इस जन्म में किये हुए कर्म का फल दूसरे जन्म में प्राप्त होता है ।। १ ।।

मनुष्य ने पूर्व जन्म में अपने कर्म के परिणाम से जो शुभ या अशुभ कर्म सञ्चय किया है उसे देवता और असुर कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है ।। २।।

अतः कर्म को न मानना और नियति को सब का कारण कहना मिथ्या है । यद्यपि नियतिवाद तथा पूर्वोक्त ईश्वरकर्तृत्ववाद, आत्माऽद्वैतवाद पञ्चभूतवाद और शरीरात्मवाद मिथ्या है तथापि प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी इनमें आसक्त होते हैं । वे इस लोक से भ्रष्ट तथा परलोक से भी भ्रष्ट होकर अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहते हैं। ये पुरुष विषयरूपी कीचड़ में फंस कर स्वयं कष्ट भोगते हैं और दूसरे को भी दुःखी बनाते हैं। अतः ये चारों ही पुरुष उत्तम श्वेत कमल के समान राजा आदि को पुष्करिणी रूपी भवसागर से उद्धार करने में समर्थ नहीं होते हैं ।। १२।।

विवेचन - एकान्त नियतिवादी अपने शुभाशुभ कर्मों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेकर नियति पर (होनहार) पर डाल देता है। इसके कारण वह पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि परलोक सुकृत, दुष्कृत, शुभ अशुभ आदि का विचार छोड़कर निःसंकोच पाप कार्यों में एवं कामभोगों में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार नियतिवादी इस लोक और परलोक से भ्रष्ट हो जाता है जबकि कर्म को मानने वाला पुरुषार्थी अशुभ कर्मों से तो दूर रहता है तथा पूर्व कृत अशुभ कर्मों का क्षय करने का पुरुषार्थ करता है और एक दिन सर्वकर्म क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

से बेमि पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति तं जहा- आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे ।

तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति तं जहा-अप्पयरो वा भुज्जयरो वा। तेसिं च णं जण-जाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा-अप्पयरा वा, भुज्जयरा वा । तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिया । सओ वा वि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असओ वा वि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया । [जे ते सओ वा असओ वा णायओ वा अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया]

पुव्वमेव तेहिं णायं भवइ, तं जहा-इह खलु पुरिसे अण्ण-मण्णं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेएइ, तं जहा-खेत्तं मे, वत्थू मे, हिरण्णं मे, सुवण्णं मे, धणं मे, धण्णं मे, कंसं मे, दूसं मे, विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संखसिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतेयं मे, सद्दा मे, रूवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे, एए खलु मे कामभोगा, अहमवि एएसिं; से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तं जहा-इह खलु मम अण्णयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा-अणिट्ठे, अकंते, अप्पिए, असुभे, अमणुण्णे, अमणामे, दुक्खे णो सुहे; से हंता भयंतारो, काम भोगाइं मम अण्णयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह, अणिट्ठं, अकंतं, अप्पियं, असुभं, अमणुण्णं, अमणामं, दुक्खं णो सुहं; ताऽहं दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामि वा, पीडामि वा, परितप्पामि वा इमाओ मे अण्णयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ पडिमोयह, अणिट्ठाओ, अकंताओ, अप्पियाओ, असुभाओ, अमणुण्णाओ, अमणामाओ, दुक्खाओ णो सुहाओ-एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ । इह खलु काम-भोगा णो ताणाए वा, णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, काम भोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति । अण्णे खलु कामभोगा अण्णो अहमंसि; से किमंग पुण वयं अण्णे-मण्णेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो ।

से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं, तं जहा-माया मे, पिया मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, पेसा मे, णत्ता मे, सुण्हा मे, सुहा मे, पिया मे, सद्दा मे, सयण-संगंथ-संथुया मे-एए खलु मम णायओ, अहमवि एएसिं; एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा - इह खलु मम अण्णयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो, णायओ इमं मम अण्णयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अण्णयराओ दुक्खाओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोगायंकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्ध-पुव्वं भवइ । तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अण्णयरे दुक्खे रोगायंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेएसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अण्णयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परतप्पंतु वा; इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ । अण्णस्स दुक्खं अण्णो ण परियाइयइ, अण्णेण कडं अण्णो णो पडिसंवेएइ। पत्तेयं जायइ, पत्तेयं मरइ; पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ; पत्तेयं झञ्झा, पत्तेयं सण्णा, पत्तेयं मण्णा एवं विण्णू-वेयणा । इह खलु णाइ-संजोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा । पुरिसे वा एगया पुव्विं णाइ-संजोए विप्पजहइ, णाइ-संजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति । अण्णे खलु णाइ-संजोगा अण्णो-अहमंसि; से किमंग पुण वयं अण्ण-मण्णेहिं णाइ-संजोगेहिं मुच्छामो? इति संखाए णं वयं णाइ-संजोगं विप्पजहिस्सामो ।

से मेहावी जाणेज्जा बहिरंग-मेयं, इणमेव-उवणीय-तरागं; तं जहा-हत्था मे, पाया मे, बाहा मे, उरू मे, उदरं मे, सीसं मे, सीलं मे, आऊ मे, बलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, चक्खू मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाइज्जइ; वयाउ परिजूरइ, तं जहा-आउओ, बलाओ, वण्णाओ, तयाओ, छायाओ, सोयाओ जाव फासाओ । सुसंधिओ संधी विसंधी भवइ, वलियतरंगे गाए भवइ, किण्हा केसा पलिया भवंति; तं जहा-जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ । एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा; तं जहा-जीवा चेव अजीवा चेव । तसा चेव थावरा चेव ।। १३ ।।

कठिन शब्दार्थ - कंसं - काँस्य-काँसी के बर्तन, दूसं - दूष्य वस्त्र, रोगायंके - रोग या आतंक, अणिट्ठे - अनिष्ट, अकंते- अकान्त, अमणुण्णे- अमनोज्ञ, अमणामे - मन को नहीं भाने वाला, परियाइयह - बांट कर ले लो, पडिमोयह - मुक्त करो, विप्पजहइ - छोड़ देता है, बहिरंगं - बाहर के (दूर के) उवणीयतरागं - निकट के, भज्जा - स्त्री, धूया - पुत्री, पेसा - प्रेष्य-दास, नत्ता - नाती, सुण्हा - पुत्रवधू, सहा - मित्र, सयणसंगंथसंथुया - स्वजन सग्रन्थ संस्तुत-पहले और पीछे के परिचित संबंधी, पत्तेयं - प्रत्येक-अकेला, चयइ - त्याग करता है, उववज्जइ - उपन्न होता है, झंझा - कलह, मण्णा - चिंतन, विण्णू - विद्वान्, वेयणा - वेदना, णाइसंजोगा - ज्ञातिसंयोग, उरू - ऊरु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जांघ, **तया** - त्वचा, **छाया** - कांति, **सोयं** - श्रोत्र, **वयाउ** - अधिक अवस्था होने पर, **परिजूरइ** - जीर्ण होता जाता है, **सुसंधिओ** - सुघटित (दृढ), **पलिया** - पलित-श्वेत ।

भावार्थ - मनुष्य मोह में पड़ कर दूसरी वस्तु को अपना मानता है इसीलिये उसे नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं और वह अपने कल्याण के साधन से वञ्चित रह जाता है । मनुष्य अपने खेत मकान पशु और धन धान्य आदि सम्पत्ति को अपने सुख के साधन मान कर इनकी प्राप्ति के लिये तथा प्राप्त हुए की रक्षा के लिये जी जान लड़ा कर परिश्रम करता है परन्तु जब उसके ऊपर किसी रोग आदि का आक्रमण होता है तो उसके खेत आदि सम्पत्ति उसको रोग से मुक्त करने में समर्थ नहीं होती है । मनुष्य अपने माता पिता भाई बहिन और स्त्री पुत्र आदि परिवार वर्ग को अपने सुख का साधन समझता है और उसे सुखी करने के लिये विविध कष्ट को सहन कर धनादि उपार्जन करता है परन्तु वह परिवार वर्ग भी उसके रोग को दूर करने तथा उसे बाँट कर ले लेने के लिये समर्थ नहीं होते किन्तु अकेले उसे रोग की पीड़ा सहन करनी पड़ती है। मनुष्य अपने हाथ पैर आदि अंगों को तथा रूप बल और आयु आदि को सबसे अधिक आनन्द का कारण मानता है और इनका उसको बड़ा ही अभिमान रहता है परन्तु जब अवस्था ढल जाती है तब उसके हाथ पैर आदि अंग ढीले पड़ जाते हैं शरीर की कान्ति फीकी हो जाती है और वह बलहीन तथा इन्द्रिय शक्ति से रहित हो जाता है। अन्त में आयु पूरी होने पर वह इस शरीर को छोड़ कर अकेला ही परलोक में जाता है और वहाँ वह अपने शुभाशुभ कर्म का फल अकेले भोगता है। उस समय उसकी सम्पत्ति, परिवार तथा शरीर आदि कोई भी साथ नहीं होते। अतः बुद्धिमान् पुरुष को धन, धान्य, मकान और खेत आदि सम्पत्ति तथा माता पिता स्त्री पुत्र आदि परिवार के ऊपर ममता को त्याग कर आत्म कल्याण का साधन करना चाहिये। मनुष्य रात दिन जिस सम्पत्ति के लिये नाना प्रकार का कष्ट सहन करता है वह परलोक में काम नहीं आती है इतना ही नहीं किन्तु इस लोक में भी वह स्थिर नहीं रहती है । बहुत से लोग धन सञ्चय करके भी फिर दरिद्र हो जाते हैं उनकी सम्पत्ति उन्हें छोड़ कर चली जाती है कभी ऐसा भी होता है कि सम्पत्ति को उपार्जन करने के पश्चात् उसका भोग किये बिना ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है ऐसी दशा में उस पुरुष को सम्पत्ति उपार्जन करने का कष्ट ही हाथ आता है सुख नहीं मिलता है, सुख तो दूसरे प्राप्त करते हैं अतः ऐसी अस्थिर सम्पत्ति के लोभ में पड़ कर अपने जीवन को कल्याण से वञ्चित रखना विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य नहीं है ।

जिस प्रकार सम्पत्ति चञ्चल है इसी तरह परिवार वर्ग का सम्बन्ध भी अस्थिर है । परिवार के साथ वियोग अवश्य होता है कभी तो मनुष्य परिवार को शोकाकुल बनाता हुआ स्वयं पहले मर जाता है और कभी परिवार वाले पहले मरकर उसे शोकसागर में गिरा देते हैं । अतः अतिचञ्चल सम्पत्ति तथा परिवार वर्ग के मोह में फंस कर कौन विवेकी पुरुष अपने कल्याण के साधन को त्याग सकता है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिमान् पुरुष इन बातों को जान कर सम्पत्ति तथा परिवार में कभी आसक्त नहीं होते वे इन्हें शरीर के मल के समान त्याग कर संयम धारण करते हैं । ऐसे पुरुष ही संसार सागर को स्वयं पार करते हैं और उपदेश आदि के द्वारा दूसरों का भी उद्धार करते हैं । संसार रूपी पुष्करिणी के उत्तम श्वेत कमल के समान राजा महाराजा आदि धर्मश्रद्धालु पुरुषों को वे ही उस पुष्करिणी से बाहर निकाल सकते हैं दूसरे नहीं, यह जानना चाहिये ।। १३ ॥

विवेचन - दीक्षा ग्रहण करने के लिये उद्यत बने हुए दीक्षार्थी को वैराग्योत्पादक इन बातों पर गहराई से विचार कर लेना चाहिये कि - सोना, चांदी आदि तथा कामभोग आदि सब बाहरी पदार्थ हैं। यहाँ तक कि कुटुम्बीजन भी मेरे लिये त्राण-शरण रूप नहीं हो सकते हैं क्योंकि एक दूसरे का दुःख दूसरा व्यक्ति नहीं ले सकता है। स्वयं के किये हुए कर्म का फल स्वयं को ही भुगतना पड़ता है। जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है और अकेले ही अपने सुख दुःख का अनुभव करता है। इसलिये जातिजन रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। कभी तो किसी कारणवश मनुष्य पहले ही अपने ज्ञातिजनों को छोड़ देता है और कभी वे उसे पहले छोड़ देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि - प्राणी से ज्ञाति-जन भिन्न हैं और वह भी ज्ञातिजनों से भिन्न है। फिर ज्ञातिजनों में आसक्ति क्यों रखी जाय ज्ञातिजन तो प्रत्यक्ष ही भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु उनसे भी ज्यादा नजदीक और नजदीक ही क्या मानो आत्मा से अभिन्न प्रतीत होने वाला यह शरीर और शरीर के अन्तर्गत हाथ पैर आदि अवयव तथा आयुष्य, बल, वर्ण, कान्ति आदि पदार्थ हैं जिन पर मनुष्य ममत्व करता है। परन्तु जब बुढापा आने लगता है तब उसके इन सब अङ्गों का और शरीर सम्बन्धी पदार्थों की हानि होने लगती है और यहाँ तक कि एक दिन इस शरीर को भी छोड़ कर जाना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि दीक्षार्थी इन्हीं परिज्ञान गर्भित वैराग्योत्पादक बातों के आधार पर बाहरी सब पदार्थों से और शरीर से भी विरक्त हो जाता है, अथवा विरक्त हो जाना चाहिए।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तसा-थावरा पाणा ते सयं समारभंति, अण्णेण वि समारं-भावेंति, अण्णं पि समारभंतं समणुजाणंति ।।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा; जे इमे काम-भोगा सचित्ता वा, अचित्ता वा ते सयं परिगिण्हंति, अण्णेणं वि परिगिण्हावेंति, अण्णं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति ।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एएसिं चेव णिस्साए बंभचेर-वासं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वसिस्सामो; कस्स णं तं हेउं ? जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं, अंजू एए अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव ।

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहओ पावाइं कुव्वंति-इइ संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा ।

से बेमि पाईणं वा ६ जाव एवं से परिण्णायकम्मे, एवं से ववेय-कम्मे, एवं से विअंत-कारए भवती-ति मक्खायं ।। १४ ।।

कठिन शब्दार्थ - **गारत्था** - गृहस्थ, **सारंभा** - आरंभ सहित, **सपरिग्गहा** - परिग्रह सहित, **अणारंभे** - आरंभ रहित, **अपरिग्गहे** - परिग्रह रहित, **णिस्साए** - निश्रा-आश्रय में, **पुव्वं** - पहले, **अवरं**-पीछे, **अणुवरया** - अनुपरत-दोषों से विरत नहीं, **अणुवट्ठिया** - अनुपस्थित-धर्म में उपस्थित नहीं, **अदिस्समाणो** - अदृश्यमान-दोषों से रहित, **रीएज्जा** - संयम में प्रवृत्ति करे, **परिण्णायकम्मे** - परिज्ञातकर्मा-कर्म के रहस्य को जानने वाला, **ववेयकम्मे** - व्यपेतकर्मा-कर्म बंधन से रहित, **विअंतकारए**-व्यंतकार-कर्मों का अंत करने वाला ।

भावार्थ - गृहस्थ लोग सावद्य अनुष्ठान करते हैं और धन, धान्य, सोना चाँदी आदि अचित्त तथा दासी दास और हाथी घोड़ा ऊंट बैल आदि सचित्त परिग्रह रखते हैं यह प्रत्यक्ष है तथा शाक्य आदि भिक्षु श्रमण तथा ब्राह्मण आदि भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं और सचित्त तथा अचित्त दोनों ही प्रकार के परिग्रह रखते हैं अतः इन लोगों के साथ रह कर मनुष्य सावद्य अनुष्ठान रहित तथा परिग्रहवर्जित नहीं हो सकता है। अतः विवेकी पुरुष इनके संसर्ग को छोड़ कर निरवद्य अनुष्ठान करते हैं तथा परिग्रह को वर्जित करते हैं । यद्यपि शाक्य भिक्षु आदि नाम मात्र से दीक्षाधारी होते हैं तथापि वे दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व जैसे सावद्य अनुष्ठान करते हैं और परिग्रह रखते हैं वैसे ही दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं और परिग्रह रखते हैं अतः इनकी पूर्व तथा उत्तर अवस्था में कोई भेद नहीं है। गृहस्थ तथा शाक्य भिक्षु आदि त्रस और स्थावर प्राणियों का विघातक व्यापार करते हैं यह प्रत्यक्ष है अतः इनमें रहकर निरवद्य वृत्ति का पालन एवं परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं है अतः साधुजन इनका त्याग कर देते हैं । यद्यपि इन्हें छोड़े बिना निरवद्य वृत्ति का पालन और परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं है तथापि निरवद्य वृत्ति के पालनार्थ इनका आश्रय लेना वर्जित नहीं किया जा सकता है अतः साधु इन्हें त्याग कर भी निरवद्य वृत्ति के पालनार्थ इनका आश्रय लेते हैं । आशय यह है कि संयम के आधार भूत शरीर के रक्षार्थ साधु इनके द्वारा दिये हुए भिक्षान्न को प्राप्त कर अपना निर्वाह करते हैं क्योंकि ऐसा किये बिना उनकी निरवद्य वृत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता है अतः वे इनके आश्रय का त्याग नहीं करते हैं । इस प्रकार जो पुरुष गृहस्थ आदि के द्वारा दिये हुए भिक्षान्न मात्र से अपना निर्वाह करते हुए शुद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयम का पालन करते हैं वे ही उत्तम साधु हैं और वे ही कर्म बन्धन को तोड़ कर मोक्ष पद के अधिकारी होते हैं, यह तीर्थंकरों का सिद्धान्त जानना चाहिये ।। १४ ॥

विवेचन - गृहस्थ तो परिग्रह और आरम्भ समारम्भ का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता किन्तु श्रावक व्रत धारण करते समय इनकी मर्यादा करता है। किन्तु कितनेक अपने आपको श्रमण माहण कहला कर भी परिग्रह रखते हैं और आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्ति करते हैं। अतः आरम्भ परिग्रह का सर्वथा त्याग करने वाले निर्ग्रन्थ मुनियों को उनका सम्पर्क नहीं रखना चाहिये सिर्फ इस शरीर के निर्वाह के लिये गोचरी रूप भिक्षाचरी के लिये इनके घर जाना होता है। विशेष परिचय का वर्जन करना चाहिये।

तत्थ खलु भगवया छज्जीव-णिकाय-हेऊ पण्णत्ता, तं जहा-पुढवीकाए जाव तसकाए । से जहा णामए मम असायं दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा लेलूण वा, कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणस्स वा, हम्ममाणस्स वा, तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा, परियाविज्जमाणस्स वा, किलामिज्जमाणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता दंडेण वा, जाव कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणा वा, हम्ममाणा वा, तज्जिज्जमाणा वा, ताडिज्जमाणा वा, परियाविज्जमाणा वा, किलामिज्जमाणा वा, उद्दविज्जमाणा वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति । एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा ।

से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा, अरिहंता भगवंता सव्वे ते एव-माइक्खंति एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा । एस धम्मे धुवे, णिइए सासए समिच्च लोगं खेयण्णेहिं पवेइए । एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ जाव विरए परिग्गहाओ, णो दंत-पक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परियाविएज्जा।

से भिक्खू अकिरिए, अलूसिए, अकोहे, अमाणे, अमाए, अलोहे, उवसंते, परिणिव्वुडे, णो आसंसं पुरओ करेज्जा-इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विण्णाएण वा, इमेण वा, सुचरियतव-णियम-बंभचेर-वासेण, इमेण वा, जाया-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माया-वुत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया काम-भोगाण वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया । से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए, रूवेहिं अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ, पेज्जाओ, दोसाओ कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णणाओ, परपरिवायाओ, अरइरईओ, माया-मोसाओ, मिच्छा-दंसण-सल्लाओ, इइ से महओ आयाणाओ, उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू ।

जे इमे तस-थावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभइ, णो वा अण्णेहिं समारंभावेंति, अण्णे समारंभंते वि ण समणुजाणंति इति ते महओ आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू। जे इमे काम-भोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हंति, णो अण्णेणं परिगिण्हावेंति, अण्णं परिगिण्हंतं पि ण समणुजाणंति इति से महओ आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू । जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेइ, णो वा अण्णेणं कारवेइ, अण्णं पि करेंतं ण समणुजाणइ, इति से महओ आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए । से भिक्खू जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं, पामिच्चं, अच्छिज्जं, अणिसिट्ठं, अभिहडं, आहट्टुद्देसियं, तं चेइयं सिया तं णो सयं भुंजइ, णो अण्णेणं भुंजावेइ, अण्णं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ, इति से महओ आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए ।

से भिक्खू अह पुण एवं जाणेज्जा तं विज्जइ तेसिं परक्कमे, जस्सट्ठा ते चेइयं सिया, तं जहा-अप्पणो पुत्ता इणट्ठाए, जाव आएसाए, पुढो पहेणाए, सामासाए, पायरासाए, संणिहि-संणिचओ किज्जइ, इह एएसिं माणवाणं भोयणाए, तत्थ भिक्खू परकडं, पर-णिट्ठिय-मुग्ग-मुप्पाय-णेसणा-सुद्धं, सत्थाईयं, सत्थपरि-णामियं, अविहिंसियं, एसियं, वेसियं, सामुदाणियं, पत्त-मसणं, कारणट्ठा पमाण-जुत्तं, अक्खोवंजण-वण-लेवण-भूयं, संजम-जाया-माया-वत्तियं बिल-मिव पण्णग-भूएणं, अप्पाणेणं आहारं आहरेज्जा; अण्णं अण्णकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं-सयण-काले ।

से भिक्खू मायण्णे अण्णयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवण्णे धम्मं आइक्खे,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विभए, किट्टे; उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए, संतिविरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं महवियं लाघवियं अणतिवाइयं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टए धम्मं ।

से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्म-माइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्म-माइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्म-माइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्म-माइक्खेज्जा, णो अण्णेसिं विरूव-रूवाणं काम-भोगाणं हेउं धम्म-माइक्खेज्जा, अगिलाए धम्म-माइक्खेज्जा, णण्णत्थ कम्म-णिज्जरट्ठाए धम्म-माइक्खेज्जा।

इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म उट्ठाणेणं, उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया; जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया ते एवं सव्वोवगया, ते एवं सव्वोवरया, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिणिव्वुडे त्ति बेमि ।

एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्म-विऊ णियाग-पडिवण्णे से जहेयं बुइयं अदुवा पत्ते पउमवर-पोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवर-पोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णाय-कम्मे परिण्णाय-संगे परिण्णाय गेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए । सेयं वयणिज्जे तंजहा-समणे त्ति वा, माहणे त्ति वा, खंते त्ति वा, दंते त्ति वा, गुत्ते त्ति वा, मुत्ते त्ति वा, इसी त्ति वा, मुणी त्ति वा, कइ त्ति वा, विऊ त्ति वा, भिक्खू त्ति वा, लूहे त्ति वा, तीरट्ठी त्ति वा, चरण-करण-पारविऊ ।। त्ति बेमि ।।

कठिन शब्दार्थ - छज्जीवणिकाय - षड्जीवनिकाय-छह काय के जीवों को, **अट्ठीण** - हड्डी से, **लेलूण** - ढेले से, **कवालेण** - घड़े के टुकडे से, **आउट्टिज्जमाणा** - मारते हुए, **हम्ममाणा** - पीटते हुए, **तज्जिज्जमाणा** - तर्जना देते हुए, **ताडिज्जमाणा** - ताडना देते हुए, **परियाविज्जमाणा** - परिताप पहुँचाते हुए, **किलामिज्जमाणा** - किलामना (क्लेश) उपजाते हुए, **उद्दविज्जमाणा** - उद्वेग उपजाते हुए, **असायं**- असाता, **लोमुक्खणणमायमवि** - रोम उखाडने मात्र से भी, **अज्जावेयव्वा**- अधीन बनावे, **परिघेतव्वा**- दास आदि बनावे, **परितावेयव्वा** - परिताप दे, **उद्दवेयव्वा** - उद्विग्न करे, **अईया** - अतीत में हुए, **पडुप्पण्णा** - वर्तमान में है, **आगमेस्सा** - भविष्य में होंगे, **विरए**- विरत, **दंतपक्खालणेणं** - दंतप्रक्षालन-दतौन से, **पक्खालेज्जा** - प्रक्षालन करे, **परिआविएज्जा** - धूम्रपान करे, **अलूसए** - अहिंसक, **सुचरिय तव णियमबंभचेर वासेणं** - सुचरित तप नियम ब्रह्मचर्यवास के द्वारा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जायामायावुत्तिएणं - संयम यात्रा मात्र की वृत्ति के लिए, **कामभोगाण** - कामभोगों का, **वसवत्ती** - वशवर्ती, **उवसंते** - उपशांत, **उवट्ठिए** - संयम में उपस्थित, **पडिविरए** - प्रति विरत-पाप से निवृत्त, **संपराइयं** - सांपरायिक, **पामिच्चं** - प्रामित्य-उधार लिया हुआ, **अच्छेज्ज** - छिना गया, **अणिसिट्ठं** - भागीदार की बिना स्वीकृति से लिया हुआ, **अभिहडं** - सामने लाया हुआ, **आएसाए**- अतिथि के लिये, **सामासाए** - सायंकालीन भोजन के लिए, **पायरासाए** - सुबह में खाने के लिए **परिणिट्ठियं** - दूसरे के लिए निष्पादित, **अविहिंसियं** - निर्जीव, **एसियं** - एषणा से प्राप्त, **वेसियं**- साधु वेश से प्राप्त, **सामुदाणियं** - माधुकरी वृत्ति से प्राप्त, **अक्खोवंजण** - गाड़ी के पहिए की धूरी के तेल आंजने के समान, **वणलेवणभूयं** - व्रण (घाव) पर लेप लगाने के समान, **बिलमिवपण्णगभूएणं** - बिल में प्रवेश करते हुए सर्प के समान, **धम्मं** - धर्म को, **आइक्खेज्जा** - कहे, **कम्मणिज्जरट्ठयाए** - कर्म निर्जरा के लिए, **सव्वोवरया** - सर्वात्मना उपरत, **परिण्णा यगेहवासे**- गृहवास का त्यागी, **इसी** - ऋषि, **कइ** - कृती, **लूहे** - रूक्ष **तीरट्ठी**- तीरार्थी, **चरणकरणपारविऊ** - चरण करण पारविद्-मूल गुण उत्तर गुण के पार को जानने वाला ।

भावार्थ - वस्तु तत्त्व को जानने वाले विज्ञ पुरुष अपने सुख दुःख के समान दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को जान कर उन्हें कभी भी पीड़ित करने की इच्छा नहीं करते हैं । वे यह समझते हैं कि - "जैसे कोई दुष्ट पुरुष मुझ को मारता है या गाली देता है अथवा बलात्कार से अपना दासी दास आदि बना कर अपनी आज्ञा पालन कराता है तो मैं जैसा दुःख अनुभव करता हूँ इसी तरह दूसरे प्राणी भी मारने, पीटने, गाली देने तथा बलात्कार से दासी दास आदि बना कर आज्ञा पालन कराने से दुःख अनुभव करते होंगे ? अतः किसी भी प्राणी को मारना, गाली देना तथा बलात्कार पूर्वक उसे दासी दास आदि बनाना उचित नहीं हैं" । वे पुरुष इस उत्तम विज्ञान के कारण पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह ही काय के जीवों को कष्ट देने वाले व्यापारों को त्याग देते हैं। ऐसे पुरुष ही धर्म के रहस्य को जानने वाले हैं क्योंकि भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीर्थंकरों को यही धर्म अभीष्ट है वे छह प्रकार के प्राणियों को पीड़ा न देना ही धर्म का स्वरूप बतलाते हैं। इस धर्म की रक्षा के निमित्त साधु पुरुष दातौन आदि से अपने दाँतों को नहीं धोते हैं शरीर शोभार्थ आँखों में अञ्जन नहीं लगाते हैं तथा दवा लेकर वमन और विरेचन नहीं करते हैं तथा वे अपने वस्त्रों को धूप आदि के द्वारा सुगन्धित नहीं करते हैं एवं खाँसी आदि रोगों की निवृत्ति के लिये धूम्र पान नहीं करते हैं वे बयालीस दोषों का त्याग कर शुद्ध आहार ही ग्रहण करते हैं वह आहार भी केवल संयम शरीर के निर्वाह मात्र के लिये लेते हैं रस की लोलुपता से नहीं लेते हैं । वे समय के अनुसार ही समस्त क्रियायें करते हैं वे अन्न के समय में अन्न को, जल के समय में जल को और शयन के समय में शय्या को ग्रहण करते हैं इस प्रकार उनके आहार विहार आदि सभी उपयोग के साथ ही होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं । वे अठारह प्रकार के पापों से सर्वथा निवृत्त होकर ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना करते हैं । वे तप और ब्रह्मचर्य पालन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि क्रियाएँ अपने कर्मों के क्षय के लिये ही करते हैं परलोक में या इस लोक में उनका फल स्वरूप सुख प्राप्ति की इच्छा से नहीं करते हैं । वे इस लोक तथा परलोक के सुखों की तृष्णा से रहित परम वैराग्य सम्पन्न होते हैं । वे जगत् के कल्याण के लिये अहिंसामय धर्म का उपदेश करते हैं। वे धर्मोपदेश के द्वारा लोक कल्याण के सिवाय किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं करते हैं । ऐसे पुरुषों के द्वारा किये हुए उपदेशों को सुनने और समझ कर उसके आचरण करने से ही जीव कल्याण का भाजन हो सकता है अतः यह पुरुष ही पूर्वोक्त पुष्करिणी के कमल को निकालने वाले पुरुषों में से पाँचवाँ पुरुष है। यही पुरुष शुद्ध धर्म का अनुष्ठान करके स्वयं भवसागर को पार करता है और धर्मोपदेश के द्वारा दूसरों को भी मुक्ति देता है । ऐसे पुरुष को ही श्रमण माहन, जितेन्द्रिय, ऋषि, मुनि, आदि शब्दों से विभूषित करना चाहिये ।। १५ ॥

विवेचन - इस अध्ययन में पुष्करिणी व श्वेत कमल का दृष्टान्त दिया गया है। चार पुरुष तो उस कमल को लेने के लिये पुष्करिणी में गये इसलिये कीचड़ में फंस कर दुःखी हुए। पांचवां पुरुष मुनि है। वह गृहस्थों में आसक्त न होता हुआ निरपेक्ष भाव से धर्मोपदेश देता है। इस प्रकार वह अपनी आत्मा को भी संसार समुद्र में तिराता है और दूसरे जीवों को भी संसार सागर से पार करता है। उस मुनि के लिये इस सूत्र में कई पर्यायवाची शब्द दिये हैं। यथा - "**श्रमु-तपसि खेदे च**" इस धातु से '**श्रमण**' शब्द बना है। जो तपस्या में श्रम करता है तथा जगत् के समस्त जीवों के दुःखों को जानकर उनका दुःख दूर करने का उपाय करता है इसलिये उसे '**श्रमण**' कहते हैं। 'किसी भी जीव को मत मारो' ऐसा उपदेश देने से उनको '**मा-हण**' और ब्रह्मचर्य का पालन करने से उसे '**ब्राह्मण**' कहते हैं। क्षमाशील होने से '**क्षान्त**' इन्द्रिय और नोइन्द्रिय (मन) को वश में करने वाला होने से '**दान्त**', तीन गुप्तियों से युक्त होने के कारण '**गुप्त**', पांच समितियों से युक्त होने के कारण '**समित**', आस्रवों से रहित होने के कारण '**मुक्त**', विशिष्ट तपस्या करने के कारण '**महर्षि**', जगत् के जीवों की त्रिकाल अवस्था का मनन करने वाला होने से '**मुनि**', पुण्यशाली होने से '**कृती**', परमार्थ का जानकार होने से 'सुकृती' तथा अध्यात्म विद्या युक्त होने से '**विद्वान्**', निरवद्य भिक्षा लेकर संयम का निर्वाह करने वाला होने से '**भिक्षु**' अन्त-प्रान्त आहार करने वाला होने से '**रूक्ष**' और संसार के तीर (किनारा) पहुँचा हुआ एवं मोक्ष का अभिलाषी होने से '**तीरार्थी**' कहलाता है। वह मुनि के मूल गुण और उत्तर गुणों का शुद्ध पालन करने वाला होने से मुक्ति को प्राप्त करने वाला होता है।

त्तिबेमि - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं - हे आयुष्मन जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। किन्तु अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

पहला अध्ययन समाप्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया स्थान नामक दूसरा अध्ययन

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु किरिया-ठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते, तस्स णं अय-मट्ठे ।। १ ॥

इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एव-माहिज्जंति, तं जहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव; उवसंते चेव अणुवसंते चेव ।। २ ॥

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्म-पक्खस्स विभंगे तस्स णं अय-मट्ठे पण्णते । इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति; तं जहा-आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुव्वण्णा वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे । तेसिं च णं इमं एयारूवं दण्ड-समादाणं संपेहाए, तं जहा-णेरइएसु वा, तिरिक्ख-जोणिएसु वा, मणुस्सेसु वा, देवेसु वा जेयावण्णे तहप्पगारा पाणा विण्णू वेयणं वेयंति ।

तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरिया-ठाणाइं भवंतीतिमक्खायं; तं जहा - १ अट्ठादंडे, २ अणट्ठादंडे ३ हिंसादंडे, ४ अकम्हादंडे, ५ दिट्ठि-विपरियासियादंडे, ६ मोसवत्तिए, ७ अदिण्णादाण-वत्तिए, ८ अज्झत्थ-वत्तिए, ९ माण-वत्तिए, १० मित्त-दोस-वत्तिए, ११ माया-वत्तिए, १२ लोभवत्तिए, १३ इरियावहिए ।।१६॥

कठिन शब्दार्थ - **संजूहेणं** - सामान्य से-संक्षेप में, **अणुवसंते** - अनुपशांत, **दंडसमादाणं** - दंड समादान-हिंसात्मक आचरण, **किरियाठाणाइं** - क्रिया स्थान, **अकम्हादंडे** - अकस्मात् दण्ड, **दिट्ठिविपरियासियादंडे**- दृष्टि विपर्यासिका दंड, **मोसवत्तिए**- मृषा प्रत्ययिक, **अदिण्णा-दाणवत्तिए** - अदत्तादान प्रत्ययिक, **अज्झत्थवत्तिए** - अध्यात्म प्रत्ययिक, **इरियावहिए** - ईर्यापथिक।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि - मैं तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशानुसार क्रियास्थान नामक अध्ययन का उपदेश करता हूँ - इस जगत् में कोई प्राणी धर्म स्थान में निवास करते हैं और कोई अधर्म स्थान में रहते हैं । कोई भी क्रियावान् प्राणी इन दोनों स्थानों से अलग नहीं हैं इनमें पहला स्थान उपशान्त और दूसरा अनुपशांत-शान्तिरहित है । जिनका पूर्वकृत शुभ कर्म उदय को प्राप्त है वे शक्तिशाली पुरुष उपशान्त धर्मस्थान में वर्तमान रहते हैं और उनसे भिन्न प्राणी अनुपशान्त अधर्मस्थान में निवास करते हैं । इस जगत् में सुख दुःख का ज्ञान और अनुभव करने वाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जितने प्राणी निवास करते हैं उनमें तेरह प्रकार के क्रियास्थानों का वर्णन श्री तीर्थंकर देव ने किया है । वे तेरह क्रिया स्थान ये हैं -

१. **अर्थदण्ड** - किसी प्रयोजन से पाप करना ।

२. **अनर्थदण्ड** - प्रयोजन के बिना ही पाप करना ।

३. **हिंसा दण्ड** - प्राणियों की हिंसा करना ।

४. **अकस्माद्-दण्ड** - दूसरे के अपराध से दूसरे को दण्ड देना ।

५. **दृष्टिविपर्य्यास दण्ड** - दृष्टि दोष से किसी प्राणी को पत्थर का टुकड़ा आदि जान कर मारना ।

६. **मृषावादप्रत्ययिक** - सच्ची बात को छिपाना और झूठी बात को स्थापित करना ।

७. **अदत्तादान** - स्वामी के दिये बिना ही उसकी वस्तु को ले लेना ।

८. **अध्यात्मप्रत्ययिक** - मन में बुरा विचार करना ।

९. **मान प्रत्ययिक** - ज़ाति आदि के गर्व से दूसरे को नीची (हीन) दृष्टि से देखना ।

१०. **मित्रद्वेष प्रत्ययिक** - मित्र के साथ द्रोह करना ।

११. **माया प्रत्ययिक** - दूसरे को वञ्चन करना (ठगना) ।

१२. **लोभ प्रत्ययिक** - लोभ करना ।

१३. **ऐर्य्यापथिक** - पाँच समिति और तीन गुप्तियों से गुप्त रहते हुए सर्वत्र उपयोग रखने पर भी चलने फिरने आदि के कारण सामान्य रूप से कर्मबन्ध होना। ये तेरह क्रियास्थान हैं इन्हीं के द्वारा जीवों को कर्मबन्ध होता है, इनसे भिन्न कोई दूसरी क्रिया कर्मबन्ध का कारण नहीं है। इन्हीं तेरह क्रिया स्थानों में संसार के समस्त प्राणी हैं ।। १६ ॥

विवेचन - इन तेरह क्रिया स्थानों द्वारा कर्म बन्ध होता है। इन क्रिया स्थानों का अर्थ एवं व्याख्या आगे यथा स्थान की जा रही है।

पढमे दंड-समादाणे अट्ठा-दंड-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे आय-हेउं वा, णाइ-हेउं वा, अगार-हेउं वा, परिवार-हेउं वा, मित्त-हेउं वा, णाग-हेउं वा, भूत-हेउं वा, जक्ख-हेउं वा, तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरइ, अण्णेण वि णिसिरावेइ, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणइ; एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । पढमे दंड-समादाणे अट्ठा-दंड-वत्तिए त्ति आहिए ।। १७ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अट्ठादंडवत्तिए** - अर्थ दण्ड प्रत्ययिक, **आयहेउं** - अपने लिए, **णाइहेउं** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाति के लिए, **अगार हेउं** - घर के लिए, **णागहेउं** - नाग के लिए, **भूतहेउं** - भूत के लिए, **जक्खहेउं** - यक्ष के लिए, **णिसिरइ** - प्राणियों को दंड देता है, **तप्पत्तियं** - उस क्रिया के कारण, **सावज्जं** - सावद्य कर्म का ।

भावार्थ - जो पुरुष अपने लिये अथवा अपने ज्ञाति, परिवार, मित्र, घर, देवता, भूत और यक्ष आदि के लिये त्रस और स्थावर प्राणी का स्वयं घात करता है अथवा दूसरे से घात कराता है तथा घात करते हुए को अच्छा मानता है उसको प्रथम क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक के अनुष्ठान का पापबन्ध होता है । यही प्रथम क्रियास्थान का स्वरूप है ।। १७ ॥

विवेचन - कई मतावलम्बी सार्थक अर्थात् प्रयोजन वश की जाने वाली क्रियाओं से कर्म बन्ध नहीं मानते हैं परन्तु श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के सिद्धान्तानुसार प्रयोजन वश की हुई क्रिया से भी पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिये शास्त्रकार स्पष्ट कर देते हैं कि - जो पुरुष अपने लिये या किसी दूसरे के लिये त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है, करवाता है और अनुमोदन करता है उसे उस सावद्य क्रिया के फलस्वरूप अर्थ दण्ड प्रत्ययिक पापकर्म का बन्ध होता है।

अहावरे दोच्चे दंड-समादाणे अणट्ठा-दंड-वत्तिए त्ति आहिज्जइ ।

से जहा णामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए, णो अजिणाए, णो मंसाए, णो सोणियाए, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारुणिए, अट्ठीए, अट्ठिमंजाए, णो हिंसिंसु मे त्ति, णो हिंसंति मे त्ति, णो हिंसिस्संति मे त्ति; णो पुत्त-पोसणाए णो पसु-पोसणाए, णो अगार-परिवूहणताए, णो समण-माहण वत्तणाहेउं णो तस्स सरीरस्स किंचि विप्परियादित्ता भवंति; से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता, उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवइ अणट्ठा-दंडे ।

से जहा णामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा- इक्कडा इ वा, कडिणा इ वा, जंतुगा इ वा, परगा इ वा, मोक्खा इ वा, तणा इ वा, कुसा इ वा, कुच्छगा इ वा, पव्वगा इ वा, पलाला इ वा, ते णो पुत्त-पोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगार-पडिवूहणयाए, णो समण-माहण-पोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति; से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवइ, अणट्ठा-दंडे ।

से जहा णामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा, दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वलयंसि वा, णूमंसि वा, गहणंसि वा, गहण-विदुग्गंसि वा, वणंसि वा, वण-विदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वय-विदुग्गंसि वा, तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणि-कायं णिसिरइ, अण्णेण वि अगणि-कायं णिसिरावेइ, अण्णं वि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणइ अणट्ठा-दंडे । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । दोच्चे दंड-समादाणे अणट्ठा दंड वत्तिए त्ति आहिए ।। १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अणट्ठादंडवत्तिए** - अनर्थदण्ड प्रत्ययिक, **अच्चाए** - अर्चा शरीर के लिए, **अजिणाए** - चर्म के लिए **सोणियाए** - रक्त के लिए, **हिययाए** - हृदय के लिये, **पिच्छाए** - पंख के लिये, **विसाणाए** - विषाण के लिये, **णहाए** - नख के लिए, **ण्हारुणिए**- स्नायु (नाड़ी) के लिए, **अट्ठीए** - हड्डी के लिए, **अट्ठिमिंजाए** - अस्थि मज्जा के लिए, **अगारपरिवूहणयाए** - घर को बढाने के लिये, **उज्झिउं** - विवेक को छोड़, **वेरस्स** - वैर का, **आभागी**- भागी, **कच्छंसि**- कछार नदी के तट पर, **वणविदुग्गंसि**- दुर्गम वन में, **ऊसविय** - ढेर कर ।

भावार्थ - इस जगत् में ऐसे भी पुरुष होते हैं जो बिना प्रयोजन ही प्राणियों का घात किया करते हैं उनको अनर्थ दण्ड देने का पाप बन्ध होता है ऐसे पुरुष महा मूर्ख हैं क्योंकि - वे अपने शरीर की रक्षा के लिये अथवा अपने पुत्र पशु आदि के पोषण के लिये प्राणियों का घात नहीं करते किन्तु बिना प्रयोजन कौतुक के लिये प्राणिघात जैसा निन्दित कर्म करते हैं । ऐसे पुरुष निरर्थक प्राणियों के साथ वैर के पात्र होते हैं अतः इससे बढ़कर दूसरी मूर्खता क्या हो सकती है ? इस दूसरे क्रियास्थान का अभिप्राय बिना प्रयोजन प्राणियों को दण्ड देना है सो इस सूत्र में कहा है । कोई पुरुष मार्ग में चलते समय बिना ही प्रयोजन वृक्ष के पत्तों को तोड़ गिराता है तथा चपलता के कारण दूसरे वनस्पतियों को भी उखाड़ फेकता है तथा बिना ही प्रयोजन नदी, तालाब और जलाशयों के तट पर बैठकर पानी में कङ्कर, पत्थर फेंका करते हैं। जल के जीवों को कष्ट पहुँचाया करते हैं तथा पर्वत, वन आदि में व्यर्थ ही आग लगा देता है, यद्यपि उसे इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती तथापि वह अपनी मूर्खता के कारण ऐसा करके प्राणियों को अनर्थ दण्ड देने का पाप करता है तथा व्यर्थ ही वह अनेक जन्मों के लिये प्राणियों के वैर का पात्र होता है ।। १८ ॥

विवेचन - यहाँ हिंसा के दो भेद किये गये हैं। अर्थ दण्ड और अनर्थ दण्ड। अर्थ दण्ड अर्थात् किसी प्रयोजन से किये जाने वाली हिंसा को अर्थदण्ड कहते हैं। किसी भी प्रयोजन के बिना केवल आदत, कौतुक, कुतूहल, मनोरंजन और व्यसन पोषण आदि से प्रेरित होकर किसी भी त्रस या स्थावर जीव की, किसी भी रूप में की जाने वाली हिंसा के निमित्त से जो पाप कर्म बन्ध होता है उसे "अनर्थदण्ड प्रत्ययिक क्रियास्थान" कहते हैं। वीतराग सिद्धान्त के अनुसार अर्थ दण्ड की अपेक्षा अनर्थ दण्ड क्रिया स्थान अधिक पापकर्म बन्धक होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहावरे तच्चे दंड-समादाणे हिंसा-दंड-वत्तिए त्ति आहिज्जइ ।

से जहा णामए केइ पुरिसे ममं वा, ममिं वा, अण्णं वा, अण्णिं वा, हिंसिसु वा, हिंसइ वा, हिंसिस्सइ वा, तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरइ, अण्णेण वि णिसिरावेइ, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणइ हिंसा-दंडे । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। तच्चे दंड-समादाणे हिंसा-दंड-वत्तिए त्ति आहिए ।। १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - हिंसादंडवत्तिए - हिंसा दण्ड प्रत्ययिक, **ममिं** - मेरे संबंधी को, **अण्णिं** - दूसरे के संबंधी को, **हिंसिसु** - मारा था, **हिंसइ** - मारता है, **हिंसिस्सइ** - मारेगा ।

भावार्थ - बहुत से पुरुष ऐसे हैं जो दूसरे प्राणियों को इस आशंका से मार डालते हैं कि - "यह जीवित रह कर मेरे को न मार डाले" । जैसे कंस ने देवकी के पुत्रों को उनके द्वारा भविष्य में अपने नाश की शङ्का करके मार डाला था तथा बहुत से अपने सम्बन्धी के घात के क्रोध से प्राणियों का घात करते हैं जैसे परशुराम ने अपने पिता के घात से क्रोधित होकर कार्तवीर्य्य का घात किया था । बहुत से मनुष्य, सिंह और सर्प आदि प्राणियों का घात इसलिये कर डालते हैं कि - "यह जीवित रहकर दूसरे प्राणियों का घात करेगा"। इस प्रकार जो पुरुष किसी त्रस या स्थावर प्राणी का स्वयं घात करता है अथवा दूसरे के द्वारा घात कराता है अथवा प्राणिघात करते हुए को अच्छा मानता है उसको हिंसाहेतुक सावद्य कर्म का बन्ध होता है यही तीसरे क्रियास्थान का स्वरूप है ।। १९ ॥

विवेचन - हिंसा मन, वचन, काया इस प्रकार तीन योग से और करना, करवाना और अनुमोदन करना इस प्रकार तीन करण से होती है तथा काल सम्बन्धी भूतकाल, वर्तमान काल, भविष्यकाल इन तीन काल सम्बन्धी होती है। इस प्रकार हिंसा के ३×३×३=२७ भेद हो जाते हैं।

इन २७ को क्रोध, मान, माया लोभ इन चार से गुणा करने पर १०८ भेद हो जाते हैं। इस तरह १०८ प्रकार से की हुई हिंसा को क्षय करने के लिये नमस्कार महामंत्र की माला फेरी जाती है। पूर्वाचार्यों ने माला के १०८ मणिके रखें हैं। वे १०८ मणिये इस बात को सूचित करते हैं कि हमको १०८ बार फिराने से १०८ प्रकार से बन्धा हुआ कर्म क्षय हो जाता है। दूसरे आचार्यों की मान्यता के अनुसार पञ्च परमेष्ठी के १०८ गुण होते हैं। उन गुणों को प्राप्त करने के लिये माला के मणिये भी १०८ रखे गये हैं।

अहावरे चउत्थे दंड-समादाणे अकम्हा-दंड-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वण-विदुग्गंसि वा मियवत्तिए मिय-संकप्पे मिय-पणिहाणे मिय-वहाए गंता एए मिय त्ति काउं अण्णयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा; 'समियं वहिस्सामि'-त्ति कट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, चडगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविं वा, कविंजलं वा, विंधित्ता भवइ, इह खलु से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसइ अकम्हा-दंडे । से जहा णामए केइ पुरिसे सालीणि वा, वीहीणि वा, कोद्दवाणि वा, कंगूणि वा, परगाणि वा, रालाणि वा, णिलिज्जमाणे अण्णयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं तणगं कुमुदुगं वीही-ऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामि-त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा, कोद्दवं वा, कंगुं वा, परगं वा, रालयं वा, छिंदित्ता भवइ, इइ खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसइ अकम्हा-दंडे । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ । चउत्थे दंड-समादाणे अकम्हा-दंड-वत्तिए आहिए ।। २० ॥

कठिन शब्दार्थ - अकम्हादंडवत्तिए - अकस्मात् दण्ड प्रत्ययिक, **मियवत्तिए** - मृगवृत्तिक-मृग को मारने का व्यापार करने वाला, **उसुं** - बाण को, **आयामेत्ता** - खींच कर, **णिसिरेज्जा**- चलाये (छोडे), **तित्तिरं** - तीतर, **वट्टगं** - बटेर को, **चडग** - चटक (चिड़िया) **लावगं** - लावक, **कवोयगं** - कबूतर को, **कविं** - कपि (बंदर) को, **कविंजलं** - कपिंजल को, **सालीणि**- शाली को, **वीहिणि** - व्रीहि को, **कोद्दवाणि** - कोद्रव को, **णिलिज्जमाणे** - शोधन (निनान) करता हुआ, **सामगं** - श्यामक को, **कुमुदुगं** - कुमुद को ।

भावार्थ - दूसरे प्राणी को घात करने के अभिप्राय से चलाये हुए शस्त्र के द्वारा यदि दूसरे प्राणी का घात हो जाय तो उसे अकस्मात् दण्ड कहते हैं क्योंकि घातक पुरुष का उस प्राणी के घात का आशय न होने पर भी अचानक उसका घात हो जाता है। ऐसा देखने में भी आता है कि - मृग का घात करके अपनी जीविका करने वाला व्याध मृग को लक्ष्य करके बाण चलाता है परन्तु वह बाण कभी कभी लक्ष्य से भ्रष्ट हो कर मृग को नहीं लगता किन्तु दूसरे प्राणी पक्षी आदि को लग जाता है । इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी उस घातक के द्वारा पक्षी आदि का घात हो जाता है अतः यह दण्ड अकस्मात् दण्ड कहलाता है। किसान जब अपनी खेती का परिशोधन करता है उस समय धान्य के पौधों की हानि करने वाले तृणों का साफ करने के लिये वह उनके ऊपर शस्त्र चलाता है परन्तु कभी कभी उसका शस्त्र घास पर न लग कर धान्य के पौधों पर ही लग जाता है जिस से धान्य के पौधों का घात हो जाता है। किसान का आशय धान्य के पौधों को छेदन करने का नहीं होता फिर भी उससे धान्य के पौधों का छेदन हो जाता है इसे अकस्माद् दण्ड कहते हैं। अतः मारने की इच्छा न होने पर भी यदि अपने द्वारा चलाये हुए शस्त्र से कोई अन्य प्राणी मर जाय तो अकस्माद् दण्ड देने का पाप होता है । यही चौथे क्रिया स्थान का स्वरूप है ।।

विवेचन - मारने का अभिप्राय न होते हुए भी अकस्मात् (अचानक) दूसरे प्राणी की हिंसा हो जाना यह अकस्मात् दंड कहलाता है। मूल में दो दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है यथा- किसी शिकारी ने मृग को मारने के लिये बाण चलाया किन्तु मृग न मारा जाकर तीतर, बटेर, आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी मारा गया तथा किसान अपने खेत में उगे हुए धान्य के अंकुर के साथ दूसरा जो घास उग गया था उसको काटने के लिए दतौली आदि शस्त्र चलाया उससे घास न कट कर धान्य का पौधा ही कट गया। यह अकस्मात् दण्ड कहलाता है।

अहावरे पंचमे दंड-समादाणे दिट्ठि-विपरि-यासियादंड वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा, भाईहिं वा, भगिणीहिं वा, भज्जाहिं वा, पुत्तेहिं वा, धूयाहिं वा, सुण्हाहिं वा, सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्त-मेव मण्णमाणे मित्ते हय-पुव्वे भवइ दिट्ठि-विपरियासिया-दंडे । से जहा णामए केइ पुरिसे गाम-घायंसि वा, णगर-घायंसि वा, खेड-घायंसि कब्बड-घायंसि वा, मडंब घायंसि वा दोणमुहघायंसि वा, पट्टणघायंसि वा, आसम-घायंसि वा सण्णिवेस घायंसि वा, णिग्गम-घायंसि वा, रायहाणि-घायंसि वा, अत्तेणं तेण-मिति मण्णमाणे अतेणे हय-पुव्वे भवइ दिट्ठि-विपरियासिया-दंडे । एवं खलु तस्स-तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। पंचमे दंड-समादाणे दिट्ठि-विपरियासिया-दंड वत्तिए त्ति आहिए ।।२१॥

कठिन शब्दार्थ - दिट्ठि विपरियासियादंडवत्तिए - दृष्टि विपर्यासिका दंड प्रत्ययिक, **संवसमाणे** - रहता हुआ, **अमित्तं** - अमित्र, **खेडघायंसि** - खेट घात के समय, **दोणमुहघायंसि** - द्रोणमुख के घात के समय, **अतेणं** - अचोर (चोर से भिन्न व्यक्ति)

भावार्थ - अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दंड देना दृष्टिविपर्य्यास दण्ड कहलाता है । जो पुरुष मित्र को शत्रु के भ्रम से तथा साहुकार को चोर के भ्रम से दण्ड देता है वह उस पाँचवें क्रियास्थान का उदाहरण है ।। २१ ॥

विवेचन - मित्र को शत्रु और दण्डनीय को अदण्डनीय समझ लेना दृष्टिविपर्यास है।

अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसा-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे आय-हेउं वा, णाइ-हेउं वा, अगार-हेउं वा, परिवार-हेउं वा, सयमेव मुसं वयइ, अण्णेण वि मुसं वाएइ, मुसं वयंतं पि अण्णं समणुजाणइ; एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। छट्ठे किरिय-ट्ठाणे मोसा-वत्तिए त्ति आहिए ।। २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - मोसावत्तिए - मृषा प्रत्ययिक, **सयमेव** - स्वयं, **मुसं** - मृषा, **वयइ** - बोलता है **वाएइ** - बोलाता है, **वयंतं** - बोलते हुए को, **समणुजाणइ** - अच्छा जानता है ।

भावार्थ - जो पुरुष अपने ज्ञातिवर्ग, घर तथा परिवार आदि के लिये स्वयं झूठ बोलता है अथवा दूसरे से झूठ बोलाता है तथा झूठ बोलते हुए को अच्छा मानता है उसको मिथ्या भाषण से उत्पन्न सावद्य कर्म का बन्ध होता है यही छट्ठे क्रियास्थान का स्वरूप है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - इसके पूर्व जो पाँच क्रियास्थान कहे गये हैं उनमें प्रायः प्राणियों का घात होता है इसलिये उनको दण्डसमादान कहा है परन्तु छट्ठे क्रियास्थान से लेकर १३ वें क्रियास्थान तक के भेदों में प्रायः प्राणियों का घात नहीं होता है अतः इनको दण्डसमादान न कह कर क्रियास्थान कहा है ।

अहावरे सत्तमे किरिय-ट्ठाणे अदिण्णादाण-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवार-हेउं वा सयमेव अदिण्णं आदियइ, अण्णेण वि अदिण्णं आदियावेइ, अदिण्णं आदियंतं अण्णं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । सत्तमे किरिय-ट्ठाणे अदिण्णादाण-वत्तिए त्ति आहिए ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अदिण्णादाणवत्तिए** - अदत्तादान प्रत्ययिक **अदिण्णं** - अदत्त, **आदियइ** - ग्रहण करता है, **आदियावेइ** - ग्रहण करवाता है, **आदियंतं** - ग्रहण करते हुए को।

भावार्थ - मालिक के द्वारा न दी हुई वस्तु को ले लेना अदत्तादान कहलाता है । इसी को चोरी कहते हैं । जो पुरुष अपने स्वार्थ के लिए अथवा अपने परिवार आदि के लिए मालिक की आज्ञा के बिना उसकी वस्तु को ले लेता है अथवा दूसरे के द्वारा ग्रहण करवाता है तथा ऐसा कार्य करने वालों को अच्छा जानता है उसको अदत्तादान यानी चोरी करने का पाप लगता है । यही सातवें क्रियास्थान का स्वरूप है ।

विवेचन - वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना वस्तु को ले लेना अदत्तादान कहलाता है। इससे उसके स्वामी को दुःख होता है। इसलिये उसको क्रिया स्थान (पापस्थान) कहा है।

अहावरे अट्ठमे किरिय-ट्ठाणे अज्झत्थ-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेइ सय-मेव हीणे, दीणे, दुट्ठे, दुम्मणे ओहय-मणसंकप्पे, चिंता-सोग-सागर-संपविट्ठे, करयल-पल्हत्थ-मुहे, अट्टज्झाणोवगए, भूमि-गय-दिट्ठिए, झियाइ, तस्स णं अज्झत्थया आसंसइया चत्तारि ठाणा एव-माहिज्जंति, तंजहा - कोहे, माणे, माया, लोहे, अज्झत्थ-मेव कोह-माण-माया-लोहे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । अट्ठमे किरिय-ट्ठाणे अज्झत्थ-वत्तिए त्ति आहिए ।। २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अज्झत्थवत्तिए** - अध्यात्म प्रत्ययिक, **विसंवादेइ** - क्लेश देने वाला, **दुम्मणे** - दुर्मनस्क, **ओहयमणसंकप्पे** - मन में बुरा संकल्प करने वाला, **चिंतासोगसागरसंपविट्ठे** - चिंता और शोक के सागर में डूबा हुआ, **करयलपल्हत्थ मुहे अट्टज्झाणोवगए** - हथेली को मुंह पर रख आर्त्तध्यान करता हुआ, **भूमिगयदिट्ठिए** - पृथ्वी को देखते हुए, **आसंसइया** - निःसंदेह ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - बहुत से पुरुष ऐसे भी देखे जाते हैं - जो तिरस्कार आदि के बिना ही तथा धन नाश, पुत्र नाश, पशु नाश आदि दुःख के कारणों के बिना ही हीन, दीन दुःखित और चिन्ताग्रस्त होकर आर्त्तध्यान करते रहते हैं । वे विवेकहीन पुरुष कभी भी धर्मध्यान नहीं करते हैं । निःसन्देह ऐसे पुरुषों के हृदय में क्रोध, मान, माया और लोभ का प्राबल्य रहता है । ये चार भाव ही उनकी उक्त अवस्था के कारण हैं । ये चारों भाव आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं । ये मन को दूषित करने वाले और विचार को मलिन करने वाले हैं । जिस पुरुष में ये प्रबल होकर रहते हैं उसको आध्यात्मिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है, यही आठवें क्रियास्थान का स्वरूप है ।। २४ ॥

विवेचन - क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार आध्यात्मिक दोष हैं। इन दोषों से उत्पन्न होने के कारण इसको आध्यात्मिक क्रिया स्थान कहा है। ये क्रोधादि तो प्रकट दिखाई नहीं देते किन्तु इन से उत्पन्न होने वाली आर्त्तध्यान रूप हीन दीन आदि अवस्था प्रकट दिखाई देती है। ये आर्त्तध्यान रूप होने से कर्म बन्धन का कारण है ॥

अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माण-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे जाइ-मएण वा, कुल-मएण वा, बल-मएण वा, रूव-मएण वा, तव-मएण वा, सुय-मएण वा, लाभ-मएण वा, इस्सरिय-मएण वा, पण्णा-मएण वा, अण्णयरेण वा, मय-ट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेइ, णिंदेइ, खिंसइ, गरहइ, परिभवइ, अवमण्णेइ; इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठ-जाइ-कुल-बलाइ-गुणोववेए-एवं अप्पाणं समुक्कस्से, देह-च्चुए कम्म-बितिए अवसे पयाइ । तं जहा-गब्भाओ गब्भं, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं णरगाओ णरगं, चंडे, थद्धे, चवले, माणी यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । णवमे किरिय-ट्ठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए ।। २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - **माणवत्तिए** - मान प्रत्ययिक, **इस्सरियमएण** - ऐश्वर्य मद से, **पण्णामएण** - प्रज्ञा (बुद्धि) मद से, **मयट्ठाणेण** - मद स्थान से, **परिभवइ** - तिरस्कार करता है, **अवमण्णेइ** - अवज्ञा करता है, **विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणोववेए**- विशिष्ट जाति कुल बल आदि गुणों से युक्त, **समुक्कसे** - उत्कृष्ट मानता है, **गब्भाओ** - एक गर्भ से, **गब्भं** - दूसरे गर्भ को, **चंडे** - चंड-क्रोधी, **थद्धे** - स्तब्ध-अभिमानी, **चवले** - चपल ।

भावार्थ - जाति, कुल, बल, रूप, तप, शास्त्र, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद से मत्त होकर जो पुरुष दूसरे प्राणियों को तुच्छ गिनता है तथा अपने आप को सबसे श्रेष्ठ मानता हुआ दूसरे का तिरस्कार करता है उसको मान प्रत्ययिक कर्म का बन्ध होता है । ऐसा पुरुष इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में उसकी दशा बुरी होती है। वह बार बार जन्म लेता है और मरता है तथा एक नरक से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निकल कर दूसरे नरक में जाता है । उसे क्षण भर भी दुःख से मुक्ति नहीं मिलती है । यदि वह दैववश इस मनुष्य लोक में जन्म लेता है तो भी भयंकर नम्रता रहित चञ्चल और घमण्डी होता है ।

विवेचन - ठाणाङ्ग सूत्र के आठवें ठाणे में मद (मान) के आठ भेद बतलाये गये हैं। यथा - जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभभद और ऐश्वर्य मद। इन आठ मदों से मान की उत्पत्ति होती है जिससे मानी आदमी अपने आप को सर्वश्रेष्ठ और ऊंचा समझता है और दूसरों को अपने से हीन तुच्छ गिनता है और उनकी अवज्ञा, निन्दा, अपमान, घृणा करता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि वह लम्बे समय तक जन्म मरण के चक्र में परिभ्रमण करता हुआ दुःख पाता रहता है।

मानी अपने मान में, तुच्छ गिने संसार।
ज्ञानी अपने ज्ञान में, उसे समझो निस्सार॥

अहावरे दसमे किरिय-ट्ठाणे मित्त-दोस-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहा णामए केइ पुरिसे माईहिं वा, पिईहिं वा, भाईहिं वा, भइणीहिं वा, भज्जाहिं वा, धूयाहिं वा, पुत्तेहिं वा, सुण्हाहिं वा, सद्धिं संवसमाणे तेसिं अण्णयरंसि अहा-लहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ, तं जहा-सीओदग वियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवइ, उसिणोदग-वियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवइ, अग्गिकाएणं कायं उवडहित्ता भवइ, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, णेत्तेण वा, तयाइ वा (कण्णेण वा छियाए वा) लयाए वा, (अण्णयरेण वा दवरएण वा) पासाइं उद्दालित्ता भवइ, दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, कायं आउट्टित्ता भवइ । तहप्पगारे पुरिस-जाए संवसमाणे दुम्मणा भवइ, पवसमाणे सुमणा भवइ । तहप्पगारे पुरिस-जाए दंड-पासी, दंड-गुरुए, दंड-पुरक्कडे, अहिए इमंसि लोगंसि, अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठि-मंसी यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। दसमे किरिय-ट्ठाणे मित्त-दोस-वत्तिए त्ति आहिए ।। २६ ॥

कठिन शब्दार्थ - **मित्तदोसवत्तिए** - मित्र दोष प्रत्ययिक, **अहालहुगंसि अवराहंसि** - किसी छोटे से अपराध के हो जाने पर, **गरुयं**- भारी, **णिवत्तेइ** - देता है, **सीओदगवियडंसि** - ठंडे जल में, **उच्छोलित्ता** - डालता (डूबोता) है, **ओसिंचित्ता** - सिंचन करता है, **उद्दालित्ता** - उधेड़ डालता है, **लेलूण** - ढेले से, **कवालेण** - कपाल से, **दंडगरुए** - भारी दंड देने वाला, **दंडपुरक्कडे** - दंड को आगे रखने वाला, **पिट्ठिमंसि** - चुगलखोर- परोक्ष में निंदा करने वाला ।

भावार्थ - जगत् में कोई ऐसे पुरुष होते हैं जो थोड़े अपराध में महान् दण्ड देते हैं। माता, पिता, भाई, भगिनी, स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू तथा कन्या के द्वारा थोड़ा अपराध होने पर भी वे उन्हें महान् दण्ड देते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। ठण्डक के दिनों में उन्हें बर्फ के समान ठंडे जल में गिरा देते हैं तथा गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर गर्म जल डाल कर कष्ट देते हैं एवं अग्नि गर्म लोहा या गर्म तेल छिड़क कर उनके शरीर को जला देते हैं तथा बेंत, रस्सी या छड़ी आदि से मार कर उनके शरीर का चमड़ा उखाड़ देते हैं । ऐसे पुरुष जब घर पर रहते हैं तब उसके परिवार वाले दुःखी रहते हैं और उनके घर से बाहर या परदेश चले जाने पर वे सुखी रहते हैं। ऐसे पुरुष इस लोक में अपना तथा दूसरे का दोनों का अहित करते हैं और मरने के पश्चात् वे परलोक में अत्यन्त क्रोधी और परोक्ष में निन्दा करने वाले होते हैं । ऐसे पुरुष मित्रदोषप्रत्ययिक क्रिया के स्थान हैं । यही दशवें क्रियास्थान का स्वरूप है॥ २६ ॥

विवेचन - ऐसा पुरुष अपने कुटुम्ब परिवार तथा मित्रजनों को थोड़ासा अपराध हो जाने पर भारी दण्ड देता है। इससे परिवार वाले तो दुःखी रहते ही है परन्तु वह स्वयं भी क्रोध से तमतमाया हुआ दुःखी रहता है। इस क्रिया के निमित्त से उसे पापकर्म का बन्ध होता है।

अहावरे एक्कारसमे किरिय-ट्ठाणे माया वत्तिए त्ति आहिज्जइ । जे इमे भवंति गूढायारा, तमोकसिया, उलुग-पत्त-लहुया, पव्वय-गुरुया, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउञ्जंति; अण्णहा संतं अप्पाणं अण्णहा मण्णंति; अण्णं पुट्ठा अण्णं वागरंति; अण्णं आइक्खियव्वं अण्णं आइक्खंति । से जहा णामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरइ, णो अण्णेणं णिहरावेइ, णो पडिविद्धंसेइ एवमेव णिण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो-अंतो रियइ, एव-मेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्टेइ, णो अहारिहं तवो-कम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ; माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ, णिंदइ, गरहइ, पसंसइ, णिच्चरइ, ण णियट्टइ, णिसिरियं दंडं छाएइ, माई असमाहड-सुहलेस्से या वि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । एक्कारसमे किरिय-ट्ठाणे माया-वत्तिए त्ति आहिए ।। २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - **गूढायारा** - गूढ आचार वाले, **तमोकसिया** - अंधेरे में-छिप कर बुरी क्रिया करने वाले, **उलूगपत्तलहुया** - उल्लू के पंख के समान हल्के, **पव्वयगुरुया** - पर्वत के समान भारी, **अणारियाओ** - अनार्य, **पउञ्जंति** - प्रयोग करते (बोलते) हैं, **अंतोसल्ले** - भीतरी शल्य वाला, **णिहरइ**- निकालता है, **पडिविद्धंसेइ** - नाश करता है, **विउट्टइ** - विवर्तन करता है, **पच्चायाइ** - जन्म लेता है, **णिच्चरइ** - ज्यादा असत् कार्य करता है, **णिसिरियं** - निकाले हुए, **असमाहडसुहलेस्से** - शुभलेश्या (विचार) से रहित ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - इस जगत् में बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं जो बाहर से सभ्य तथा सदाचारी प्रतीत होते हैं परन्तु छिप कर पाप करते हैं । वे लोगों पर अपना विश्वास जमाकर पीछे से उन्हें ठगते हैं । वे बिलकुल तुच्छ वृत्तिवाले होकर भी अपने को पर्वत के समान महान् समझते हैं । वे माया यानी कपट क्रिया करने में बड़े चतुर होते हैं। वे आर्य होते हुए भी दूसरे पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अनार्य भाषा का व्यवहार करते हैं। वे कोई एक दूसरा विषय पूछने पर अन्य विषय बताते हैं । कोई कोई अन्य मतावलम्बी आदि ऐसे धूर्त होते हैं कि - शास्त्रार्थ में वादी को परास्त करने के लिये तर्क मार्ग को सामने रख देते हैं तथा अपने अज्ञान को ढकने के लिये व्यर्थ शब्दाडम्बरों से समय का दुरुपयोग करते हैं । कपट के कार्यों से अपने जीवन को निन्दित करने वाले बहुत से मायावी अकार्यों में रत रहते हैं । जैसे कोई मूर्ख हृदय में गड़े हुए बाण को पीड़ा से डरकर स्वयं न निकाले तथा दूसरे के द्वारा भी न निकलवाये किन्तु उसे छिपा कर व्यर्थ ही दुःखी बना रहे इसी तरह कपटी पुरुष अपने हृदय के कपट को बाहर निकाल कर नहीं फेंकता है तथा अपने अकृत्य को निन्दा के भय से छिपाता है । वह अपने आत्मा को साक्षी बना कर उस अपने मायाचार की निन्दा भी नहीं करता है तथा वह अपने गुरु के निकट जाकर उस माया की आलोचना भी नहीं करता है । अपराध विदित हो जाने पर गुरुजनों के द्वारा निर्देश किए हुए प्रायश्चित्तों का आचरण भी वह नहीं करता है इस प्रकार कपटाचरण के द्वारा अपनी समस्त क्रियाओं को छिपाने वाले उस पुरुष की इस लोक में अत्यन्त निन्दा होती है उसका विश्वास हट जाता है, वह किसी समय दोष न करने पर भी दोषी माना जाता है, वह मरने के पश्चात् परलोक में नीच से नीच स्थान में जाता है । वह बार बार तिर्यञ्च योनि में जन्म लेता है। वह नरक का तो सदा पात्र होता रहता है। ऐसा पुरुष दूसरे को धोखा देकर लज्जित नहीं होता है अपितु प्रसन्नता का अनुभव करता है। वह दूसरे को ठग कर अपने को धन्य मानता है । उसकी चित्तवृत्ति सदा परवञ्चन में लीन रहती है उसके समस्त कार्य वञ्चनप्राय होते हैं । उसके हृदय में शुभभाव की प्रवृत्ति तो कभी होती ही नहीं। वह पुरुष मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का सेवन करने वाला है। यह ग्यारहवें क्रियास्थान का स्वरूप कहा गया है।। २७॥

विवेचन - कषाय में माया का तीसरा नम्बर है। इसको तीन शल्यों में से एक शल्य भी कहा है। शल्य का अर्थ है कांटा। जैसे कांटा पैर आदि में चुभ जाय और उसे न निकाला जाय तो वह हर वक्त पीड़ा पहुँचाता रहता है और खटकता रहता है। इसी प्रकार मायावी (कपटी) पुरुष द्वारा की हुई माया हर वक्त खटकती रहती है और उसे चारों तरफ से भय बना रहता है कि मेरी माया (कपट) कहीं प्रकट न हो जाय ? मायावी पुरुष का इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। वह दुर्गतियों में बार-बार परिभ्रमण करता रहता है। शास्त्रकार फरमाते हैं **"मायी पमाई पुणरेति गब्भं"** माया कपट का सेवन करने वाला प्रमादी पुरुष बारंबार जन्म मरण करता रहता है। अतः ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि माया का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में फरमाया है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"माया विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? माया विजएणं अज्जवं जणयइ। मायावेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ। ॥ ६९ ॥"

अर्थ - हे भगवन् ! माया का विजय (त्याग) करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर - माया का त्याग करने से सरलता की प्राप्ति होती है। मायावेदनीय कर्म का बन्ध नहीं होता है और पूर्व बन्धा हुआ हो तो उसकी निर्जरा हो जाती है। किसी हिन्दी कवि ने कहा है -

शुद्धि सरल की होत है, धर्म उसी को होत।
शीघ्र लहे निर्वाण को, घी सींची ज्यों ज्योत॥

अहावरे बारसमे किरिय-ट्ठाणे लोभ-वत्तिए त्ति आहिज्जइ । जे इमे भवंति, तंजहा-आरण्णिया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुई-रहस्सिया, णो बहु-संजया णो बहु-पडि-विरया, सव्व-पाण भूय जीव-सत्तेहिं ते अप्पणो सच्चा-मोसाइं एवं विउंजंति- अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अण्णे अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो, अण्णे परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो, अण्णे परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो, अण्णे उद्दवेयव्वा । एवमेव ते इत्थि-कामेहिं मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, गरहिया, अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउ-पंचमाइं छ-दसमाइं अप्पयरो वा, भुज्जयरो वा, भुंजित्तु भोग-भोगाइं, काल-मासे कालं किच्चा अण्णयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति । तओ विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एल-मूयत्ताए तमूयत्ताए जाइ-मूयत्ताए पच्चायंति । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ । दुवालसमे किरिय-ट्ठाणे लोभ-वत्तिए त्ति आहिए । इच्चेयाइं दुवालस किरिय-ट्ठाणाइं दविएणं समणेण वा माहणेण वा सम्मं सु-परिजाणियव्वाइं भवंति ।। २८ ॥

कठिन शब्दार्थ - आरण्णिया - आरण्यक-वन में निवास करने वाले, आवसहिया - आवसथिक-कुटी बना कर निवास करने वाले, गामंतिया - गांव के समीप रहने वाले, कण्हुईरहस्सिया- रहस्यमय साधना करने वाले, बहुसंजया - बहुसंयमी, बहु-पडिविरया - बहुप्रतिविरत-हिंसा से निवृत्त, सच्चामोसाइं - सत्य मृषा, अज्जावेयव्वो - आज्ञापनीय-आज्ञा देने योग्य, परिघेतव्वो- दास होने योग्य, परितावेयव्वो - परितापनीय, उद्दवेयव्वो - उपद्रव (मारे जाने) के योग्य, आसुरिएसु - असुर लोक में, किब्बिसिएसु - किल्विषिक, एलमूयत्ताए - बकरे की तरह गूंगा, तमूयत्ताए - जन्मान्ध, जाइमूयत्ताए- जन्म से गूंगा ।

भावार्थ - कोई पाखण्डी जंगल में निवास करते हैं और कन्द मूल फल खाकर अपना निर्वाह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, कोई कोई वृक्ष के मूल में रहते हैं और कोई कुटी बना कर निवास करते हैं। कोई ग्राम के आश्रय से अपना निर्वाह करने के लिए ग्राम के आसपास निवास करते हैं। ये पाखण्डी लोग यद्यपि त्रस प्राणी का घात नहीं करते हैं तथापि एकेन्द्रिय जीवों के घात से ये अपना निर्वाह करते हैं। तापस आदि प्रायः इसी तरह के होते हैं । ये लोग द्रव्य से तो कई व्रतों का आचरण करते हैं परन्तु भाव से एक भी व्रत का पालन नहीं करते हैं। भावरूप व्रतों के पालन का कारण सम्यग्दर्शन है वह इनमें नहीं होता है इसलिये ये भाव से व्रतहीन हैं । ये पाखण्डी लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए बहुत सी कल्पित बातें लोगों से कहते हैं। इनकी बातें कुछ झूठ और कुछ सत्य होती है। ये कहते हैं कि – "मैं ब्राह्मण हूँ इसलिए मैं डंडा आदि से ताड़न करने योग्य नहीं परन्तु दूसरे शूद्र आदि डंडा आदि से ताड़न करने योग्य हैं इनके आगम का यह वाक्य इस बात को स्पष्ट कर रहा है, जैसे कि – "**शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं जपेत् किञ्चिद् दद्यात्**" तथा "**क्षुद्र सत्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजयेत्**" अर्थात् शूद्र को मार कर प्राणायाम करे और मन्त्र जपे अथवा कुछ दान दे दे एवं बिना हड्डी के प्राणियों को एक गाड़ी भर भी मार कर ब्राह्मण को भोजन करा दे। इसी तरह वे कहते हैं कि – हम वर्णों में श्रेष्ठ हैं इसलिए हम चाहे भारी से भारी भी अपराध करें तो हमको लाठी आदि के द्वारा दण्ड न देना चाहिए परन्तु दूसरे को वध आदि दण्ड देने में भी कोई दोष नहीं है । इस प्रकार असम्बद्ध प्रलाप करने वाले ये अन्यतीर्थी विषमदृष्टि हैं इनके पास न्याय बिल्कुल नहीं है अन्यथा अपने को अदण्डनीय और दूसरे प्राणी को दण्डनीय ये कैसे कहते ? इनमें प्रथम व्रत तो होता ही नहीं साथ ही शेष चार व्रत भी नहीं होते हैं । ये स्त्रीभोग में अत्यन्त आसक्त रहते हैं अतः शब्दादि विषयों में भी इनकी आसक्ति आवश्यक है । दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि – "**मूलमेयमहम्मस्स महादोस समुस्सयं**" अर्थात् स्त्री अधर्म का मूल और दोषों की राशि है अतः जो स्त्री में आसक्त है वह सब विषयों में आसक्त है । ऐसे स्त्रीभोग में आसक्त अन्यतीर्थी कुछ काल तक थोड़ा या ज्यादा विषयों को भोग कर मृत्यु के समय शरीर को छोड़कर किल्विषी देवता होते हैं। वहां से जब इनका पतन होता है तब ये मनुष्यलोक में आकर जन्मान्ध, गूंगा और अज्ञानी होते हैं । ऐसे अन्यतीर्थियों को लोभप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है अतः विवेकी साधु को अर्थदण्ड से लेकर लोभप्रत्ययिक तक के १२ क्रियास्थानों को कर्मबन्ध का कारण जान कर सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।। २८ ॥

विवेचन – यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ से होने वाले कर्म का बन्ध तथा इससे पहले हिंसा, झूठ, चोरी आदि से होने वाले पाप कर्म बन्ध का वर्णन किया गया है। सामान्य रूप से बन्ध के दो भेद किये गये हैं। यथा–साम्परायिक और ऐर्यापथिक। कषाय के निमित्त होने वाले कर्मबन्ध को साम्परायिक कर्मबन्ध कहते हैं। क्रिया स्थान के उपरोक्त बारह भेद साम्परायिक कर्मबन्ध में जाते हैं। अतः ये बारह ही स्थान सर्वथा त्याग करने योग्य हैं।

अहावरे तेरसमे किरिय-ट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ । इह खलु अत्तत्ताए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवुडस्स अणगारस्स इरिया-समियस्स, भासा-समियस्स, एसणा-समियस्स, आयाण-भण्ड-मत्त णिक्खेवणा-समियस्स, उच्चारपासवण-खेलसिंघाण जल्लपारिट्ठावणिया समियस्स, मण-समियस्स, वय-समियस्स, काय-समियस्स, मण-गुत्तस्स, वय-गुत्तस्स, काय-गुत्तस्स, गुत्तिंदियस्स, गुत्तबंभयारिस्स, आउत्तं गच्छमाणस्स, आउत्तं चिट्ठमाणस्स, आउत्तं णिसीयमाणस्स, आउत्तं तुयट्टमाणस्स, आउत्तं भुंजमाणस्स, आउत्तं भासमाणस्स, आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पाय-पुंछणं गिण्हमाणस्स वा, णिक्खिवमाणस्स वा, जाव चक्खुपम्ह-णिवाय-मवि अत्थि विमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया णाम कज्जइ। सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा, बितीय-समए वेइया, तइय-समए णिज्जिण्णा, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया, वेइया णिज्जिण्णा, सेयकाले अकम्मे यावि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । तेरसमे किरिय-ट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ ।

से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा अरिहंता, भगवंता, सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरिय-ट्ठाणाइं भासिंसु वा, भासेंति वा, भासिस्संति वा, पण्णविंसु वा, पण्णवेंति वा, पण्णविस्संति वा; एवं चेव तेरसमं किरिय-ट्ठाणं सेविंसु वा, सेवंति वा, सेविस्संति वा ।। २९ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अत्तताए** - आत्म हित के लिए, **इरियासमियस्स** - ईर्या समिति से युक्त, **मणगुत्तस्स** - मन गुप्ति से युक्त, **गुत्तिंदियस्स** - गुप्तेन्द्रिय-इन्द्रियों का निग्रह करने वाला, **आउत्तं** - उपयोग पूर्वक, **चक्खुपम्हणिवायमवि** - आँख की पलक झपकाते हुए भी, **विमाया** - विमात्रा-विविध मात्रा वाली, **सुहुमा** - सूक्ष्म, **बद्धा** - बद्ध, **पुट्ठा** - स्पृष्ट, **वेइया** - वेदित, **उदीरिया** - उदीरित, **णिज्जिण्णा** - निर्जीर्ण, **अकम्मे** - अकर्म ।

भावार्थ - आत्मा का अपने सच्चे स्वरूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाना आत्मभाव, मुक्ति अथवा निर्वाण कहलाता है । यह अवस्था जीव को कभी प्राप्त न हुई किन्तु वह अनादिकाल से दूसरे स्वरूप में स्थित होता हुआ चला आ रहा है। इसी कारण ही इसको कभी सत्य आत्मसुख की प्राप्ति नहीं हुई है। जब शुभ कर्म के उदय से जीव को यह अभिलाषा उत्पन्न होती है कि - "मैं अपने सत्य आत्मसुख को प्राप्त करूं" तब वह किसी भी सांसारिक सुख में आसक्त नहीं होता है किन्तु सब सुखों को त्याग कर उस नित्य सुख की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होता है। उस समय उसको उत्तमोत्तम रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द प्रलोभित नहीं कर सकते । गृहवास तो उसको पाश बन्धन के समान प्रतीत होता है। वह पुरुष माता, पिता और भाई आदि सभी सम्बन्धियों से ममता को उतार कर दीक्षा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण करता है और शास्त्रानुसार प्रमाद रहित होकर अपनी प्रव्रज्या का पालन करता हुआ जीवन मरण में निःस्पृह होकर अपनी आयु को व्यतीत करता है । वह कभी भी आस्रवों का सेवन नहीं करता है सभी इन्द्रियों को उनके विषय से निवृत्त करके पाप से आत्मा की खूब रक्षा करता है । वह चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते, जागते सदा ही जीवों की विराधना का ध्यान रखता हुआ प्रवृत्ति करता है। वह बिना उपयोग के अपने नेत्र के पलकों को गिराना भी अच्छा नहीं समझता है वह अपने भाण्डोपकरण को लेते और रखते समय तथा बड़ी नीति लघु नीति एवं कफ तथा नासिका के मल को त्यागते समय जीवों की विराधना का ध्यान रखता हुआ ही अपनी प्रवृत्ति करता है । वह अपने मन को बुरे विचार में कभी नहीं जाने देता है तथा वाणी को वश में रखते हुए कभी भी सावद्य भाषा का उच्चारण नहीं करता है । शरीर को वह इस प्रकार स्थिर रखता है कि कभी भी उसे बुरी प्रवृत्ति में नहीं जाने देता। वह नव गुप्तियों के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस प्रकार सब प्रकार से पाप की क्रियाओं से बचते रहने पर भी उस पुरुष को तेरहवीं क्रिया ऐर्यापथिकी नहीं बचती किन्तु लग जाती है कारण यह है कि – वह क्रिया बड़ी सूक्ष्म है इसलिये धीरे से भी पलक गिराने पर भी लग जाती है केवलज्ञानी को भी इस क्रिया का बन्ध होता है । केवलज्ञानी स्थाणु की तरह निश्चल रहता है इसलिए उसको यह क्रिया न लगनी चाहिए यह शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे अग्नि के ऊपर चढ़ाया हुआ पानी बराबर फिरता रहता है इसी तरह मन, वचन और काय के योग जिसमें विद्यमान हैं वह जीव सदा ही चलायमान रहता है। वह स्थाणु की तरह निश्चल होकर रहे यह सम्भव नहीं है अतः केवलज्ञानी को भी इस क्रिया का बन्ध होता है।

इस ऐर्यापथिकी क्रिया के द्वारा जो कर्म-बन्ध होता है उसकी स्थिति बहुत थोड़ी होती है । वह प्रथम समय में बाँधा जाकर उसी समय में स्पर्श किया जाता है और द्वितीय समय में विपाक का अनुभव हो कर तृतीय समय में निर्जीर्ण हो जाता है । अतः इसकी स्थिति की मर्यादा दो समय की है । इतनी कम स्थिति जो इसकी मानी जाती है इसका कारण यह है कि – योगों के कारण कर्मों का बन्ध होता है और कषाय के कारण उसकी स्थिति होती है इसलिये जहाँ कषाय नहीं है वहाँ बन्ध की स्थिति होना संभव नहीं है इसलिए साम्परायिक कर्मबन्ध के समान इसकी चिरकाल की स्थिति नहीं होती है। आशय यह है कि – योग के कारण इसका बन्ध तो हो जाता है परन्तु कषाय न रहने के कारण इसकी स्थिति नहीं होती है अतएव इसे 'बद्धस्पृष्ट' कहते हैं अर्थात् यह बन्ध और स्पर्श को साथ ही उत्पन्न करती है । इसका विपाक भी एक मात्र सुख रूप है वह सुख देवताओं के सुख से भी कई गुण उच्च है। यही ऐर्यापथिकी क्रिया का स्वरूप है। जो पुरुष उपशान्त कषायी वीतराग और क्षीण कषायी वीतराग हैं उनको इसी क्रिया का बन्ध होता है, शेष प्राणियों को साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है । अतः शेष प्राणी ऐर्यापथिकी क्रिया को छोड़ कर पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों में विद्यमान होते हैं। पूर्वोक्त १२ प्रकार के क्रियास्थानों में रहने वाले प्राणियों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से कोई भी एक अवश्य विद्यमान रहते हैं इसलिये उनको साम्परायिक कर्म बन्ध होता है परन्तु जिसमें प्रमाद और कषाय आदि नहीं हैं किन्तु एक मात्र योग विद्यमान है उसको ऐर्यापथिकी क्रिया का बन्ध होता है ।

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि - यह जो तेरह क्रियास्थानों का वर्णन मैंने किया है यह सब तीर्थंकरों के द्वारा कहा हुआ है अतः इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिये ।। २९ ॥

विवेचन - गुणस्थानों की दृष्टि से क्रिया के दो भेद किये गये हैं। पहले गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक के जीवों में साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है। पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांचों में से कोई न कोई अवश्य विद्यमान रहता है और जहाँ तक कषाय है वहाँ तक साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान से आगे तेरहवें गुणस्थान तक कषाय का उदय नहीं रहता सिर्फ योग विद्यमान रहता है। इसलिये योगों के निमित्त से वहाँ सिर्फ ऐर्याथिक कर्म का बन्ध होता है औ वह भी सुख और साता रूप केवल प्रदेश बन्ध होता है। स्थिति बन्ध नहीं। क्योंकि स्थिति बन्ध वहीं होता है जहां कषाय विद्यमान होता है।

ऐर्यापथिक क्रिया इतनी सूक्ष्म होती है कि प्रथम समय में इसका बन्ध और स्पर्श हो जाता है। दूसरे समय में वेदन और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है। इस दृष्टि से कषाय रहित वीतराग पुरुष को भी सयोग अवस्था तक इस क्रिया का बन्ध होता है। केवलज्ञानी सयोग अवस्था में सर्वथा निश्चल और निष्कम्प नहीं रह सकते क्योंकि उनमें मन, वचन, काया के योग विद्यमान रहते हैं और ऐर्यापथिक क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि धीरे से आंख की पलक गिराने पर भी यह क्रिया लग जाती है। चौदहवें गुणस्थान में यह क्रिया नहीं लगती है क्योंकि वह अयोगी अवस्था है।

अदुत्तरं च णं पुरिस-विजयं विभंग-माइ-क्खिस्सामि । इह खलु णाणा-पण्णाणं, णाणा-छंदाणं, णाणा-सीलाणं, णाणा-दिट्ठीणं णाणा-रुईणं, णाणा-रंभाणं, णाणा-ज्झवसाण-संजुत्ताणं, णाणाविह-पाव-सुय-ज्झयणं एवं भवइ । तं जहा- १. भोमं २. उप्पायं ३. सुविणं ४. अंतलिक्खं ५. अंगं ६. सरं ७. लक्खणं ८. वंजणं ९. इत्थि-लक्खणं १०. पुरिस-लक्खणं ११. हय-लक्खणं १२. गय-लक्खणं १३. गोण-लक्खणं १४. मिंढ-लक्खणं १५. कुक्कड-लक्खणं १६. तित्तिर-लक्खणं १७. वट्टग-लक्खणं १८. लावय-लक्खणं १९. चक्क-लक्खणं २०. छत्त-लक्खणं २१. चम्म-लक्खणं २२. दंड-लक्खणं २३. असि-लक्खणं २४. मणि-लक्खणं २५. कागिणी-लक्खणं, २६. सुभगाकरं २७. दुब्भगाकरं २८. गब्भकरं २९. मोहणकरं ३०. आहव्वणिं ३१. पागसासणिं ३२. दव्वहोमं ३३. खत्तिय-विज्जं ३४. चंद-चरियं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३५. सूर-चरियं ३६. सुक्क-चरियं ३७. बहस्सइ-चरियं ३८. उक्का-पायं ३९. दिसा-दाहं ४०. मिय-चक्कं ४१. वायस-परिमंडलं ४२. पंसु-वुट्ठिं ४३. केस-वुट्ठिं ४४. मंस-वुट्ठिं ४५. रुहिर-वुट्ठिं ४६. वेत्तालिं ४७. अद्ध-वेतालिं ४८. ओसोवणिं ४९. तालुग्घाडणिं ५०. सोवागिं ५१. सोवरिं ५२. दामिलिं ५३. कालिङ्गिं ५४. गोरिं ५५. गंधारिं ५६. ओवतणिं ५७. उप्पयणिं ५८. जंभणिं ५९. थम्भणिं ६०. लेसणिं ६१. आमय-करणिं ६२. विसल्लकरणिं ६३. पक्कमणिं ६४. अंतद्धाणिं ६५. आयमिणिं, एवमाइयाओ विज्जाओ अण्णस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अण्णेसिं वा विरूव-रूवाणं काम-भोगाणं हेउं पउंजंति, तिरिच्छं ते विज्जं सेवेंति, ते अणारिया, विप्पडिवण्णा काल-मासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति । तओ वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तम अंधयाए पच्चायंति ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - **णाणाच्छंदाणं** - नाना अभिप्राय वाले, **णाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं** - नाना अध्यवसाय वाले, **णाणाविह पावसुयज्झयणं** - नाना प्रकार के पाप श्रुत का अध्ययन, **भोमं** - भूगर्भ शास्त्र, **उप्पायं** - उत्पात शास्त्र, **सुविणं** - स्वप्न शास्त्र, **अंतलिक्खं** - अंतरिक्ष, **सरं** - स्वर, **लक्खणं** - लक्षण, **वंजण** - व्यंजन, **मिंडलक्खणं** - मेष लक्षण, **कागिणी लक्खणं** - काकिणी लक्षण, **सुभगाकरं**-सुभगाकर, **दुभगाकरं** - दुर्भगाकर-सौभाग्य को दुर्भाग्य करने वाली विद्या, **गब्भाकरं** - गर्भाधान की विद्या, **मोहणकरं** - मोहनकर वाजीकरण विद्या, **पागसासणि** - पाक शासनी-इन्द्रजाल विधा, **दव्वहोमं** - द्रव्यहोम-हवन विद्या, **चंदचरियं** - चन्द्र चरित-चंद्रमा की गति आदि को बताने वाली विद्या, **बहस्सइ चरियं** - बृहस्पति चरित, **उक्कापायं** - उल्कापात, **दिसादाहं** - दिशादाह, **मियचक्कं** - मृगचक्र शास्त्र, **वायस परिमंडलं** - कौए आदि पक्षियों के शब्दों का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र **पंसुवुट्ठि** - पांसुवृष्टि-धूल की वर्षा का फल बताने वाला शास्त्र, **वेतालिं** - वैताली विद्या, **ओसोवणिं** - अवस्वापिनी, **तालुग्घाडणिं** - तालोद्घाटिनी, **सोवागिं** - श्वपाकी-चांडालों की विद्या, **ओवतणिं**-अवपतनी, **उप्पयणिं** - उत्पतनी, **जंभणिं** - जृम्भणी, **थंभणिं** - स्तम्भनी, **लेसणिं** - श्लेषणी, **आमयकरणिं** - रोगी बनाने वाली, **विसल्लकरणिं** - विशल्यकरणी-नीरोग करने वाली, **पक्कमणिं**-प्रक्रामणी-भूत दूर करने वाली, **अंतद्धाणिं** - अन्तर्धानी-अन्तर्धान होने की ।

भावार्थ - इस जगत् में प्रत्येक मनुष्यों की बुद्धि भिन्न भिन्न होती है । किसी को कोई वस्तु अच्छी लगती और किसी को कोई । आहार, विहार, शयन, आसन, भूषण, वस्त्र, यान, वाहन, गान और वाद्य आदि में सब की रुचि समान नहीं होती इसलिये एक जिसको पसन्द करता है दूसरा उसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करता है । रोजगार धन्धे आदि भी सब, सब को पसन्द नहीं पड़ते हैं अतएव कोई खेती करता है, कोई नौकरी करता है, कोई शिल्प करता है और कोई वाणिज्य आदि करता है । किसी का शुभ अध्यवसाय होता है और किसी का अशुभ होता है । जो पुरुष प्रबल पुण्य के उदय से उत्तमविवेक सम्पन्न है वह तो सांसारिक पदार्थों में आसक्त न रहने के कारण मिथ्याशास्त्रों का अध्ययन नहीं करता है परन्तु जो पुरुष काम भोग में आसक्त और परलोक की चिन्ता से रहित हैं वे सांसारिक भोग के साधनों की प्राप्ति तथा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए नानाविध पापमय विद्याओं का अभ्यास करते हैं । यद्यपि इन पापमय विद्याओं के अध्ययन से वे इस लोक के पदार्थों को सुगमता से प्राप्त करके उनका उपभोग करते हैं तथापि उनका परलोक बिगड़ जाता है । आर्य जाति में जन्म लेकर भी जो पुरुष इन विद्याओं में आसक्त है उसे भाव से अनार्य समझना चाहिए । परलोक की चिन्ता को भूलकर जो केवल इस लोक के भोग साधनों को उत्पन्न करने वाली कपटप्राय विद्याओं में आसक्त हैं वे भ्रम में पड़े हैं । ये विद्यायें परलोक के प्रतिकूल है इसलिए जो इनका अभ्यास करते हैं वे मरने के पश्चात् असुर लोक में किल्विषी होते हैं । वहां की अवधि पूर्ण होने पर वे मनुष्य लोक में जन्म लेकर गूंगे और जन्मान्ध होते हैं अतः विवेकी पुरुष इन विद्याओं के अभ्यास से दूर रहते हैं ।

विवेचन - ऊपर कितनी विद्याओं के नाम बतलाये गये हैं उनमें से कुछ विद्याओं के अर्थ कठिन शब्दार्थ में दे दिये गये हैं बाकी विद्याओं का अर्थ उनके शब्दों से ही प्रकट हो जाता है। ये सब पाप विद्याएं हैं अतः मोक्षार्थी पुरुष को इन विद्याओं का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

से एगइओ आय-हेउं वा, णाय-हेउं वा, सयण-हेउं वा, अगार हेउं वा, परिवार-हेउं वा, णायगं वा, सहवासियं वा, णिस्साए अदुवा अणुगामिए, १ अदुवा उवचरए २ अदुवा पडिपहिए ३ अदुवा संधि-छेदए ४ अदुवा गंठि-छेदए ५ अदुवा उरब्भिए ६ अदुवा सोवरिए ७ अदुवा वागुरिए ८ अदुवा साउणिए ९ अदुवा मच्छिए १० अदुवा गो-घायए ११ अदुवा गोवालए १२ अदुवा सोवणिए १३ अदुवा सोवणियंतिए।।१४॥

एगइओ आणुगामिय-भावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ; इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ उवचरय-भावं पडिसंधाय, तमेव उवचरियं हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ; इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ पाडिपहिय-भावं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता, छेत्ता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ; इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ संधि-छेदग-भावं पडिसंधाय, तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ गंठि-छेदग-भावं पडिसंधाय, तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ उरब्भिय भावं पडिसंधाय, उरब्भं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ । (एसो अभिलावो सव्वत्थ)

से एगइओ सोयरिय-भावं पडिसंधाय, महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ वागुरिय-भावं पडिसंधाय, मियं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ सउणिय-भावं पडिसंधाय, सउणिं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ मच्छिय-भावं पडिसंधाय, मच्छं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ गो-घाय-भावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ गोवाल-भावं पडिसंधाय, तमेव गोवालं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ सोवणिय-भावं पडिसंधाय, तमेव सुणगं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ सोवणियंतिय-भावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेइ; इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ वा, अण्णयरं वा, तसं पाणं हंता जाव आहारं आहरइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ॥ ३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **आयहेउं** - अपने लिए, **णायहेउं** - ज्ञाति के लिये, **सयणहेउं** - स्वजन हेतु, **णिस्साए** - निमित्त **अणुगामिए** - आनुगामिक, **उवचरए** - उपचरक (सैवक) **पडिपहिए** - प्रतिपथिक-सम्मुख आने वाला, **संधिछेदए** - संधिछेदक-सेंध लगाने वाला, **गंठिछेदए** - गंठिछेदक-गांठ काटने वाला, **ओरब्भिए** - भेड (मारक) चराने वाला, **सोवरिए** - सूअर चराने वाला, **वागुरिए** - मृगादि को पकडने वाला, **साउणिए** - चीडीमार, **मच्छिए** - मछुआरा, **सोवणिए** - कुत्तों को पालने वाला, **सोवणियंतिए** - पशुओं का शिकार करने वाला, **अन्नाणं** - अपने आप को, **उवक्खाइत्ता**- प्रख्यात-प्रसिद्ध ।

भावार्थ - जिस मनुष्य को परलोक का ध्यान नहीं है वह क्या-क्या अनर्थ नहीं कर सकता है ? जो पुरुष सांसारिक विषय भोगों को उपार्जन करना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य समझते हैं उनके लिये कार्य और अकार्य कोई वस्तु नहीं है। वे भारी से भारी पाप करने में जरा भी संकोच नहीं करते हैं। वे झूठ बोल कर, चोरी करके, विश्वासघात के द्वारा नरहत्या, स्त्रीहत्या, बालहत्या, पशुहत्या इत्यादि पापों के आचरण से सांसारिक सुख की सामग्री को उपार्जन करते हैं । वे दया को नाम भी नहीं जानते हैं । क्रूरता निष्ठुरता उनके नस नस में भरी रहती है । वे आगे कहे जाने वाले चौदह प्रकार के अनर्थों का सेवन करके अपने मनुष्य जीवन को पापमय बना देते हैं। वे जगत् में महापापी कह कर संबोधित किये जाते हैं। वे जिन पापमय कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे संक्षेपतः ये हैं -

१. कोई मनुष्य किसी धनवान् व्यक्ति को किसी ग्राम आदि में जाता हुआ देखकर उसका धन हरण करने के लिए उसके पीछे-पीछे जाता है, जब वह अपने पाप कार्य के योग्य काल और स्थान को प्राप्त करता है तब वह उस धनवान् को मारपीट कर उसका धन छीन लेता है ।

२. कोई धनवान् का नौकर बन कर उसकी सेवा करता है परन्तु वह धन हरण करने का मौका पाकर उसे मार कर उसका धन हरण कर लेता है ।

३. कोई धनवान् को किसी दूसरे ग्राम से आता हुआ सुन कर उसके सम्मुख जाता है और अवसर पाकर उसे मारपीट कर उसका धन लूट लेता है ।

४. कोई धनवानों के घर में सेंध लगा कर उसमें प्रवेश करता है और उसके धन को हरण करके अपना और अपने परिवार का पालन करता है ।

५. कोई धनवानों को असावधान देख कर उनकी गाँठ काटता है ।

६. कोई भेड़ों को पालता हुआ उनके मांस और बालों को बेच कर अपना आहार उपार्जन करता है । वह दूसरे प्राणियों का भी घात करता है केवल भेड़ों का ही नहीं इसलिये वह महापापी है ।

७. कोई सुअरों को पाल कर उनके बाल तथा मांस से अपना आहार उपार्जन करता है । श्वपच चाण्डाल और खट्टिक जाति के लोग प्रायः यह कार्य करते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. कोई जाल लगा कर मृग आदि प्राणियों को मारा करता है और उसके मांस को बेच कर अपनी जीविका चलाता है ।

९. कोई लावक आदि पक्षियों को फंसा कर अपना तथा अपने स्वजन वर्ग का पालन करता है ।

१०. कोई मछली मार कर अपना आहार उत्पन्न करता है ।

११. कोई क्रूरकर्मी जीव गायों का वध करके उनके मांस और चर्म से अपना आहार उत्पन्न करता है ।

१२. कोई गोपालन का कार्य स्वीकार करके किसी गाय पर क्रोधित होकर उसे टोले से बाहर निकाल कर लाठियों से पीटता है ।

१३. कोई कुत्तों को तथा दूसरे प्राणियों को मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है ।

१४. कोई कुत्तों के द्वारा जानवरों का घात करके अपना निर्वाह करता है।

ये चौदह प्रकार के पापमय कार्य महापापी पुरुषों के द्वारा किये जाते हैं। ये सभी नरकगामी और महापातकी हैं। अतः विवेकी पुरुष को इन पापकार्यों से सदा बचते रहना चाहिए।। ३१ ॥

से एगइओ परिसा-मज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविंजलं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खल-दाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ, अण्णेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं वि अण्णं समणुजाणइ। इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

कठिन शब्दार्थ - **खलदाणेणं** - खलिहान-सडा गला अन्न देने से, **सुराथालएणं** - सुरा स्थाल (इष्ट सिद्धि न होने) के कारण, **गाहावईण** - गाथापति को, **गाहावइ पुत्ताण** - गाथापति पुत्रों को, **सस्साइं** - शस्य आदि के, **झामेइ** - जलाता है ।

भावार्थ - कोई पुरुष सभा में से उठ कर प्रतिज्ञा करता है कि - "मैं इस प्राणी को मारूँगा" इस प्रकार कह कर वह तीतर, बटेर, लावक, कबूतर, कपिंजल या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर अपने इस महान् पाप कर्म के कारण महापापी के नाम से अपनी प्रसिद्धि करता है ।

कोई पुरुष किसी निमित्त से अथवा खलिहान (सडे गले अन्न) देने से अथवा अपनी इष्टसिद्धि न होने या अन्य किसी कारण से क्रोधित हो कर गाथापति या गाथापति पुत्रों की खेती को स्वयं अग्नि से जलाता है दूसरों से जलवाता है और जलाते हुए का अनुमोदन करता है इस कारण वह जगत् में महापापी के नाम से अपने को प्रसिद्ध करता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - खलदान शब्द के स्थान में चूर्णिकार ने "**खलकेदाणं खलभिक्खं**" पाठ दिया है जिसका अर्थ किया गया है कि - खलिहान में आये हुए भिक्षुक को तुच्छ वस्तु की भिक्षा दी हो या कम दी हो या नहीं दी हो इस कारण वह कुपित हो जाता है। मूल पाठ में "सुराथालएणं" शब्द दिया है जिसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है कि - **थालगेण सुरा पिज्जति, तत्थ परिवाडीए आवेट्ठस्स वारो ण दिण्णो उट्ठवितो वा, तेण विरुद्धो।**

अर्थ - सुरापान करने के पात्र (प्याली) से सुरा (मदिरा) पी जा सकती है अतः मदिरा पान के समय पंक्ति में बैठे हुए उस व्यक्ति की सुरापान करने की बारी नहीं आने दी या उसे पंक्ति में से उठा दिया इस अपमान के कारण विरुद्ध होकर कुपित होना।

टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है '**सुरायाः स्थालकं कोशकादि, तेन विवक्षितलाभाभावात् कुपितः।**'

अर्थ - सुरापान करने का स्थालक - चषक (प्याला) आदि पात्र। उससे अभीष्ट लाभ न होने से कुपित हुआ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण गाहावइपुत्ताण वा उट्टाणं वा गोणाणं वा घोडगाणं वा गद्दभाणं वा सयमेव घूराओ कप्पेइ, अण्णेण वि कप्पावेइ, कप्पंतं वि अण्णं समणुजाणइ । इति से महया जाव भवइ ।

कठिन शब्दार्थ - उट्टाणं - ऊंट को, **गोणाणं** - गौ को, **घोडगाणं**- घोड़ा को, **गद्दभाणं** - गधों को, **घूराओ** - अवयवों को, **कप्पेइ** - काटता है ।

भावार्थ - जगत् में कोई पुरुष ऐसे होते हैं जो किसी कारण से क्रोधित हो कर गाथापति के अथवा उसको पुत्रों के ऊँट गौ, घोडा और गधों के अंगों को स्वयं काटता है दूसरों से कटवाता है और काटते हुए को अच्छा जानता है, वह महापापी के नाम से अपने को प्रसिद्ध करता है ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कंटक बोंदियाए परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ अण्णेण वि झामावेइ, झामंतं वि अण्णं समणुजाणइ । इति से महया जाव भवइ ।

कठिन शब्दार्थ - कंटकबोंदियाए - कांटों की बाड़ से, **परिपेहित्ता** - ढंककर, **उट्टसालाओ**- ऊंटों के रखने के स्थान से।

भावार्थ - जगत् में कोई पुरुष ऐसे होते हैं जो किसी गृहस्थ के ऊपर किसी कारण वश क्रोधित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होकर उसकी तथा उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला तथा गर्दभशाला को काँट की शाखाओं से ढक कर उनमें स्वयं आग लगा देते हैं और दूसरे से भी आग लगवा देते हैं तथा आग लगाने वाले को अच्छा समझते हैं ऐसे पुरुष महापापी कहलाते हैं ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा कुंडलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ अण्णेण वि अवहरावेइ, अवहरंतं वि अण्णं समणुजाणइ । इति से महया जाव भवइ ।

कठिन शब्दार्थ - **अवहरइ** - हरण करता है।

भावार्थ - इस जगत् में बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं जो किसी कारणवश गाथापति के ऊपर क्रोधित हो कर उसके तथा उसके पुत्रों के कुण्डल, मणि और मोती को स्वयं हरण कर लेते हैं और दूसरे से भी हरण कराते हैं तथा हरण करते हुए को अच्छा मानते हैं ऐसे पुरुष महापापी हैं ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं लट्ठिं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिगं वा चम्मयं वा छेयणगं वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ । इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

कठिन शब्दार्थ - **छत्तगं** - छत्र, **दंडगं** - दंड का, **भंडगं** - भाण्ड, **मत्तगं** - पात्र, **लट्ठिं** - लाठी, **भिसिगं** - आसन, **चेलगं** - वस्त्र, **चिलिमिलिगं** - पर्दा, **चम्मयं** - चर्म, **छेयणगं** - छेदनक, **चम्मकोसियं** - चर्म कोशिका का ।

भावार्थ - किसी पाखण्डी के ऊपर क्रोधित निर्विवेकी पुरुष उनके छत्र, दण्ड, भाण्ड, पात्र, लाठी, आसन आदि उपकरणों को स्वयं हरण करता है और दूसरे से भी हरण करवाता है तथा हरण करते हुए को अच्छा जानता है ऐसे पुरुष को महापापी जानना चाहिये ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं जहा-गाहावइण वा गाहावइ-पुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेइ जाव अण्णं पि झामंतं समणुजाणइ। इति से महया जाव उवक्खावइत्ता भवइ ।

कठिन शब्दार्थ-वितिगिंछइ - विमर्श (विचार) करता है।

भावार्थ - पूर्व सूत्रों में किसी कारण से क्रोधित होकर दूसरे का अपकार करने वाले पापियों का वर्णन किया है परन्तु यहां बिना कारण ही पाप करने वाले अधार्मिकों का वर्णन किया जाता है । कोई पुरुष इतना अधिक पापी होता है कि वह बिना कारण ही दूसरे का अपकार आदि पाप किया करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह पाप का जरा भी विचार नहीं करता है । दूसरे की बुराई करने में उसे बड़ा ही आनन्द आता है इसलिए वह अपने इस अधार्मिक स्वभाव के कारण गाथापति के धान्य आदि पदार्थों को आग लगाकर स्वयं जला देता है तथा दूसरे से भी ऐसा करवाता है और ऐसा करने वाले को वह अच्छा मानता है । जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है वह पुरुष महापापी कहलाता है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं जहा-गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पइ, अण्णेण वि कप्पावेइ, अण्णं पि कप्पंतं समणुजाणइ ।

भावार्थ - कोई पुरुष बिना कारण ही गाथापति तथा उसके पुत्रों के ऊँट, गाय घोड़े और गदहे आदि जानवरों के अङ्गों को स्वयमेव छेदन करता है। दूसरों से करवाता है तथा छेदन करने वाले को वह अच्छा जानता है । यद्यपि इससे उसको कुछ लाभ नहीं है किन्तु व्यर्थ ही महापाप उसको होता है तथापि वह अत्यन्त मूढ प्राणी इस बात का विचार नहीं करता है उसे ऐसा करने में बड़ा आनन्द मालूम होता है इसमें उसकी पापमयी मनोवृत्ति ही कारण है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं जहा-गाहावईण वा गाहावइ पुत्ताण वा उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कंटक-बोंदियाहिं परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ जाव समणुजाणइ ।

भावार्थ - कोई पुरुष अपने कर्म फल का कुछ विचार नहीं करता और बिना ही कारण गाथापति तथा उसको पुत्रों की ऊँटशाला, घोडाशाला, गोशाला और गर्दभ शाला को कांटों की बाड से ढक कर स्वयमेव आग लगा कर जला देता है दूसरे से जलवा देता है तथा जलाते हुए को अच्छा जानता है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं जहा गाहावईण वा गाहावइ पुत्ताण वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ ।

भावार्थ - कोई पुरुष अपने कर्म के फल को विचारता नहीं है वह गाथापति तथा उसके पुत्रों के मोती आदि आभूषणों को स्वयं हरण करता है तथा दूसरे से भी हरण करवाता है और हरण करते हुए को अच्छा जानता है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं जहा समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा जाव चम्म-छेदणगं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ । इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

भावार्थ - जगत् में बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं जो अपने कर्म के फल का विचार नहीं करते । वे बिना ही कारण दूसरे को कष्ट दिया करते हैं । ऐसे पुरुषों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि - कोई पुरुष बिना ही कारण श्रमण और माहनों के छत्र आदि उपकरणों को स्वयं हर लेते हैं और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरों से भी हरण कराते हैं तथा हरण करते हुए को अच्छा समझते हैं । जो पुरुष किसी अपमान आदि कारणों से ऐसा करता है वह भी महापापी है फिर बिना ही कारण ऐसा करने वाला तो उससे भी बढ़ कर महापापी है इसमें तो सन्देह ही क्या है ।

से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा णाणाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवइ अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ । कालेण वि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवइ ।

भावार्थ - कोई पुरुष साधु को देखकर उनके प्रति अनेक पापमय व्यवहार करता है वह साधु को देखना भी न चाहता हुआ सामने से उन्हें हट जाने के लिये चुटकी बजाता है तथा कटु वाक्य कह कर साधु को पीड़ित करता है । जब साधु उसके घर पर गोचरी के समय गोचरी के निमित्त जाते हैं तो वह उन्हें अशनादिक आहार नहीं देता है ।

जे इमे भवंति वोणमंता भारवक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा समणगा पव्वयंति ।

कठिन शब्दार्थ - **वोणमंता** - व्युनमान-बिचारे, दीन, **भारवक्कंता** - भार वहन करने वाले, **अलसगा** - आलसी, **वसलगा**- वृषल नीच, **किवणगा** - क्लीव-गरीब, दीन।

भावार्थ - वह पापी पुरुष कहता है कि ये जो भारवहन आदि नीचे कर्म करने वाले दरिद्र शूद्र हैं वे आलस्य के कारण श्रमण दीक्षा लेकर सुखी बनने की चेष्टा करते हैं ।

ते इणमेव जीवियं धिग्जीवियं संपडिबूहेंति, णाइ ते परलोगस्स अट्ठाए किंचि वि सिलीसंति । ते दुक्खंति, ते सोयंति, ते जूरंति, ते तिप्पंति, ते पिट्टंति, ते परितप्पंति, ते दुक्खण, जूरण, सोयण, तिप्पण, पिट्टण, परितिप्पण, वह-बंधण-परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति । ते महया आरंभेणं, ते महया समारंभेणं, ते महया आरंभ-समारंभेणं, विरूवरूवेहिं पावकम्म-किच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोग भोगाइं भुंजित्तारो भवंति । तं जहा-अण्णं अण्णकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, स-पुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलिकम्मे, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सिरसा ण्हाए, कंठे मालाकडे, आविद्ध-मणिसुवण्णे, कप्पिय-माला-मउली, पडिबद्ध-सरीरे, वग्घारिय-सोणिसुत्तग-मल्ल-दाम-कलावे,अहय-वत्थपरिहिए, चंदणोक्खित्त-गायसरीरे, महइ-महालियाए कूडागार-सालाए, महइ-महालयंसि सीहासणंसि, इत्थी-गुम्म-संपरिवुडे सव्व-राइएणं जोइणा झियाय-माणेणं महयाहय-णट्ट-गीय-वाइय-तंतीतलतालतुडियघण-मृइंगपडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सग्गइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **धिजीवियं** - धिक्कार पूर्ण जीवन को, **कयबलिकम्मे** - स्नान सम्बन्धी सारे कार्य करके, **कयकोउयमंगलपायच्छित्ते** - कौतुक, मंगल और प्रायश्चित्त कर, **कंठेमालाकडे** - गले में माला पहन कर, **आविद्धमणिसुवण्णे** - मणि और सुवर्ण के आभूषण पहन कर, **कप्पियमालामउली**- माला युक्त मुकुट धारण कर, **वग्घारियसोणिसुत्तग मल्ल-दामकलावे** - कमरपट्टा व पुष्प माला युक्त करधनी पहन, **अहय वत्थपरिहिए** - अक्षत एवं अत्यंत स्वच्छ नवीन वस्त्र पहन कर, **चंदणोक्खित्तगायसरीरे** - शरीर के अंगों पर चंदन का लेप कर, **कूडागार सालाए** - कूटागार शाला में, **इत्थीगुम्मसंपरिवुडे** - स्त्री समूह से परिवृत्त, **महया हय-णट्ट-गीय वाइय तंतीतलताल तुडियघणमुइंग पडुपवाइय रवेणं** - महात् प्रयत्न से आहत नाट्य गीत वाद्य, वीणा, तल, ताल तूर्य घंटा और मृदंग के कुशलवादकों द्वारा बजाये जाते हुए स्वर के साथ ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से साधुओं की निन्दा करने वाले साधुद्रोहियों का जीवन यद्यपि धिग्जीवन है तथापि वे उसे उत्तम समझते हैं । वे परलोक के लिए कुछ भी कार्य नहीं करते हैं । वे पाप कर्म में आसक्त रहते हुए स्वयं दुःख भोगते हैं और दूसरों को भी कष्ट देते हैं । वे प्राणियों को नाना प्रकार की पीड़ायें दे कर अपने लिए भोग की सामग्री तैयार करते हैं । चाहे करोड़ों प्राणियों की हत्या क्यों न हो जाय परन्तु अपने भोग में वे किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने देते। यहां उनकी विलासिता का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है-ये प्रातःकाल उठ कर स्नान कर के मंगलार्थ सुवर्ण दर्पण मृदंग दधि अक्षत आदि माङ्गलिक पदार्थों का उपयोग करते हैं। पश्चात् देवार्चन कर के अपने शरीर में चन्दनादि का लेप और फूलमाला कटिसूत्र और मुकुट आदि भूषणों को धारण करते हैं। युवावस्था तथा यथेष्ट उपभोग की प्राप्ति के कारण इनका शरीर बहुत हृष्ट पुष्ट होता है, ये सायंकाल में शृङ्गार कर के ऊंचे महल में जा कर बड़े सिंहासन पर बैठ जाते हैं। वहाँ नवयौवना स्त्रियाँ उन्हें चारों ओर से घेर लेती हैं और अनेकों दीपकों के प्रकाश में रात भर वहाँ वे नाच गान और बाजों के मधुर शब्दों का उपभोग करते हैं। इस प्रकार उत्तमोत्तम भोगों को भोगते हुए वे अपने जीवन को व्यतीत करते हैं ।

विवेचन - "**कयबलिकम्मे**" मूल पाठ में यह शब्द आया है। जिसका टीकाकार ने तो अर्थ किया है कि "देव की पूजा करके।" किन्तु यह अर्थ सङ्गत नहीं होता है क्योंकि सूर्याभ देव आदि के वर्णन में बावड़ी में स्नान करने का वर्णन है। वहाँ पर भी "**कयबलिकम्मे**" शब्द आया है परन्तु देव पूजा करने का अर्थ घटित नहीं होता है। क्योंकि बावड़ी में देव का स्थान कहाँ ? इस विषय में पूर्वाचार्यों की धारणा इस प्रकार है कि जहाँ स्नान का पूरा वर्णन है वहाँ इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जैसे कि उववाई सूत्र में कोणिक राजा के स्नान के वर्णन में स्नान का पूरा वर्णन दिया है इसलिये वहाँ कयबलिकम्मे शब्द नहीं दिया है। इसलिये जहाँ स्नान का पूरा वर्णन नहीं है उस पूरे वर्णन को बतलाने के लिए '**कयबलि कम्मे**' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि - "**उसभाइ महावीर पज्जवसाणाणं**" यहाँ पर आदि शब्द से अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों का ग्रहण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है। इसी तरह स्नान के वर्णन के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि जहाँ **'कयबलिकम्मे'** शब्द आता है वहाँ स्नान सम्बन्धी सारा वर्णन है ऐसा समझ लेना चाहिए।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा आउत्ता चेव अब्भुट्ठंति - 'भणह देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं आचिट्ठामो ? किं भे हियं इच्छियं ? किं भे आसगस्स सयइ ?' तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति - 'देवे खलु अयं पुरिसे । देवसिणाए खलु अयं पुरिसे । देव-जीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे । अण्णे वि य णं उवजीवंति ।' तमेव पासित्ता आरिया वयंति- 'अभिक्कंत-कूरकम्मे खलु अयं पुरिसे । अइधुए, अइयाय-रक्खे, दाहिण-गामिए णेरइए, कण्ह पक्खिए आगमिस्साणं दुल्लह-बोहियाए यावि भविस्सइ ।'

कठिन शब्दार्थ - **आणवेमाणस्स** - आज्ञा देने पर, **आहरेमो** - लाएं, **उवहरेमो** - भेंट करे, **देवसिणाए** - देव स्नातक, **देवजीवणिज्जे** - देव जीवन जीने वाला, **अभिक्कंतकूरकम्मे** - अत्यंत क्रूर कर्म करने वाला, **अइधुए** - अतिधूर्त, **दाहिणगामिए** - दक्षिण दिशा में जाने वाला, **कण्हपक्खिए** - कृष्णपाक्षिक, **दुल्लहबोहियाए** - दुर्लभबोधि ।

भावार्थ - वह पुरुष जब किसी एक मनुष्य को कुछ आज्ञा देता है तो बिना कहे ही चार पाँच मनुष्य खड़े हो जाते हैं । वे कहते हैं कि - हे देवानुप्रिय ! बतलाइये हम आपकी क्या सेवा करें ? कौन सी वस्तु आपको प्रिय है जिसे लाकर हम आपका प्रिय करें ? आपके मुख को कौनसी वस्तु रुचिकर है सो बताईये इत्यादि । इस प्रकार सेवक वृन्दों से सेवा किये जाते हुए तथा उत्तमोत्तम विषयों को भोगते हुए उस पुरुष को देख कर अनार्य पुरुष उसे बहुत उत्तम समझते हैं वे कहते हैं कि - यह पुरुष मनुष्य नहीं किन्तु देवता है। यह देवजीवन व्यतीत कर रहा है इसके बराबर सुखी जगत् में कोई नहीं है। दूसरे लोग जो इनकी सेवा करते हैं वे भी आनन्द भोगते हैं अतः यह पुरुष महाभाग्यवान् है इत्यादि ।

परन्तु जो पुरुष विवेकी हैं वे उस विषयी जीव को भाग्यवान् नहीं कहते वे तो उसे अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला अतिधूर्त और विषय की प्राप्ति के लिए अत्यन्त पाप करने वाला कहते हैं । यह दक्षिण दिशा के नरक में जाने वाला है। ऐसा मनुष्य नरकगामी, कृष्णपक्षी और भविष्य में दुर्लभबोधी होता है, ऐसा आर्य पुरुष कहते हैं ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा वेगे अभिगिज्झंति । एस ठाणे अणारिये, अकेवले, अप्पडिपुण्णे, अणेयाउए, असंसुद्धे, असल्लगत्तणे, असिद्धिमग्गे, अमुत्तिमग्गे, अणिव्वाणमग्गे, अणिज्जाण-मग्गे, असव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे, एगंतमिच्छे, असाहु, एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ।। ३२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **अभिगिज्झंति** - इच्छा करते हैं, **अभिझंझाउरा**-तृष्णातुर **अप्पडिपुण्णे**-अप्रतिपूर्ण, **अणिज्जाणमग्गे**- निर्याण मार्ग रहित, **अधम्म पक्खस्स** - अधर्म पक्ष का ।

भावार्थ - कोई मूर्ख जीव घर दार (स्त्री) को छोड़ कर मोक्ष के लिए उद्यत हो कर भी पूर्वोक्त विषय सुख की इच्छा करते हैं तथा गृहस्थ और दूसरे विषयासक्त प्राणी भी इस स्थान की चाहना करते हैं, वस्तुतः यह स्थान इच्छा योग्य नहीं हैं क्योंकि यह हिंसा झूठ कपट आदि दोषों से पूर्ण होने के कारण अधर्ममय है । इस स्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, न कर्मबन्धन ही नष्ट होता है। यह स्थान संसार को बढ़ाने वाला और कर्मपाश को दृढ़ करने वाला है । यद्यपि मृगतृष्णा के जल के समान इसमें कुछ सुख भी दिखाई देता है तथापि विषलिप्त अन्न भोजन के समान वह परिणाम में दुःखोत्पादक है अतः विद्वान् पुरुष को इस स्थान की इच्छा नहीं करनी चाहिये यह आशय है ।। ३२ ॥

विवेचन - यहाँ तीन पक्ष बतलाये गये हैं। अधर्म पक्ष, धर्म पक्ष और मिश्र पक्ष। पहले अधर्म पक्ष का विवेचन किया गया है। कई अधर्म पक्ष वाले लोग अपने तथा परिवार आदि के लिए आनुगामिक से लेकर शौवान्तिक तक चौदह प्रकार के व्यावसायिकों में से कोई एक व्यवसायी बनकर अपना पापमय व्यवसाय चलाते हैं। अतएव वे महापापी हैं।

शास्त्रकार ने अधर्म पक्ष के तीन अधिकारी पुरुष बतलाये हैं यथा -

१. दीक्षा लेकर फिर विषय सुख साधनमय स्थान को पाने के लिये लालायित रहने वाले।

२. भोगग्रस्त अधर्म स्थान को पाने की लालसा करने वाले गृहस्थ।

३. इस भोग विलास मय जीवन को पाने के लिये तरसने वाले तृष्णान्ध या विषय सुख भोगान्ध व्यक्ति।

इस अधर्म पक्ष के विषय में आर्य और अनार्य पुरुषों का अभिप्राय-अनार्य लोग उनकी भोगासक्त जिन्दगी को देखकर उन्हें देवतुल्य यावत् देवों से भी श्रेष्ठ एवं आश्रितों का पालक आदि बताते हैं।

आर्य लोग उनकी वर्तमान विषयसुख मग्नता के पीछे हिंसा आदि महान् पापों का परिणाम देखकर उन्हें क्रूर कर्मा, धूर्त, शरीर पोषक, विषयों के कीड़े आदि बताते हैं।

यह अधर्म पक्ष एकान्त अनार्य, अकेवल, अपरिपूर्ण, एकान्त मिथ्या और अहितकर है, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने फरमाया है।

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्म पक्खस्स विभंगे एव-माहिज्जइ । इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति; तं जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चगोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तं-वत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति; एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा णेयव्वो । तेणेव अभिलावेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए, परिणिव्वुडे त्ति बेमि । एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्व-दुक्ख-पहीणमग्गे एगंत-सम्मे साहु, दोच्चस्स ठाणस्स धम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिए ।। ३३ ॥

भावार्थ - अधर्म पक्ष पहला पक्ष है इसलिए उसका वर्णन करने के पश्चात् धर्मपक्ष का वर्णन किया जाता है। जिन कार्यों से पुण्य की उत्पत्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। उस धर्म का अनुष्ठान करने वाले बहुत से मनुष्य जगत् में निवास करते हैं वे पुण्यात्मा आर्यवंश में उत्पन्न हैं उनसे विपरीत शक यवन और बर्बर आदि अनार्य जन भी जगत् में निवास करते हैं इनका वर्णन पुण्डरीक अध्ययन में विस्तार के साथ किया गया है। अतः फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं है यहाँ केवल बताना यह है कि शक यवन आदि अनार्य पुरुषों के जो दोष बताये गये हैं उन दोषों से रहित जो पुरुष उत्तम आचार में प्रवृत्त है वही धार्मिक है और उसका जो स्थान है वही धर्मस्थान या धर्म पक्ष है वही स्थान केवल ज्ञान की प्राप्ति का कारण और न्यायसंगत है अतः विवेकी पुरुष को उसी पक्ष का आश्रय लेना चाहिये यह आशय है ।

विवेचन - इस सूत्र में सर्व प्रथम धर्मपक्ष के अधिकारीगण का नाम निर्देश किया गया है। इन सब का निष्कर्ष यह है कि - सभी दिशाओं, देशों, आर्यवंश, अनार्यवंश, समस्त रंग रूप वर्ण एवं जाति में उत्पन्न जन धर्म पक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। इस पर किसी एक विशिष्ट वर्ण, जाति, वंश, देश आदि का अधिकार नहीं है। किन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि - अनार्य देशोत्पन्न और अनार्य वंशज व्यक्तियों में जो दोष बताये गये उन दोषों से रहित उत्तम आचार में प्रवृत्त धार्मिक जन ही धर्म पक्ष के अधिकारी होते हैं। पुण्डरीक अध्ययन में जो योग्यताएं दुर्लभ पुण्डरीक को प्राप्त करने वाले भिक्षु की बतलाई गयी है। वे सब योग्यताएँ धर्मपक्ष के साधक में होना आवश्यक है। यहां तक कि उसके समस्त कषाय उपशान्त होते हैं तथा वह समस्त इन्द्रिय विषय की आसक्ति से निवृत्त होते हैं।

यह धर्म पक्ष आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, संशुद्ध, शल्यकर्तन, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्वाणमार्ग और निर्याण मार्ग तथा सर्व दुःख प्रहीण मार्ग है। एकान्त सम्यक् है एवं श्रेष्ठ है।

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एव-माहिज्जइ । जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुइरहस्सिया जाव ते तओ विप्प-मुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति। एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्व-दुक्ख-पहीणमग्गे एगंत-मिच्छे असाहु । एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए ।। ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - **आरण्णिया** - अरण्य अर्थात् जङ्गल में रहने वाले, **आवसहिया** - आवसथ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् मठ या कुटीर बनाकर रहने वाले तापस, **गामणियंतिया** - गांव के नजदीक रहने वाले तापस, **कण्हुइरहस्सिया** - एकान्त स्थान में रहकर ध्यान मौन आदि करने वाले तापस।

भावार्थ - जिस स्थान में पाप और पुण्य दोनों का योग है उसे मिश्र स्थान कहते हैं। इसके कई भेद हैं । जिसमें पुण्य और पाप दोनों ही बराबर हैं वह भी मिश्र स्थान कहलाता है और जिसमें पाप बहुत अधिक और पुण्य बिलकुल अल्पमात्रा में है वह भी मिश्र स्थान है । यहां उस मिश्रस्थान का वर्णन है जिसमें पुण्य बिलकुल अल्प और पाप बहुत अधिक है क्योंकि - इसे शास्त्रकार बिलकुल मिथ्या और बुरा बतलाते हैं यह उसी हालत में हो सकता है जबकि पुण्य का अंश बिलकुल नगण्य-सा हो । यह स्थान तापसों का है जो जंगल में निवास करते हैं तथा कोई कुटी बनाकर रहते हैं एवं कोई ग्राम की सीमा के ऊपर रहते हैं । ये तापस अपने को धार्मिक और मोक्षार्थी बतलाते हैं । इनकी प्राणातिपात आदि दोषों से किञ्चित् निवृत्ति भी देखी जाती है परन्तु वह नहीं के बराबर ही है क्योंकि - इनका हृदय मिथ्यात्वमल से दूषित होता है तथा इनको जीव और अजीव का विवेक भी नहीं होता है अतः ये जिस मार्ग का सेवन करते हैं उसमें पाप बहुत और पुण्य बिलकुल अल्प मात्रा में है । अतः इनके स्थान को यहां मिश्रस्थान कहा है । ये लोग मरने के पश्चात् किल्विषी देवता होते हैं और फिर वहाँ से मरकर मनुष्य लोक में गूंगे और अन्धे होते हैं इस कारण इनका जो स्थान है, वह आर्यजनों के योग्य नहीं है, वह केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाला और सब दुःखों का नाश करने वाला नहीं हैं किन्तु एकान्त मिथ्या और अनाचरणीय है। यह तीसरा मिश्र स्थान का वर्णन समाप्त हुआ ।। ३४ ॥

विवेचन - जिस पक्ष में पुण्य तो बहुत अल्प मात्रा में हो तथा पाप बहुत अधिक मात्रा में हो उसको मिश्रपक्ष कहते हैं। यद्यपि इसके अधिकारी मिथ्या दृष्टि होते हैं और वे अपनी मान्यता के अनुसार हिंसा आदि से निवृत्ति भी करते हैं तथापि मिथ्यात्वयुक्त होने से (अशुद्ध होने से) ऊषर भूमि पर पड़ी हुई वर्षा की तरह तथा पित्तप्रकोप में शर्करा मिश्रित दुग्ध पान की तरह विपरीत अर्थ का उत्तेजक होने के कारण मोक्षार्थ को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिये उनकी निवृत्ति निरर्थक है। मिथ्यात्व के तीव्र प्रभाव के कारण मिश्र पक्ष को अधर्म मय ही समझना चाहिए।

इस मिश्र पक्ष के अधिकारी कन्दमूल व फल खाने वाले तापस आदि होते हैं। ये किसी पापस्थान से किञ्चित निवृत होते हुए भी इनकी मान्यता प्रबल मिथ्यात्व से युक्त होती है। इन में से कई उपवास आदि तथा अन्य भी तीव्र कायक्लेश के कारण देवगति में जाते हैं परन्तु देवपना प्राप्त करके भी वहाँ हल्की जाति की असुरी योनि किल्विषीक देव आदि रूप से उत्पन्न होते हैं। वहाँ का आयुष्य पूरा करके यहाँ मनुष्य लोक में आते हैं तो जन्म से अन्धे, गूंगे, बहरे आदि होते हैं।

ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि मोक्षार्थी पुरुषों को इस प्रकार के मार्ग का सेवन नहीं करना चाहिए।

अहावरे पढमस्स ठाणस्स अहम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ । इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति-गिहत्था महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइ अधम्म-पलज्जणा अधम्मसील-समुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ।

कठिन शब्दार्थ - **महिच्छा** - महान् इच्छा वाले, **अधम्मिया**- अधर्म करने वाले, **अधम्माणुया** - अधर्म के पीछे चलने वाले, **अधम्मिट्ठा** - अधर्म को अपना अभीष्ट मानने वाले, **अधम्मक्खाई**- अधर्म की चर्चा करने वाले, **अधम्मपायजीविणो** - अधर्ममय जीविका करने वाले, **अधम्मपलोई** - अधर्म को देखने वाले; **अधम्म पलज्जणा** - अधर्म में आसक्त, **अधम्मसीलसमुदायारा** - अधर्ममय स्वभाव और आचरण करने वाले ।

भावार्थ - इस पाठ के पूर्व पाठों में अधर्म, धर्म और मिश्र स्थानों का वर्णन किया है परन्तु यहां से इन स्थानों में रहने वाले पुरुषों का वर्णन आरम्भ होता है । उस में सब से पहले अधर्म स्थान में स्थित पुरुष का वर्णन इस पाठ के द्वारा किया जाता है । इस लोक में जो पुरुष गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए विषय साधनों की प्राप्ति की बड़ी से बड़ी इच्छा रखते हैं अर्थात् सब से अधिक धन धान्य पशु परिवार और गृह आदि की इच्छा करते हैं तथा वाहन ऊंट घोड़ा गाड़ी नाव खेत और दास दासी बहुत अधिक रखते हुए उनके पालनार्थ महान् आरम्भ समारम्भ करते हैं तथा किसी भी आस्रव से निवृत्त न होकर सबका सेवन करते हैं एवं रात दिन अधर्म के कार्य में लगे हुए रह कर अधर्म की ही चर्चा करते रहते हैं। वे पुरुष प्रथम पक्ष अधर्म स्थान में स्थित हैं यह शास्त्रकार का आशय हैं ।

हण, छिंद, भिंद, विगत्तगा, लोहियपाणी, चंडा, रुद्दा, खुद्दा, साहस्सिया, उक्कुंचण-वंचण-माया-णियडि-कूड-कवड-साइसंपओग-बहुला, दुस्सीला, दुव्वया, दुप्पडियाणंदा, असाहू, सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छा-दंसण-सल्लाओ अप्पडिविरया, सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दण-वण्णग-गंध-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गन्धमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ सगड-रह-जाण-जुग्ग गिल्लिथिल्लि-सियासंदमाणिया-सयणासण-जाण वाहणभोग भोयण-पवित्थर-विहिओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्धमास-रूवग-संववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संखसिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ कूडतुल-कूडमाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ आरंभ-समारंभाओ अप्पडिविरया जाव-ज्जीवाए; सव्वाओ करण-कारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ पयण-पयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए; सव्वाओ कुट्टण-पिट्टण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तज्जणताडणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए । जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता पर-पाण-परियावण-करा जे अणारिएहिं कज्जंति तओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए।

कठिन शब्दार्थ - **विगत्तगा** - चमडी उधेड़ने वाले, **लोहियपाणी** - रक्त से सने हाथ वाले, **उक्कुंचण-वंचण-माया-णियडि-कूड कवड साइसपओग बहुला** - ठगी वंचना माया, बकवृत्ति (बगुला भक्त) कूट कपट करने वाले साचि प्रयोग-असली दिखा कर नकली देने वाले, **दुप्पडियाणंदा**- दुष्प्रत्यानंद - दुःख से प्रसन्न किये जाने वाले, **अप्पडिविरया** - अविरत, **सगड-रह जाण-जुग्गगिल्लि थिल्लि-सियासंदमाणिया-सयणासण-जाण वाहण भोग भोयण पवित्थर विहिओ** - गाड़ी, रथ, सवारी, डोली, आकाशयान, शिविका, स्यंदमानिया, शय्या, आसन यान वाहन भोग भोजन के विस्तीर्ण विधियों से अविरत **कयविक्कय-मासद्धमास रूवगसंववहाराओ** - क्रय विक्रय मासक(माषा) अर्द्ध मासक रूप्यक से होने वाले व्यवहारों से, **पयणपयावणाओ** - पचन-पाचन से, **कुट्टण पिट्टण तज्जण ताडण वह बंध परिकिलेसाओ** - कुट्टन, पीडने, तर्जन, ताडन, वध, बंध परिक्लेष से, **परपाण-परियावणकरा**- दूसरे प्राणियों को परितप्त (क्लेशित) करने वाले, **अबोहिया** - बोधि बीज से रहित।

भावार्थ - जो पुरुष जीवन भर दूसरे प्राणियों को मारने पीटने वध करने तथा उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देने की आज्ञा देते रहते हैं तथा स्वयं प्राणियों का वध करते रहते हैं, जो हिंसा, झूठ, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह को जीवन भर नहीं छोड़ते हैं। जो झूठ बोलना और कम मापना कभी नहीं छोड़ते, जो क्रोध मान माया और लोभ को सदा बढ़ाते रहते हैं जो जीवन भर शारीरिक शृंगार करने और उत्तमोत्तम वस्त्र आभूषण वाहन तथा उत्तम रूप रस गन्धादि विषयों के सेवन में दत्तचित्त रहते हैं। जो सदा परवञ्चन (ठगना) करने के लिये देश वेष और भाषा को बदल कर विषय के उपार्जन में लगे रहते हैं जो क्रोधादि अठारह पापों से कभी निवृत्त न होकर निरन्तर अनार्य पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले सावद्य कर्मों के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं जो सदा ही क्रय विक्रय के झंझट में पड़ कर माषा आधा माषा और तोला आदि का अभ्यास करते रहते हैं जो जीवन भर अन्न पकाने और पकवाने से सन्तुष्ट नहीं होते, जो सब प्रकार के सावद्य कर्मों के स्वयं करने और दूसरों से कराने से निवृत्त नहीं होते हैं। वे पुरुष अधर्म स्थान में स्थित हैं यह जानना चाहिये ।

से जहा णामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-पलिमंथग-माइएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति; एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिर-वट्टग लावग कवोय-कविंजल-मिय-महिस-वराह-गाह गोह-कुम्म-सरिसिव-माइएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति; जा वि य से बाहिरिया परिसा भवइ; तं जहा-दासे इ वा, पेसे इ वा, भयए इ वा, भाइल्ले इ वा, कम्मकरए इ वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगपुरिसे इ वा, तेसिं पि णं अण्णयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ, तं जहा-इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं णियल बंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं णियल-जुयल-संकोचिय-मोडियं करेह, इमं हत्थछिण्णयं करेह, इमं पायछिण्णयं करेह, इमं कण्ण-छिण्णयं करेह, इमं णक्क-ओट्ठ-सीस-मुह-छिण्णयं करेह, वेयग-छहियं, अंगछहियं, पक्खाफोडियं करेह, इमं णयणुप्पाडियं करेह, इमं दंसणुप्पाडियं, वसणुप्पाडियं, जिब्भुप्पाडियं, ओलंबियं, करेह, घसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइयं करेह, सूलाभिण्णयं, करेह, खारवत्तियं करेह, वज्झवत्तियं करेह, सीहपुच्छियगं करेह, वसभपुच्छियगं करेह, दवग्गि-दड्ढयंगं, कागणि-मंस-खावियंगं, भत्त-पाण-णिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वह बंधणं करेह, इमं अण्णयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह।

कठिन शब्दार्थ - **भयइ** - भृतक-नौकर, **भाइल्ले** - भागीदार, **कम्मकरए** - कर्मकर, **मुंडेह** - मुंडित करें, **अदुयबंधण**- भुजाएँ बांध दे, **णियडबंधणं** - हाथ पैर में बेडी डाल दे, **णियल-जुयलसंकोचियमोडियं** - दो जंजीरों से बांध कर अंगों को मोड दे, **णक्कओट्ठसीसमुहच्छिण्णयं** - नाक ओठ शिर और मुख काट दो, **वसणुप्पाडियं** - अंडकोश निकाल दे, **ओलंबियं** - उल्टा लटकाना, **खारवत्तियं** - कटे हुए अंगों पर नमक छिड़कना, **कागणिमंसखावियंगं** - मांस काट कर कौएं को खिला देना, **भत्तपाण णिरुद्धगं** - भोजन पानी बंद कर देना, **वहबंधणं** - वध बंधन-जीवन पर्यंत कैद में डालना ।

भावार्थ - बिना ही अपराध प्राणियों को दण्ड देने वाले बहुत से क्रूर पुरुष जगत् में निवास करते हैं ये निर्दय जीव अपने और दूसरे के भोजनार्थ शालि, मूंग गेहूँ आदि अन्नों को पकाकर इन प्राणियों को बिना ही अपराध दण्ड देते हैं । कोई निर्दय जीव तित्तिर बटेर और वत्तक आदि पक्षियों को बिना ही अपराध मारते फिरते हैं। इन पुरुषों के बाहरी परिवार के लोग ये हैं - इनकी दासी का पुत्र तथा दूत का काम करने वाला पुरुष, एवं वेतन लेकर इनकी सेवा करने वाला मनुष्य, तथा छट्ठा भाग लेकर खेती करने वाला पुरुष, इसी तरह दूसरे भी नौकर चाकर आदि इनके परिवार होते हैं, ये लोग भी इनके समान ही अत्यन्त निर्दय हुआ करते हैं ये लोग किसी के थोड़े अपराध को भी अधिक कहकर उसे घोर दण्ड दिलवाते हैं इनसे भी जब कभी थोड़ा अपराध हो जाता है तो इनका स्वामी वह निर्दय पुरुष इन्हें घोर दण्ड देता है वह दण्ड यह है - सर्वस्व हरण करके निकाल देना, आँख, कान, नाक, भुजा और पैर आदि अंगों का छेदन कर देना, सिंह तथा साँढ़ की पूंछ में बाँध कर मार डालना, शूली पर चढ़ाना, अन्न, पानी बन्द करके जीवन भर जेल में रख देना इत्यादि । इस प्रकार प्राणियों को घोर दण्ड देने वाले ये निर्दय जीव अधर्म पक्ष में स्थित हैं यह जानना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जा वि य से अब्भिंतरिया परिसा भवइ, तं जहा-माया इ वा, पिया इ वा, भाया इ वा, भगिणी इ वा, भज्जा इ वा, पुत्ता इ वा, धूया इ वा, सुण्हा इ वा, तेसिं पि य णं अण्णयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ-सीओदगवियडंसि, उच्छोलित्ता भवइ जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिए परंसि, लोगंसि, ते दुक्खंति, सोयंति, जूरंति, तिप्पंति, पिट्टंति, परितप्पंति; ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्टण-परितिप्पण-वहबंधण परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ।

कठिन शब्दार्थ - **उच्छोलित्ता** - फेंक देने वाले, **दुक्खंति**- दुःख देते हैं, **सोयंति** - शोक-पश्चात्ताप करते हैं, **जूरंति** - झूराते हैं, टप-टप आंसू गिराते हैं, **तिप्पंति** - ताप उपजाते हैं, **पिट्टंति** - पीड़ा उपजाते हैं, **परितप्पंति** - विशेष परिताप उपजाते हैं।

भावार्थ - इन क्रूर पुरुषों के अन्दर के परिवार जो माता, पिता, भाई, बहिन, भार्या, पुत्र, कन्या और पुत्रवधू आदि होते हैं इनका भी थोड़ा अपराध होने पर इन्हें वे भारी दण्ड देते हैं। सर्दी के समय वे इन्हें ठण्डे पानी में डाल देते हैं तथा मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान में जिन दण्डों को वर्णन किया गया है वे सभी दण्ड इन्हें वे देते हैं। इस प्रकार निर्दयता के साथ अपने परिवार को दण्ड देने वाला वह पुरुष अपने परलोक को नष्ट करता है। वह अपने इस क्रूर कर्म के फल में दुःख पाता है, शोक पाता है, पश्चात्ताप करता है। वह सदा दुःख शोक आदि क्लेशों को भोगता रहता है परन्तु कभी इनसे मुक्ति नहीं पाता है यह जानना चाहिए ।

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोग भोगाइं पविसुइत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सण्णाइं संभारकडेण कम्मुणा से जहा णामए अयगोले इ वा सेलगोले इ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदग-तल-मइवइत्ता अहे धरणि तल-पइट्ठाणे भवइ, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए वज्जबहुले, धूयबहुले, पंकबहुले, वेरबहुले, अप्पत्तियबहुले, दंभबहुले, णियडिबहुले, साइबहुले, अयसबहुले, उस्सण्ण-तसपाणघाई कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरग-तल-पइट्ठाणे भवइ ।। ३५ ।।

कठिन शब्दार्थ - **अयगोले** - लोहे का गोला, **सेलगोले** - पत्थर का गोला, **उदगतलमइवइत्ता**- पानी को लांघ कर, **धरणितलपइट्ठाणे** - पृथ्वी तल में जाकर टिकता है, **अयसबहुले**- अयशकीर्ति का कार्य करने वाला, **उस्सण्णतसपाणघाई** - प्रायः त्रस प्राणियों की घात करने वाला ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से बाहर और भीतर के परिवार वर्ग को घोर दण्ड देने वाले, स्त्री तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्दादि विषयों में अत्यन्त आसक्त वे अधार्मिक पुरुष थोड़े या बहुत काल तक भोग सेवन करके अनेक प्राणियों के साथ वैर उत्पन्न करते हैं तथा बहुत अधिक पाप का संग्रह करके उसके भार से अत्यन्त दब जाते हैं । जैसे लोह या पत्थर का गोला पानी में फेंका हुआ पानी के तल को पार कर पृथिवी के तल पर बैठ जाता है इसी तरह वे पापी जीव पृथिवी को पार करके नरक तल में जाकर बैठ जाते हैं। वे पुरुष पाप के भार से इतने दबे रहते हैं कि - वे पृथिवी के ऊपर ठहर नहीं सकते एक मात्र नरक ही उनका आश्रय होता है ।। ३५ ॥

ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्प-संठाण-संठिया, णिच्चंधयार-तमसा ववगयगह-चंद-सूरणक्खत्त-जोइप्पहा, मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूय-पडल-चिक्खिल्ल लित्ताणुलेवण-तला, असुइ वीसा, परम-दुब्भिगंधा, कण्हा, अगणि-वण्णाभा, कक्खड-फासा, दुरहियासा, असुभा णरया, असुभा णरएसु वेयणाओ । णो चेव णरएसु णेरइया णिद्दायंति वा, पयलायंति वा, सुइं वा, रइं वा, धिइं वा, मइं वा, उवलभंते। ते णं तत्थ उज्जलं, पगाढं, विउलं, कडुयं, कक्कसं, चंडं, दुग्गं, तिव्वं, दुरहियासं णेरइया वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ।। ३६ ।।

कठिन शब्दार्थ - खुरप्पसंठाणसंठिया - क्षुरप्र (खुरपे-उस्तरे) की आकृति वाले, **णिच्चंधयारतमसा** - तमोमय निरंतर अंधकार युक्त, **ववगयगहचंदसूर णक्खत्त जोइप्पहा** - ग्रह, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और ज्योतिषमंडल के प्रकाश से रहित, **मेदवसा मंसरुहिरपूयपडल चिक्खिल्ल लित्ताणुलेवणतला** - मेद चर्बी, मांस रक्त और पीव से उत्पन्न कीचड़ के तल वाले **वीसा** - सड़े हुए मांस युक्त, **अगणिवण्णाभा** - अग्नि के समान वर्ण वाले, **कक्खडफासा** - कठिन स्पर्श वाले, **दुरहियासा** - असह्य वेदना वाले, **पयलायंति** - प्रचला अर्थात् बैठे बैठे नींद लेना।

भावार्थ - पूर्वोक्त अधार्मिक पुरुष जिन नरकों में जाते हैं वे नरक अन्दर से गोल और बाहर से चार कोण वाले हैं। नीचे से उनकी बनावट तेज उस्तुरे की धार के समान तीक्ष्ण होती है। उनमें चन्द्र, सूर्य, ग्रह और नक्षत्र आदि का प्रकाश नहीं होता किन्तु सदा घोर अन्धकार फैला रहता है। उनकी भूमि सड़े हुए मांस, रुधिर, चर्बी और पीव से लिप्त होती है। वे बड़े दुर्गन्ध वाले अपवित्र होते हैं, उनकी दुर्गन्ध सहन करने योग्य नहीं होती है। उनका स्पर्श काँटे से भी अधिक कर्कश होता है, अधिक कहां तक कहा जाय उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द सभी अशुभ होते हैं। उनमें रहने वाले प्राणी कभी सोकर के अथवा बैठे बैठे निद्रा को प्राप्त नहीं करते और वहाँ से भाग कर कहीं अन्यत्र भी नहीं जा सकते हैं। वे वहीं निरन्तर असह्य दुःखों को भोगते हुए रहते हैं ।। ३६ ॥

से जहा णामए रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए, मूले छिण्णे, अग्गे गरुए, जओ णिण्णं, जओ विसमं, जओ दुग्गं, तओ पवडइ। एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भाओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गब्भं, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं, दुक्खाओ दुक्खं, दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्व-दुक्ख-पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अधम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिए ।। ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - **पव्वग्गे** - पर्वत के अग्रभाग में, **णिण्णं** - नीचा ।

भावार्थ - एकान्त रूप से पाप कर्म करने में आसक्त पुरुष इस प्रकार नरक में गिरता है जैसे पर्वत के अग्रभाग में उत्पन्न वृक्ष जड़ कट जाने पर एकाएक नीचे गिर जाता है। ऐसे पापी को कभी सुख नहीं मिलता है। वह बार बार एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु में, और एक नरक से दूसरे नरक में जाता रहता है । अतः इस पुरुष का स्थान अनार्य पुरुषों का स्थान हैं। इसमें केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है और यह समस्त दुःखों का नाशक नहीं हैं किन्तु एकान्त मिथ्या और बुरा है अतः बुद्धिमान् पुरुषों को इसे दूर से ही त्याग देना चाहिये। यह प्रथम अधर्म पक्ष का वर्णन किया गया है ।। ३७ ॥

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्म पक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ । इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा-अणारंभा, अपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए जाव जे यावण्णे, तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता पर-पाण-परियावणकरा कज्जंति तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए ।।

कठिन शब्दार्थ - **सुप्पडियाणंदा** - सुप्रत्यानंद - शीघ्र प्रसन्न होने वाले, **पडिविरया** - प्रतिविरत-निवृत्त ।

भावार्थ - अधर्म पक्ष के वर्णन के पश्चात् धर्म पक्ष का वर्णन किया जाता है । इस जगत् में कोई कोई उत्तम पुरुष आरम्भ नहीं करते हैं और धर्मोपकरण के सिवाय दूसरे किसी परिग्रह को नहीं रखते हैं। वे स्वयं धर्माचरण करते हैं और दूसरे को भी इसकी आज्ञा देते हैं, वे धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं और धर्म से ही जीविका का साधन करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं। उनका शील और व्रत अति उत्तम होता है तथा वे शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। वे उत्तम कोटि के साधु हैं और वे जीवन भर सब प्रकार की जीवहिंसाओं से निवृत्त रहते हैं। दूसरे लोग प्राणियों के घातक अज्ञानवर्धक जिन सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं उन कर्मों से वे सदा अलग रहते हैं ।

से जहा णामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया, भासा-समिया, एसणा-समिया,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आयाण-भंडमत्त-णिक्खेवणा-समिया, उच्चार-पासवण-खेलसिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणिया-समिया, मणसमिया, वयसमिया, कायसमिया, मणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिंदिया, गुत्तबंभयारी, अकोहा, अमाणा, अमाया, अलोभा, संता, पसंता, उवसंता, परिणिव्वुडा, अणासवा, अग्गंथा, छिण्णसोया, णिरुवलेवा, कंसपाइ व मुक्कतोया, संखो इव णिरंजणा, जीव इव अपडिहयगई, गगणतलं व णिरालंबणा, वाउरिव अपडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्ध-हियया, पुक्खर-पत्तं व णिरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जायत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकंचणगं व जायरूवा, वसुंधरा इव सव्व-फास-विसहा, सुहुय-हुयासणो विय तेयसा जलंता ।

णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थ वि पडिबंधे भवइ, से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते; तं जहा-अंडए इ वा, पोयए इ वा उग्गहे इ वा, पग्गहे इ वा, जं णं जं णं दिसं इच्छंति तं णं तं णं दिसं अपडिबद्धा, सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेसिं णं भगवंताणं इमा एयारूवा जाया-माया-वित्ति होत्था; तं जहा-चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चउद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए, तिमासिए, चउमासिए, पंचमासिए, छम्मासिए, अदुत्तरं च णं उक्खित्त-चरगा, णिक्खित्त चरगा, उक्खित्त णिक्खित्त-चरगा, अंतचरगा, पंतचरगा, लूहचरगा, समुदाणचरगा, संसट्ठ-चरगा, असंसट्ठ-चरगा, तज्जात-संसट्ठ-चरगा, दिट्ठलाभिया, अदिट्ठलाभिया, पुट्ठ-लाभिया, अपुट्ठलाभिया भिक्ख-लाभिया अभिक्ख-लाभिया, अण्णाय-चरगा, उवणिहिया, संखा-दत्तिया, परिमित-पिंड-वाइया, सुद्धेसणिया, अंताहारा, पंताहारा, अरसाहारा, विरसाहारा, लूहाहारा, तुच्छाहारा, अंतजीवी, पंतजीवी, आयंबिलिया, पुरिमड्ढिया, णिव्विगइया, अमज्ज-मंसासिणो, णो णिकाम-रसभोई, ठाणाइया, पडिमा-ठाणाइया, उक्कडुआसणिया, णेसज्जिया, वीरासणिया, दंडायतिया, लगंड-साइणो, अप्पाउडा, अगत्तया, अकण्डुया, अणिट्ठुहा, [एवं जहोववाइए], धुय-केस-मंसु-रोम णहा, सव्वगाय-पडिकम्म-विप्पमुक्का चिट्ठंति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं, वासाइं सामण्ण परियागं पाउणंति पाउणित्ता अबाहंसि उप्पण्णंसि वा, अणुप्पण्णंसि वा, बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति, अणसणाए छेदित्ता, जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणभावे, अदंतवणगे, अछत्तए, अणोवाहणए, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, पर-घर पवेसे, लद्धावलद्धे, माणावमाणणाओ, हीलणाओ, णिंदणाओ, खिंसणाओ, गरहणाओ, तज्जणाओ, तालणाओ, उच्चावया, गाम-कंटगा, बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तमट्ठं आराहंति; तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सास-णिस्सासेहिं अणंतं, अणुत्तरं, णिव्वाघायं, णिरावरणं, कसिणं, पडिपुण्णं, केवल-वर-णाण-दंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्व-दुक्खाणं अंतं करेंति ।

कठिन शब्दार्थ - **णिरुवलेवा** - कर्म मल के लेप से रहित, **णिरंजणा** - निरंजन, **अप्पडिहयगई**- अप्रतिहत गति वाले, **णिरावलंबणा** - आलंबन रहित, **सारदसलिलमिव सुद्धहियया** - शरद ऋतु के निर्मल जल की तरह शुद्ध हृदय वाले, **पुक्खरपत्तं** - पुष्कर पत्र-कमल पत्र, **खग्गिविसाणं** - गेंडे का सींग, **सोंडीरा** - बहादुर, **जायत्थामा** - भार वहन करने में समर्थ, **दुद्धरिसा** - अपराजेय, **सव्वफासविसहा** - सभी स्पर्शों को सहन करने वाले, **उग्गहे** - अवग्रह, **पग्गहे** - प्रग्रह, **उक्खित्त णिक्खित्त चरगा** - उत्क्षिप्त निक्षिप्त चरक, **संसट्ठचरगा** - संसृष्ट चरक, **दिट्ठलाभिया**- दृष्ट लाभिक, **उवणिहिया** - औपनिधिक, **पुरिमड्ढिया** - पूर्वार्धिक, **णिव्विगइया** - निर्विकृतिक, **ठाणाइया** - स्थानायतिक, **अवाउडा**- अप्रावृतक, **अगत्तया** - अगात्रक, **अकंडूया** - अकण्डूयक, **अणिट्ठुहा** - थूंक बाहर नहीं फैकने वाले, **सव्वगायपडिकम्म-विप्पमुक्का** - सर्वगात्र परिकर्म विमुक्त-समस्त शरीर को सजाने संवारने से मुक्त ।

भावार्थ - वे धार्मिक पुरुष अगार यानी घर दारा (स्त्री) से रहित और बड़े भाग्यवान् होते हैं। वे ईर्या समिति तथा भाषा समिति को यथाविधि पालन करते हैं, वे एषणा समिति तथा पात्र और वस्त्र आदि धर्मोपकरणों को ग्रहण करने और रखने की समिति से युक्त होते हैं, वे महापुरुष बड़ी नीत लघुनीत खंखार तथा नाक और शरीर के मल को शास्त्रोक्त रीति से डालते हैं, वे मन, वचन और काय समिति से युक्त होते हैं, वे मन, वचन और काया को पाप से गुप्त रखते हैं वे अपने इन्द्रियों को विषयभोग से गुप्त रखते हुए ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं । वे क्रोध मान माया और लोभ से रहित होते हैं, वे शान्ति, उत्तम शान्ति एवं बाहर और भीतर की शान्ति से युक्त और समस्त सन्तापों से रहित होते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वे आस्रवों का सेवन नहीं करते हैं और सब परिग्रहों से रहित होते हैं। वे महात्मा संसार के प्रवाह का छेदन किए हुए तथा कर्म मल के लेप से रहित होते हैं जैसे कांसे की पात्री में जल का लेप नहीं लगता है। इसी तरह उन महात्माओं में कर्म रूपी मल का लेप नहीं लगता है। जैसे शंख कालिमा से रहित होता है उसी तरह वे महात्मा रागादि दोषों से रहित होते हैं। जैसे जीव की गति कहीं नहीं रुकती है, वैसे ही उन महात्माओं की गति किसी भी स्थान में नहीं रुकती है। जैसे आकाश बिना अवलम्बन के ही रहता है इसी तरह वे महात्मा भी निरवलम्ब रहते हैं अर्थात् वे अपने निर्वाह के लिए किसी व्यापार, धन्धा तथा व्यक्ति का अवलम्बन नहीं रखते हैं। जैसे पवन बन्धन रहित होता है इसी तरह वे महात्मा भी प्रतिबन्ध रहित होते हैं। वे शरद ऋतु के निर्मल जल की तरह शुद्ध हृदय वाले होते हैं। जैसे कमल का पत्र जल के लेप से रहित होता है इसी तरह वे महात्मा कर्म जल के लेप से रहित होते हैं । वे कछुवे की तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त रखते हैं। जैसे पक्षी स्वच्छन्द विहारी होता है इसी तरह वे महात्मा समस्त ममताओं से रहित स्वच्छन्द विहारी होते हैं जैसे गेंडे का सींग एक ही होता है उसी तरह वे महात्मा राग द्वेष रहित तथा भाव से एक ही होते हैं। वे भारण्ड पक्षी की तरह प्रमाद रहित होते हैं। जैसे हाथी वृक्ष आदि को तोड़ने में समर्थ होता है उसी तरह वे महात्मा कषायों का शमन करने में समर्थ होते हैं। जैसे बैल भारवहन करने में समर्थ होता है इसी तरह वे महात्मा संयम भार के वहन में समर्थ होते हैं। जैसे सिंह को दूसरे पशु दबा नहीं सकते इसी तरह उन महात्माओं को परीषह और उपसर्ग नहीं दबा सकते हैं। जैसे मन्दर पर्वत कम्पित (चलायमान) नहीं होता है उसी तरह वे महात्मा परीषह और उपसर्गों से कम्पित (चलायमान) नहीं होते हैं। वे समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं अर्थात् हर्ष शोकादि से व्याकुल नहीं होते । चन्द्रमा के समान उनकी शीतल प्रकृति होती है। वे सूर्य के समान बड़े तेजस्वी होते हैं उत्तम जाति वाले सोने में जैसे मल नहीं लगता है उसी तरह उन महात्माओं में कर्म मल नहीं लगता है। वे पृथ्वी के समान सभी स्पर्शों को सहन करते हैं। अच्छी तरह होम की हुई अग्नि के समान वे तेज से देदीप्यमान रहते हैं। उन भाग्यशाली महात्माओं के लिए किसी भी जगह प्रतिबन्ध नहीं होता है। वह प्रतिबन्ध चार प्रकार से होता है जैसे कि - अण्डा से उत्पन्न होने वाले हंस और मयूर आदि पक्षियों से तथा बच्चे के रूप में उत्पन्न होने वाले हाथी आदि के बच्चों से एवं निवास स्थान तथा पीठ फलक और उपकरण आदि से, विहार में प्रतिबन्ध होता है, परन्तु उनके विहार में ये चारों ही प्रतिबन्ध नहीं होते हैं। वे जिस जिस दिशा में जाना चाहते हैं उसमें प्रतिबन्ध रहित चले जाते हैं। वे निर्मल हृदय, परिग्रह रहित और बन्धन हीन महात्मा संयम और तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं। उन भाग्यशाली महात्माओं की संयम के निर्वाहार्थ ऐसी जीविकावृत्ति होती है जैसे कि - एक दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन, चार, पाँच तथा छह दिन का उपवास एक, पक्ष का उपवास, एक मास का उपवास, दो मास का उपवास, तीन मास का, चार मास का, पांच मास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का एवं छह मास का उपवास ये करते हैं इसके सिवाय किसी का अभिग्रह होता है कि-"वे हण्डिका (खीचड़ी आदि पकाने का बर्तन) में से निकाला हुआ ही अन्न लेते हैं। कोई महात्मा परोसने के लिए हण्डिका में से निकाल कर फिर उसमें रखा हुआ ही अन्न लेते हैं, कोई हण्डिका में से निकाले हुए तथा हण्डिका में से निकाल कर फिर उसमें रखे हुए इन दोनों प्रकार के आहारों को ही ग्रहण करते हैं। कोई अन्त प्रान्त आहार लेने का अभिग्रह रखते हैं। कोई रूक्ष आहार ही ग्रहण करते हैं। कोई छोटे बड़े अनेक घरों से ही भिक्षा ग्रहण करते हैं। कोई जिस अन्न या शाक आदि से चम्मच या हाथ भरा हो उस हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह धारण करते हैं। कोई देखे हुए आहार को ही लेते हैं और कोई न देखे हुए आहार तथा न देखे हुए दाता की ही गवेषणा करते हैं। कोई पूछ कर ही आहार लेते हैं और कोई बिना पूछे ही आहार ग्रहण करते हैं । कोई तुच्छ आहार ही लेते हैं और कोई अतुच्छ आहार लेते हैं। कोई अज्ञात आहार ही लेते हैं कोई अज्ञात लोगों से ही आहार लेते हैं कोई देने वाले के निकट में स्थित आहार को ही लेते है कोई दत्ति की संख्या करके आहार लेते हैं, कोई परिमित आहार ही लेते हैं। कोई शुद्ध यानी दोषवर्जित आहार की ही गवेषणा करते हैं। कोई अन्त आहार ही लेते हैं। कोई भूँजे हुए चना आदि ही लेते हैं, कोई बचा हुआ आहार ही लेते हैं, कोई रसवर्जित आहार लेते हैं, कोई विरस आहार लेते हैं, कोई रूक्ष आहार लेते हैं, कोई तुच्छ आहार लेते हैं। कोई अन्त प्रान्त आहार से ही जीवन निर्वाह करते हैं, कोई सदा आयंबिल करते हैं, कोई सदा दोपहर के बाद ही आहार करते हैं, कोई सदा घृतादि रहित ही आहार करते हैं।" वे सभी महात्मा मद्य और मांस नहीं खाते हैं तथा वे सर्वदा सरस आहार नहीं करते हैं। वे सदा कार्योत्सर्ग करते रहते हैं तथा प्रतिमा (ली हुई प्रतिज्ञा या अभिग्रह) का पालन करते हैं, उत्कटुक आसन से बैठते हैं। वे आसन युक्त भूमि पर ही बैठते हैं, वे वीरासन लगाकर बैठते हैं, वे डण्डे की तरह लम्बा होकर रहते हैं, वे डेढ़े काठ की तरह सोते हैं वे बाहर के आवरण से रहित और ध्यानस्थ रहते हैं, वे शरीर को नहीं खुजलाते थूक बाहर नहीं फेंकते हैं इस प्रकार औपपातिक सूत्र में जो गुण कहे हैं वे सब यहाँ भी जानने चाहिए। वे अपने सिर के बाल, मूंछ, दाढी, रोम और नख को सजाते नहीं हैं। वे अपने समस्त शरीर को परिकर्म (सजाना) नहीं करते हैं। वे महात्मा इस प्रकार उग्र विहार करते हुए बहुत वर्षों तक अपनी दीक्षा का पालन करते हैं। अनेक रोगों की बाधा उत्पन्न होने या न होने पर वे बहुत काल तक अनशन यानी संथारा करते हैं। वे बहुत काल का अनशन करके संथारा को पूर्ण करते हैं। अनशन का पालन करने के पश्चात् वे महात्मा जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए नग्न रहना, मुण्ड मुंडाना, स्नान न करना, दांत साफ न करना, छत्ता न लगाना, जूता न पहिनना एवं भूमि पर सोना, फलक (पाटिया) के ऊपर सोना, काठ पर सोना, केश का लुञ्चन करना, ब्रह्मचर्य धारण करना, भिक्षार्थ दूसरे के घर में जाना आदि कार्य किए जाते हैं तथा जिसके लिए मान अपमान हीलना निन्दा फटकार ताड़न और कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक प्रकार के कुवचन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं बाईस प्रकार के परीषह और उपसर्ग सहन किए जाते हैं उस वस्तु की (मोक्ष की) आराधना करते हैं । वे उस वस्तु की आराधना करके अन्तिम उच्छ्वास और निःश्वास में केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उत्पन्न करते हैं जो ज्ञान और दर्शन अन्तरहित, सर्वोत्तम, बाधा रहित, आवरणरहित, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण है उक्त ज्ञान और दर्शन को उत्पन्न करके वे सिद्धि गति को प्राप्त करते हैं तथा चतुर्दश रज्जु परिमाण लोक के स्वरूप को जान लेते हैं, संसार से मुक्त तथा शान्त हो जाते हैं एवं वे समस्त दुःखों का क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा, अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति; तं जहा-महड्ढिएसु, महज्जुइएसु, महापरक्कमेसु, महाजसेसु, महाबलेसु, महाणुभावेसु, महासुक्खेसु, ते णं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया, महज्जुइया, जाव महासुक्खा, हार-विराइय-वच्छा, कडग-तुडिय-थंभिय-भुया, अंगय-कुंडल-मट्ठ-गंड-यल-कण्ण-पीढधारी, विचित्त-हत्था-भरणा, विचित्त-मालामउली-मउडा, कल्लाण-गंध-पवर-वत्थ-परिहिया, कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवण-धरा, भासुरबोंदि, पलंब-वणमाल-धरा, दिव्वेणं रूवेणं, दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संगाएणं, दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुत्तीए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चाए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दस-दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा, ठिइकल्लाणा, आगमेसि-भद्दया यावि भवंति, एस ठाणे आयरिए जाव सव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे, एगंत-सम्मे सुसाहू । दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ।। ३८ ॥

कठिन शब्दार्थ - कडगतुडियथंभियभुया - कटक (कड़ा) और केयूर, अंगुठी आदि भूषणों से युक्त हाथ वाले, **अंगयकुंडलमट्ठगंड-यलकण्णपीढधारी** - अंगद और कुंडलों से युक्त कपोल वाले, कर्णभूषण को धारण करने वाले, **कल्लाणग-पवरमल्लाणुलेवणधरा** - कल्याणकारी उत्तम माला और अंगलेपन को धारण करने वाले।

भावार्थ - कोई महात्मा एक ही भव में मुक्ति को प्राप्त करते हैं और कोई पूर्व कर्मों के शेष रह जाने से मृत्यु के समय मृत्यु को प्राप्त करके देवलोक में देवता होते हैं । महा ऋद्धिशाली, महाद्युतिवाले, महापराक्रमयुक्त, महायशस्वी, महाबल से युक्त, महाप्रभाव वाले और महासुखदायी जो देवलोक हैं उन में वे देवता होते हैं। वे वहाँ महा ऋद्धिवाले, महान् द्युति वाले, महान् सुख वाले तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हार से सुशोभित छाती वाले, कटक और केयूर आदि भूषणों से युक्त हाथ वाले, विचित्र भूषणों से युक्त हाथ वाले, विचित्र मालाओं से सुशोभित मुकुट वाले, कल्याणकारी तथा सुगन्धित वस्त्र धारण करने वाले, कल्याणकारी उत्तममाला और अङ्गलेपन को धारण करने वाले, प्रकाशित शरीर वाले, लम्बी वन मालाओं को धारण करने वाले देवता होते हैं। वे अपने दिव्य रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शरीर, शरीर का संगठन, ऋद्धि, द्युति, कान्ति, अर्चा, तेज और लेश्याओं से दश दिशाओं को प्रकाशित करते हुए कल्याणगति और स्थिति वाले भविष्य में भद्रक होने वाले देवता होते हैं । यह स्थान आर्य है और यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला है । यह स्थान एकान्त उत्तम और अच्छा है । दूसरा स्थान जो धर्मपक्ष है उसका विभाग वर्णन इस प्रकार कहा गया है ।

विवेचन - दूसरे पक्ष का नाम धर्मपक्ष है। इसमें उत्तमोत्तम आचार और आगमानुकूल विचारनिष्ठ अनगार को धर्म पक्ष का अधिकारी बताया गया है। उसकी वृत्ति और प्रवृत्ति आदि का विश्लेषण करते हुए अन्त में उसकी सुन्दर फलश्रुति दी गयी है विशिष्ट अनगार की वृत्ति को कांस्यपात्र, शंख आदि इक्कीस पदार्थों से उपमा दी गयी है जिसका विश्लेषण भावार्थ में कर दिया गया है। अनगारों की प्रवृत्ति के रूप में प्रारंभिक साधना से लेकर अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक की तप त्याग और संयम की साधना का विवेचन किया गया है। वे मुनि अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं। उन अनगार भगवन्तों के लिये किसी भी जगह प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं होता है। प्रतिबन्ध के चार भेद बतलाये गये हैं यथा- १. अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हंस, मोर आदि पक्षियों में आसक्ति हो जाना अथवा अण्डज का अर्थ रेशमी वस्त्र भी किया गया है अर्थात् रेशमी वस्त्र आदि में आसक्ति हो जाना। २. पोतज अर्थात् हाथी आदि में आसक्ति हो जाना। ३. अवग्रह अर्थात् मकान, पाट आदि में आसक्ति हो जाना ४. औपग्रहिक अर्थात् कारण विशेष से लकड़ी आदि रखना। इनमें आसक्ति हो जाना।

इन चार प्रकार के पदार्थों में आसक्ति हो जाने से विहार में प्रतिबन्ध अर्थात् रुकावट हो जाती है। उन अनगार भगवन्तों के ऐसे किसी प्रकार रुकावट नहीं थी। दस प्रकार अप्रतिबद्धता थी। इस पंचम काल के प्रभाव से अब मुनिपने में शिथिलता आने के कारण कई मुनि पुण्यधाम, मंगलधाम, समाधि, पगलिया आदि बनाने की प्रवृत्ति करने लगे हैं। यह सब ममता का कारण होने से परिग्रह रूप हो जाता है। ये सब प्रवृत्तियाँ जिनेश्वर देव की आज्ञा के विरुद्ध है। उन अनगार भगवन्तों की विविध प्रकार की तपश्चर्या विविध अभिग्रह युक्त भिक्षाचरी, आहार विहार की उत्तम चर्या, शरीर प्रतिकर्म (सेवा सुश्रूषा शरीर को सजाना) का त्याग परीषह उपसर्ग का सहन तथा अन्तिम समय में संलेखना संथारा पूर्वक आमरण अनशन ये अनगार की प्रवृत्ति के मुख्य अंग हैं।

सुपरिणाम - धर्म पक्ष के अधिकारी की वृत्ति और प्रवृत्ति के दो शुभ परिणाम शास्त्रकार ने बतलाये हैं यथा -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. केवलज्ञान केवल दर्शन प्राप्त करके उसी भव में सिद्ध बुद्ध, मुक्त एवं परिनिर्वृत्त हो जाता है।

२. यदि कुछ कर्म बाकी रह जाय तो फिर महा ऋद्धि सम्पन्न एक भवावतारी देव हो जाता है।

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ । इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति; तं जहा-अप्पिच्छा, अप्पारम्भा, अप्परिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला, सुव्वया, सुपडियाणंदा, साहू, एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अप्पडिविरया जाव जे यावण्णा तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाण-परितावण-करा कज्जंति तओ वि एगच्चाओ अप्पडिविरया ।

भावार्थ – अब तीसरा स्थान जो मिश्र स्थान है उसका विचार किया जाता है-इस स्थान में धर्म और अधर्म दोनों ही मिश्रित हैं, इसलिए इसे मिश्र कहते हैं यद्यपि यह अधर्म से भी युक्त है तथापि अधर्म की अपेक्षा इसमें धर्म का अंश इतना अधिक है कि उसमें अधर्म बिलकुल छिपा हुआ सा है । जैसे चन्द्रमा की हजार किरणों में कलंक छिप जाता है इसी तरह इस स्थान में धर्म से अधर्म छिपा हुआ है। अतः इस स्थान की धर्म पक्ष में ही गणना की जाती है । जो पुरुष अल्प इच्छा वाले, अल्प आरम्भ करने वाले, अल्प परिग्रही, धार्मिक, धर्म की अनुज्ञा देने वाले, सुशील और उत्तमव्रतधारी हैं वे इस स्थान में माने जाते हैं । वे पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्त और सूक्ष्म से अनिवृत्त होते हैं । वे यन्त्रपीड़न और निर्लाञ्छन आदि कर्मों से भी निवृत्त होते हैं ।

से जहा णामए समणोवासगा भवंति-अभिगय-जीवाजीवा, उवलद्ध-पुण्ण पावा, आसव-संवर-वेयणा-णिज्जरा-किरिया-हिगरण-बंध-मोक्ख-कुसला, असहेज्ज-देवासुर-णाग-सुवण्ण-जक्ख रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-गरुल गंधव्व-महोरगाएहिं देवगणेहिं णिग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा, इणमेव णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिया, णिक्कंखिया, णिव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ता 'अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।' उसिय-फलिहा, अवंगुय-दुवारा अचियत्तंतेउर-परघर-पवेसा, चाउद्दसट्ठ-मुद्दिट्ठ-पुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं ओसह-भेसज्जेणं पीठ-फलग-सेज्जा-संथारएणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पडिलाभेमाणा, बहूहिं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहा-परिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणंति; पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खायंति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खाएत्ता, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइय-पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा-महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्केसु सेसं तहेव जाव एस ठाणे आयरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए ।

अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ; तत्थ णं जा सा सव्वओ अविरई एस ठाणे आरम्भट्ठाणे-अणारिए जाव असव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे एगंतमिच्छे असाहू। तत्थ णं जा सा सव्वओ विरई एस ठाणे अणारम्भट्ठाणे आरिए जाव सव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे एगंत सम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरंभ-णो-आरंभट्ठाणे एस ठाणे आरिए जाव सव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे एगंतसम्मे साहू ।। ३९ ।।

कठिन शब्दार्थ - अभिगयजीवाजीवा - जीव अजीव को जानने वाले, **आसवसंवरवेयणा णिज्जरा किरियाहिगरण-बंधमोक्खकुसला** - आस्रव संवर वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के विषय में कुशल, **असहेज्जदेवासुर णागसुवण्णजक्खरक्खस किण्णरकिंपुरिसगरुल गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं** - देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गंधर्व, महोरग आदि देवगणों की सहायता न चाहने वाले तथा इनके द्वारा परीषह उपसर्ग दिये जाने पर भी, **अणइक्कमणिज्जा** - निर्ग्रन्थ प्रवचन का उल्लंघन न करने वाले एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन से अविचल, **अट्ठिमिंजा पेम्माणुरागरत्ता** - प्रेमानुराग से अनुरक्त अस्थि (हड्डी) मज्जा(हड्डी के अन्दर शुक्रप्रधान एक तरल पदार्थ) वाले ।

भावार्थ - इसके पश्चात् तीसरा स्थान जो मिश्र स्थान है उसका भेद बताया जाता है। इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जो अल्प इच्छा वाले, अल्प आरम्भ करने वाले और अल्प परिग्रह रखने वाले होते हैं। वे धर्माचरण करने वाले, धर्म की अनुज्ञा देने वाले और धर्म से ही जीवन निर्वाह करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं, वे सुशील सुन्दरव्रतधारी तथा सुख से प्रसन्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने योग्य और सज्जन होते हैं। वे किसी स्थूल प्राणातिपात से जीवनभर निवृत्त रहते हैं और किसी सूक्ष्म प्राणातिपात से निवृत्त नहीं रहते हैं। दूसरे जो कर्म सावद्य और अज्ञान को उत्पन्न करने वाले अन्य प्राणियों को ताप देने वाले जगत् में किए जाते हैं उनमें से कई कर्मों से वे निवृत्त नहीं होते हैं। इस मिश्र स्थान में रहने वाले श्रमणोपासक यानी श्रावक होते हैं। वे श्रावक जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के ज्ञाता होते हैं। वे श्रावक देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, गरुड़ और महासर्प आदि देवों की सहायता की इच्छा नहीं करते हैं तथा देवगण भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से इन्हें विचलित करने में समर्थ नहीं होते हैं। वे श्रावक निर्ग्रंथ प्रवचन में शङ्का रहित और दूसरे दर्शन की आकांक्षा से रहित होते हैं। वे इस प्रवचन के फल में सन्देह रहित होते हैं । वे सूत्रार्थ के ज्ञाता तथा उसे ग्रहण किये हुए और गुरु से पूछ कर निर्णय किये हुए होते हैं । वे सूत्रार्थ को निश्चय किए हुए और समझे हुए एवं उसके प्रति हड्डी और मज्जा में भी अनुराग से रञ्जित होते हैं। वे श्रावक कहते हैं कि – "यह निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है शेष सब अनर्थ हैं" वे विशाल और निर्मल मन वाले होते हैं । दान देने के लिये उनके घर के द्वार सदा खुले रहते हैं । वे श्रावक यदि राजा के अन्तःपुर में चले जाय या किसी दूसरे के घर में प्रवेश करे तो किसी को अप्रीति उत्पन्न नहीं होती थी अर्थात् वे सब के लिये विश्वास पात्र होते हैं। वे चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णिमा आदि पर्व तिथियों में उपवास सहित प्रतिपूर्ण पौषध करते हुए तथा श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, औषध, भेषज, पीठ, फलक, शय्या और तृण आदि देते हुए एवं इच्छानुसार ग्रहण किए हुए शील, गुणव्रत, त्याग प्रत्याख्यान पौषध और उपवास के द्वारा अपनी आत्मा को भावित (सुगन्धित) करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। वे इस प्रकार आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रावक के व्रत का पालन करते हैं। श्रावक के व्रत का पालन करके वे रोग आदि की बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर बहुत काल तक अनशन यानी संथारा ग्रहण करते हैं। वे बहुत काल का अनशन करके संथारे को पूर्ण करते हैं। वे संथारे को पूर्ण करके अपने पाप की आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर समाधि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे काल के अवसर में काल (मृत्यु) को प्राप्त कर विशिष्ट देवलोक में देवता होते हैं। वे महाऋद्धि वाले महा द्युति वाले तथा महासुख वाले देवलोक में देवता होते हैं। (शेष पूर्वपाठ के अनुसार जानना चाहिए ।)

यह स्थान आर्य तथा एकान्त सम्यक् और उत्तम है । तृतीय स्थान जो मिश्र स्थान है उसका विभाग इस प्रकार कहा गया है। इस मिश्र स्थान का स्वामी अविरति के हिसाब से बाल और विरति की अपेक्षा से पण्डित तथा अविरति और विरति दोनों की अपेक्षा से बाल पण्डित कहलाता है । इनमें जो स्थान सभी पापों से निवृत्त न होना है वह आरम्भ स्थान है, वह अनार्य तथा समस्त दुःखों का नाश नहीं करने वाला एकान्त मिथ्या और बुरा है एवं दूसरा स्थान जो सब पापों से निवृत्ति है वह अनारम्भ स्थान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है वह आर्य तथा समस्त दुःखों का नाश करने वाला एकान्त सम्यक् और उत्तम है। तीसरा स्थान जो कुछ पापों से निवृत्ति और कुछ से अनिवृत्ति है वह आरम्भ नोआरम्भ स्थान कहलाता है यह भी आर्य तथा समस्त दुःखों का नाशक एकान्त सम्यक् और उत्तम है ।

एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोयरंति, तं जहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव, तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावादुय-सयाइं भवंतीति मक्खायाइं, तं जहा-किरियावाईणं, अकिरियावाईणं, अण्णा-णियवाईणं, वेणइयवाईणं, तेऽवि परिणिव्वाणमाहंसु तेवि मोक्खमाहंसु ते वि लवंति सावगा ते वि लवंति सावइत्तारो ।।.४०॥

कठिन शब्दार्थ - तिण्णि तेवट्ठाइं पावादुय सयाइं - तीन सौ तिरसठ प्रावादुक, **लवंति** - कथन करते हैं, **सावइत्तारो** - श्रावयितारः-धर्मोपदेश सुनाने वाले-वक्ता।

भावार्थ और विवेचन - वस्तुतः धर्म और अधर्म ये दो ही पक्ष हैं क्योंकि मिश्रपक्ष भी धर्म और अधर्म से मिश्रित होने के कारण इन्हीं के अन्तर्गत हैं । दूसरे मतमतान्तर जो क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के ३६३ भेद वाले पाये जाते हैं वे भी धर्म तत्त्व से रहित और मिथ्या होने के कारण अधर्म पक्ष के ही अन्तर्गत है । उक्त मत मतान्तर यद्यपि मोक्ष भी मानते हैं तथापि उनकी मान्यता विवेक रहित और मिथ्या होने के कारण संसार का ही वर्धक है, मोक्षप्रद नहीं है। बौद्धों की मान्यता है कि - "ज्ञान सन्तति का आधार कोई आत्मा नहीं है किन्तु ज्ञान सन्तति ही आत्मा है । उस ज्ञान सन्तति का कर्म सन्तति के प्रभाव से अस्तित्व है जो संसार कहलाता है और उस कर्मसन्तति के नाश होने से ज्ञानसन्तति का नाश हो जाता है इसी को मोक्ष कहते हैं ।" इस प्रकार का सिद्धान्त मानने वाले बौद्ध यद्यपि मोक्ष का नाम अवश्य लेते हैं और उसके लिए प्रयत्न भी करते हैं परन्तु यह सब इनका अज्ञान है क्योंकि ज्ञान सन्तति से कथंचित् अतिरिक्त और उनका आधार एक आत्मा अवश्य है अन्यथा जिसको मैंने देखा है उसी को स्पर्श करता हूँ इत्यादि संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है अतः ज्ञान सन्तति से अतिरिक्त उनका आधार एक आत्मा अवश्य मानना चाहिये। वह आत्मा अविनाशी है इसलिए मोक्षावस्था में उसके अस्तित्व का नाश मानना भी बौद्धों का अज्ञान है। मोक्ष में यदि आत्मा का अस्तित्व ही न रहे तो उसकी इच्छा मूर्ख भी नहीं कर सकता फिर विद्वानों की तो बात ही क्या है ? अतः बौद्धमत एकान्त मिथ्या और अधर्म पक्ष में ही मानने योग्य है ।

इसी तरह सांख्यवाद भी अधर्म पक्ष में ही गिनने योग्य है । वह आत्मा को कूटस्थ नित्य कहता है परन्तु आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बन सकते । आत्मा जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विध गतियों में परिणत होता रहता है वह उसका संसार है और अपने स्वाभाविक गुणों में जो सदा परिणत होता रहता है वह उसका मोक्ष है ये दोनों बातें कूटस्थ नित्य में सम्भव नहीं हैं अतः यह मत भी त्यागने योग्य ही है। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिकों के मत भी युक्ति रहित होने के कारण अधर्म पक्ष में ही गिनने योग्य है। इन मतों का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है इसलिए यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

ते सव्वे पावाउया आइगरा धम्माणं, णाणापण्णा, णाणाछंदा, णाणासीला, णाणादिट्ठी, णाणारुई, णाणारंभा, णाणाज्झवसाणसंजुत्ता, एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति ।

पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुण्णं अयोमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं णाणापिण्णे जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावाउया ! आइगरा धम्माणं णाणापण्णा जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता! इमं ताव तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तयं पाणिणा धरेह, णो बहु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्गिथंभणियं कुज्जा, णो बहु-साहम्मिय-वेयावडियं कुज्जा, णो बहु-पर-धम्मिय-वेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियाग-पडिवण्णा अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह-इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणंतं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहु-पडिपुण्णं अयोमएणं संडासएणं गहाय पाणिंसु णिसिरइ; तएणं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापण्णा जाव णाणाज्झवसाण-संजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति । तएणं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं जाव णाणाज्झवसाण-संजुत्ते एवं वयासी-'हंभो पावादुया ! आइगरा धम्माणं णाणापण्णा जाव णाणाज्झवसाण-संजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसारह ? पाणिं णो डहिज्जा; दड्ढे किं भविस्सइ ? दुक्खं दुक्खं ति मण्णमाणा पडिसारह; एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे; तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति-सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेतव्वा, परितावेयव्वा, किलामेयव्वा, उद्दवेयव्वा । ते आगंतु-छेयाए, ते आगंतु-भेयाए जाव ते आगंतु-जाइ-जरा-मरण-जोणि-जम्मण-संसार-पुणब्भवगब्भवास-भवपवंच-कलंकली भागिणो भविस्संति । ते बहूणं दंडणाणं, बहूणं मुंडणाणं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तज्जणाणं, तालणाणं, अंदुबंधणाणं, जाव घोलणाणं, माइमरणाणं, पिइमरणाणं, भाइमरणाणं, भगिणीमरणाणं, भज्जा-पुत्त-धूया-सुण्हामरणाणं, दारिद्दाणं, दोहग्गाणं, अप्पिय-संवासाणं, पियविप्पओगाणं, बहूणं दुक्ख-दोम्मणस्साणं, आभागिणो भविस्संति । अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति । ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति । एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे । तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा ण किलामेयव्वा ण उद्दवेयव्वा । ते णो आगंतुछेयाए ते णो आगंतुभेयाए जाव जाइ-जरा-मरण-जोणि-जम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास भवपवंच-कलंकली भागिणो भविस्संति । ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्ख-दोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति । अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति, ते सिज्झि-स्संति जाव सव्व-दुक्खाणं अंतं करिस्संति । ४१ ।

कठिन शब्दार्थ - **सागणियाणं** - अग्नि सहित-जलते हुए, **इंगालाणं** - अंगारों का, **पाई** - पात्री-पात्र को, **अयोमएणं** - लोहे की, **संडासएणं** - संडासी से, **अगिथंभणियं** - अग्नि का स्तंभन, **आगंतुजाइजरामरण जोणिजम्मणसंसार पुणब्भव-गब्भवास भव पवंचकलंकली भागिणो** - भविष्य में जन्म, जरा, मरण योनि जन्म, संसार, पुनर्भव, गर्भवास, भवप्रपंच में व्याकुल चित्त वाले, **दारिद्दाणं** - दरिद्रता **दोहग्गाणं** - दौर्भाग्य, **अप्पिय-संवासाणं** - अप्रिय संवास-अप्रिय के साथ निवास, **पियविप्प-ओगाणं** - प्रिय वियोग, **दीहमद्धं** - दीर्घ मार्ग वाले, **चाउरंत संसारकंतारं**-चातुर्गतिक संसार रूपी कान्तार(अरण्य-जङ्गल)में।

भावार्थ - जो लोग सर्वज्ञ के आगम को न मान कर किसी दूसरे मत के प्रवर्तक हैं वे अन्य तीर्थी या प्रावादुक कहलाते हैं । इनकी संख्या शास्त्रकार ने ३६३ बताई है । ये प्रावादुकगण अपने शास्त्रों के अतिरिक्त किसी दूसरे सर्वज्ञप्रणीत आगम का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। इनका कहना है कि-मैं ही पहले पहल जगत् को कल्याण का मार्ग बताने वाला हूँ । मेरे पहले कोई दूसरा पुरुष सत्पथ का प्रदर्शक नहीं था। अतएव यहां शास्त्रकार ने इन प्रावादुकों को अपने अपने मतों का आदिकर कह कर बताया है । आर्हत मत का कोई भी धर्मोपदेशक इनके समान धर्म का आदिकर नहीं कहा जा सकता हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि पूर्व केवलियों के द्वारा कहे हुए अर्थों की ही व्याख्या करने वाले उत्तर केवली होते हैं यह आर्हतों की मान्यता है । एक केवली ने जिस अर्थ को जैसा देखा है दूसरे भी उस अर्थ को उसी तरह देखते हैं इसलिए केवलियों के आगमों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है परन्तु अन्य तीर्थियों के आगमों में यह बात नहीं है । वे एक ही पदार्थ को भिन्न भिन्न दृष्टि से देखते हैं और भिन्न भिन्न रूपों से उसकी व्याख्या करते हैं ।

सांख्यवादी असत् की उत्पत्ति न मान कर सत् का ही आविर्भाव मानता है और सत् का नाश न मान कर उसका तिरोभाव बतलाता है परन्तु नैयायिक और वैशेषिक ऐसा नहीं मानते। वे असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश मानते हुए घट पट आदि कार्यसमूह को एकान्त, अनित्य और काल, आकाश, दिशा और आत्मा आदि को एकान्त नित्य कहते हैं। बौद्धगण निरन्वय क्षणभङ्गवाद को स्वीकार करके सभी पदार्थों को क्षणिक बतलाते हैं। इनके मत में पूर्व क्षण के घट के साथ उत्तर क्षण के घट का एकान्त भेद है और अन्वयी द्रव्य कोई है ही नहीं। इसी तरह मीमांसक और तापसों के शास्त्रों में भी पदार्थों की व्यवस्था भिन्न भिन्न रीति से पाई जाती है। किसी के साथ किसी का मतैक्य नहीं है।

वस्तुतः सभी पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त हैं तथा सभी कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य हैं एवं कोई भी एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य नहीं हैं तथा कोई भी निरन्वय क्षणिक नहीं है तथापि महा मोह के उदय से अन्य तीर्थियों को उन उन भिन्न भिन्न रूपों में वे पदार्थ प्रतीत होते हैं । वस्तुतः समस्त कल्याणों की जननी स्वर्गापवर्गदात्री अहिंसा है परन्तु अन्यतीर्थी उसे प्रधान धर्म का अङ्ग नहीं मानते हैं । उन्हें समझाने के लिये शास्त्रकार एक कल्पित दृष्टान्त देकर अहिंसा की प्रधानता सिद्ध करते हैं । मान लीजिये कि किसी जगह सभी प्रावादुक एकत्रित होकर मण्डलाकार बैठे हों, वहां कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष अग्नि के अंगारों से भरी हुई एक पात्री को संडासी से पकड़ कर लावे और कहे कि – "हे प्रावादुको ! आप लोग अंगार से भरी हुई इस पात्री को अपने अपने हाथों में थोड़ी देर तक रखें । आप संडासी की सहायता न लें तथा एक दूसरे की सहायता भी न करें" यह सुनकर वे प्रावादुक उस पात्री को हाथ में लेने के लिए हाथ फैला कर भी उसे अङ्गारों से पूर्ण देखकर हाथ जल जाने के भय से अवश्य ही अपने हाथों को हटा लेंगे । उस समय वह सम्यग्दृष्टि उनसे पूछे कि–आप लोग अपने हाथ को क्यों हटा रहे हैं ? तो वे यही उत्तर देंगे कि हाथ जल जाने के भय से हम लोग हाथ हटा रहे हैं । फिर सम्यग्दृष्टि उनसे पूछे कि–हाथ जल जाने से क्या होगा ? वे उत्तर देंगे कि दुःख होगा । उस समय सम्यग्दृष्टि उनसे यह कहे कि–"जैसे आप दुःख से भय करते हैं इसी तरह सभी प्राणी दुःख से डरते हैं । जैसे आपको दुःख अप्रिय और सुख प्रिय हैं इसी तरह दूसरे प्राणियों को भी दुःख अप्रिय और सुख प्रिय हैं। कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता है किन्तु सभी सुख के इच्छुक हैं इसलिए प्राणियों पर दया करना और उन्हें कष्ट न देना ही प्रधान धर्म का अङ्ग है । जो पुरुष सब प्राणियों को अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समान देखता हुआ अहिंसा का पालन करता है, वस्तुतः वही देखने वाला है । जहां अहिंसा है वही धर्म का निवास है । इस प्रकार अहिंसा धर्म का प्रधान अङ्ग है यह सिद्ध होने पर भी परमार्थ को न जानने वाले कई अज्ञानी श्रमण माहन हिंसा का समर्थन करते हैं । वे कहते हैं कि-"देव यज्ञ आदि कार्य्यों में तथा धर्म के निमित्त प्राणियों का वध करना धर्म है, पाप नहीं है । श्राद्ध के समय रोहित मत्स्य का और देव यज्ञ में पशुओं का वध धर्म का अङ्ग है। इसी तरह किसी खास समय में प्राणियों को दासी दास आदि बनाना भी धर्म है" इत्यादि । इस प्रकार हिंसामय धर्म का उपदेश करने वाले अन्यदर्शनी महामोह में फँसे हैं वे अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहेंगे। वे जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखों से कभी मुक्त नहीं होंगे। अतः विवेकी पुरुष को अहिंसा धर्म का आश्रय लेना चाहिये। जो पुरुष तत्त्वदर्शी हैं वे अहिंसा धर्म का ही पालन करते हैं अहिंसा धर्म का ही और उपदेश देते हैं। वे किसी से वैर नहीं करते, किन्तु सभी पर दया करते हैं । उन महापुरुषों का इस जगत् में कोई भी शत्रु नहीं है। वे अपने इस पवित्र धर्म का पालन करके सदा के लिए सब दुःखों से रहित मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं । अतः अहिंसा ही प्रधान धर्म है यह जानकर उसी का आश्रय लेना चाहिये ।। ४१ ॥

विवेचन - श्रमणोपासकों (श्रावक) के वर्णन में '**असहिज्जदेवा**' इत्यादि शब्द आये हैं। जिनका अर्थ इस प्रकार है-जैसे प्रचण्ड वायु के द्वारा भी मेरु पर्वत चलित नहीं किया जा सकता है वैसे ही वे श्रमणोपासक भी देवों के द्वारा भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित नहीं किये जा सकते हैं। मनुष्यों की तो बात ही क्या ? आपत्ति आदि में भी वे देवों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

'**अणतिक्कमणिज्जा**' का अर्थ है जैसे किसी सुशील व्यक्ति का गुरु अपने सिद्धान्त का अतिक्रमण नहीं करता वैसे ही अरिहन्तोपासक श्रावक भी शील सिद्धान्त या निर्ग्रन्थ प्रवचन का अतिक्रमण नहीं करते हैं।

'**ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा**' का अर्थ है अरिहन्तोपासक श्रावक इतने उदार होते हैं कि इनके घर पर आया हुआ कोई भी अतिथि, प्रार्थी, याचक खाली हाथ न जावे इस दृष्टि से दान देने के लिये उनके दरवाजे सदा खुले रहते थे। किन्तु किंवाड़ के पीछे अर्गला (आगल) लगाकर बन्द नहीं किये जाते थे। इस उदारता के कारण आज भी जैनों के लिये "ओसवाल भूपाल" 'सेठ' (श्रेष्ठी) और 'महाजन' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

"**अट्ठिमिंजापेम्माणुरागरत्ता**" का अर्थ है कि अरिहन्तोपासक श्रावक के हड्डी और हड्डी की मज्जा, निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुराग से अनुरक्त होती है। 'मज्जा' शब्द का अर्थ आयुर्वेद में इस प्रकार किया गया है-

रसाद् रक्तं ततो मांसं, मांसात् मेदः प्रजायते।
मेदस्यास्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्र सम्भवः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ - मनुष्य जो आहार करता है क्रमशः शरीर में उसकी ये सात धातुएँ बनती हैं - १. रस २. रक्त ३. मांस ४. मेद (चर्बी) ५. अस्थि (हड्डी) ६. मज्जा (एक प्रकार का तरल पदार्थ जो हड्डी के मध्य में होता है) ७. शुक्र (वीर्य-सब धातुओं का सार, शरीर का राजा)।

निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रावकों की इतनी दृढ़ता होनी चाहिए तथा धन, कुटुम्ब, परिवार आदि के प्रति जो अनुराग होता है उससे भी अधिक अनुराग निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर होना चाहिये।

"अब्भियत्तंतेउरघरपवेसा" इसका अर्थ है राजा के अन्तःपुर में तथा राजभण्डार में किसी भी पुरुष को जाने की इजाजत नहीं होती है किन्तु अरिहन्तों के उपासक श्रावक ऐसे विश्वसनीय और प्रतीतकारी होते हैं कि वे राजा के अन्तःपुर में अथवा या राजा के खुले खजाने में चले जाय। तो भी उन पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं किया जाता है। अर्थात् वे ब्रह्मचर्य (लंगोट) और हाथ के इतने सच्चे होते हैं कि उन पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं किया जाता है। कहा भी है -

जिह्वा, कर, कच्चोटडी तीन वस्तु को धरन्त।
जो नर हिंडे मलकंता तो दुर्जन कहा करंत॥

अर्थ - वचन का सच्चा, हाथ का सच्चा और लंगोट (ब्रह्मचर्य) का सच्चा। इन तीन वस्तुओं में जो सच्चा दृढ़ है वह चाहे शत्रुओं के बीच में आनन्द पूर्वक झूले में झूलता रहे तो भी शत्रु उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते हैं।

मूल पाठ में अरिहन्तोपासकों के ऐसे अनेक विशेषण दिये हैं।

इच्चेएहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा णो सिंज्झिंसु णो बुज्झिंसु, णो मुच्चिंसु, णो परिणिव्वाइंसु, जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, णो करेंति वा णो करिस्संति वा ।।

एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु, बुज्झिंसु, मुच्चिंसु, परिणिव्वाइंसु, जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करंति वा करिस्संति वा । एवं से भिक्खु आयट्ठी आयहिए, आयगुत्ते, आयजोगे, आयपरक्कमे, आयरक्खिए, आयाणुकंपए, आय-णिप्फेडए, आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्तिबेमि । ४२।

इति विणयसुयक्खंधस्स किरियाठाणं णामं बीयमज्झयणं समत्तं ।।

कठिन शब्दार्थ - **आयजोगे** - आत्मयोगी, **आयपरक्कमे** - आत्म पराक्रमी-आत्मा के लिए पराक्रम करने वाला, **आय-णिप्फेडए** - आत्म निष्फेटक (आत्म रक्षक) आत्मा की रक्षा करने वाला, **पडिसाहरेज्जासि** - पापों से निवृत्त करे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - इस दूसरे अध्ययन में तेरह क्रिया - स्थानों का सविस्तार वर्णन करके बारह क्रिया - स्थानों को संसार का कारण और तेरहवें क्रिया स्थान को कल्याण का कारण कहा है इसलिए जो पुरुष बारह क्रिया - स्थानों को छोड़ कर तेरहवें क्रिया - स्थान का सेवन करते हैं वे सब प्रकार के दुःखों का नाश करके परमानन्द रूप मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं । परन्तु जो अज्ञानी जीव महामोह के उदय से बारह क्रिया स्थानों का सेवन नहीं छोड़ते हैं वे सदा जन्म मरण के प्रवाह रूप संसार में पड़े हुए अनन्त काल तक दुःख के भाजन होते हैं । पूर्व समय में जिन भव्य जीवों ने तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय लिया है वे मुक्त हो गये हैं और बारह क्रिया स्थानों का आश्रय लेने वाले नहीं । इसलिए आत्मार्थी पुरुषों को चाहिये कि-वे तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय लेकर अपनी आत्मा को संसार सागर से पार करने का प्रयत्न करें। **त्तिबेमि-इति ब्रवीमि** - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि - हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम से कहता हूँ किन्तु अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

विवेचन - इस दूसरे अध्ययन में तेरह क्रिया स्थानों का वर्णन किया गया है। इन में से बारह क्रिया स्थान तो मुमुक्षु जीव के लिये सर्वथा त्याज्य हैं। तेरहवां ईर्यापथ नाम का क्रिया स्थान ग्राह्य होने पर भी सिद्धान्तानुसार एवं भूत आदि शुद्ध नयों की अपेक्षा से त्याज्य है। तेरहवें क्रियास्थान में स्थित जीव की सिद्धि, मुक्ति या निर्वाण पाने की बात औपचारिक है क्योंकि वास्तव में देखा जाय तो जब तक योग रहते हैं (तेरहवें गुणस्थान तक) तब तक भले ही ईर्यापथ क्रिया हो जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसीलिये यहाँ पर 'तेरहवें क्रिया स्थान वाले को मोक्ष की प्राप्ति होती हैं' इस कथन के पीछे शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि तेरहवां क्रियास्थान प्राप्त होने पर जीव को मुक्ति की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। मोक्ष प्राप्ति में तेरहवां क्रिया स्थान उपकारक है। अर्थात् जिन्होंने बारह क्रिया स्थानों को छोड़कर तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय ले लिया वे एक दिन अवश्य ही सिद्ध, बुद्ध मुक्त यावत् सर्व दुःखान्तकृत बन जाते हैं। किन्तु बारह क्रिया स्थानों का आश्रय लेने वाले सिद्ध, बुद्ध यावत् सब दुःखों का अन्त करने वाले नहीं बनते हैं।

।। दूसरा अध्ययन समाप्त ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार परिज्ञा नामक तीसरा अध्ययन

उत्थानिका – इस तीसरे अध्ययन का नाम 'आहार परिज्ञा' है। शरीर धारी प्राणी को आहार ग्रहण करना अनिवार्य होता है। क्योंकि उसके बिना शरीर स्थिति सम्भव नहीं है।

साधु-साध्वियों को भी आहार ग्रहण करना पड़ता है। वे बयालीस दोष रहित शुद्ध कल्पनीय आहार से ही अपने शरीर का निर्वाह करते हैं। अशुद्ध और अकल्पनीय से नहीं।

कवलाहार के अतिरिक्त भी अन्य किस किस आहार से शरीर को पोषण मिलता है। अन्य जीवों के आहार की पूर्ति कैसे और किस प्रकार के आहार से होती है इन सब बातों का ज्ञान कराने के कारण इस अध्ययन का नाम "आहारपरिज्ञा" रखा गया है।

आहार के मुख्य दो भेद हैं – द्रव्य आहार और भाव आहार। द्रव्य आहार सचित्त, अचित्त और मिश्र इन तीन प्रकार का होता है। प्राणीवर्ग क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से जब किसी वस्तु का आहार करता है वह भाव आहार कहलाता है। समस्त प्राणी वर्ग तीन प्रकार से भाव आहार ग्रहण करता है – यथा १. ओज आहार २. रोम आहार ३. प्रक्षेप आहार।

जीव जब एक गति से मरकर दूसरी गति में जाता है तब वहाँ शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर जो आहार ग्रहण करता है उसको ओज आहार कहते हैं। यह आहार चौबीस ही दण्डक के जीवों का होता है। शरीर की रचना पूर्ण होने पर बाहर की त्वचा (स्पर्शनेन्द्रिय) से या रोम कूप से प्राणियों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार रोम आहार या लोम आहार कहलाता है। मुख (जिह्वा) आदि द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है उसे प्रक्षेप आहार (कवल आहार) कहते हैं।

अपर्याप्त जीवों का ओज आहार। देव और नारकी के जीवों का आहार रोम आहार तथा अन्य पर्याप्त जीवों का आहार प्रक्षेप आहार (कवल आहार-ग्रास आहार) कहलाता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग केवली भगवान् अनन्त वीर्य सम्पन्न होते हैं। तथापि उनमें पर्याप्तित्व, वेदनीय कर्म का उदय एवं आहार को पचाने वाला तैजस शरीर और दीर्घ आयुष्कता होने से उनको कवल आहार करना पड़ता है।

चार अवस्थाओं में जीव आहार नहीं करता यथा – १. विग्रह गति के समय २. केवली समुद्घात के आठ समयों में से तीसरे, चौथे और पांचवें समय में ३. शैलेशी अवस्था प्राप्त अयोगी केवली ४. सिद्धि गति प्राप्त आत्मा अर्थात् सिद्ध भगवान्।

बीजकायों के आहार की चर्चा से इस अध्ययन का प्रारम्भ होकर क्रमशः पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय तथा त्रस जीवों में पञ्चेन्द्रिय देव और नारकी जीवों के आहार की चर्चा को छोड़कर मनुष्य और तिर्यञ्च के आहार की चर्चा की गयी है। साथ ही प्रत्येक जीव के उत्पत्ति, पोषण, संवर्धन आदि की पर्याप्त चर्चा की गयी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार प्राप्ति में हिंसा की सम्भावना होने से साधु-साध्वी वर्ग को संयम निर्वाह के लिये निर्दोष शुद्ध आहार पानी ग्रहण करना चाहिए ऐसी तीर्थङ्कर भगवन्तों की आज्ञा है। इस बात की चर्चा भी इस अध्ययन में की गयी है।

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु आहार-परिण्णाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे - इह खलु पाईणं वा ४ सव्वओ सव्वावंति य णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तंजहा-अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहेगइया सत्ता पुढवीजोणिया, पुढवीसंभवा, पुढवीवुक्कमा, तज्जोणिया, तस्संभवा, तदुवक्कमा, कम्मोवगा, कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा, णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ।। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेह-माहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं, आउसरीरं, तेउसरीरं, वाउसरीरं, वणस्सइसरीरं ।। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं । अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतित्तिमक्खायं ।। ४३ ॥

कठिन शब्दार्थ - **बीयकाया** - बीज काय, **अग्गबीया** - अग्रबीज, **मूल बीया** - मूल बीज, **पोरबीया** - पर्व बीज, **खंधबीया** - स्कंध बीज, **अहाबीएणं** - अपने अपने बीज के अनुसार, **अहावगासेणं** - अपने-अपने अवकाश (स्थान) के अनुसार, **पुढवीसंभवा**- पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले, **पुढवीवुक्कमा**- पृथ्वी पर वृद्धि को प्राप्त करने वाले, **परिविद्धत्थं** - परिविध्वस्त (प्रासुक), **तयाहारियं**- त्वचा के द्वारा आहार किये हुए, **सारु-वियकडं** - अपने शरीर के रूप में, **णाणाविहसरीर-पुग्गलविउव्विया** - नाना प्रकार के शरीर पुद्गलों से विरचित ।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि-श्री महावीर भगवान् ने आहार परिज्ञा नामक एक अध्ययन का वर्णन किया है। उसका अभिप्राय यह है-इस जगत् में एक बीजकाय नामक जीव होते हैं उनका शरीर बीज है इसलिये वे बीजकाय कहलाते हैं । वे बीजकाय वाले जीव चार प्रकार के होते हैं जैसे कि-अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज और स्कन्धबीज । जिनके बीज अग्रभाग में उत्पन्न होते हैं वे अग्रबीज हैं जैसे-तिल ताल, आम और शालि आदि । जो मूल से उत्पन्न होते हैं वे मूलबीज कहलाते हैं जैसे-आदा (आर्द्रक) आदि । जो पर्व से उत्पन्न होते हैं वे पर्वबीज कहलाते हैं जैसे-इक्षु आदि । जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्धबीज कहलाते हैं जैसे सल्लकी आदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये चारों प्रकार के जीव वनस्पति काय के जीव हैं। वे अपने-अपने बीजों से ही उत्पन्न होते हैं, दूसरे के बीज से दूसरे उत्पन्न नहीं होते हैं । जिस वृक्ष की उत्पत्ति के योग्य जो प्रदेश होता है उसी प्रदेश में वह वृक्ष उत्पन्न होता है अन्यत्र नहीं होता है तथा जिनकी उत्पत्ति के लिये जो जो काल, भूमि, जल, आकाश प्रदेश और बीज अपेक्षित हैं उनमें से एक के न होने पर भी वे उत्पन्न नहीं होते हैं। इस प्रकार वनस्पति काय के जीव की उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल और बीज आदि तो कारण हैं ही, साथ ही कर्म भी कारण है क्योंकि कर्म से प्रेरित होकर ही जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होता है इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि - "**कम्मोवगा**" अर्थात् कर्म से प्रेरित होकर प्राणी वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं । वे वनस्पति काय के जीव यद्यपि अपने-अपने बीज और अपने-अपने सहकारी कारण काल आदि से ही उत्पन्न होते हैं तथापि वे पृथिवीयोनिक कहलाते हैं क्योंकि-उनकी उत्पत्ति के कारण जैसे बीज आदि हैं उसी तरह पृथिवी भी है, पृथिवी के बिना उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । पृथिवी ही इनका आधार है अतः ये वृक्ष पृथिवीयोनिक हैं । ये जीव पृथिवी पर उत्पन्न होकर पृथिवी पर ही स्थित रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं । वे अपने कर्म से प्रेरित होकर उसी वनस्पति काय से आकर फिर उसी में उत्पन्न होते हैं । वे जिस पृथिवी में उत्पन्न होते हैं उसके स्नेह का आहार करते हैं तथा जल, तेज, वायु और वनस्पति का भी आहार करते हैं । जैसे माता के पेट में रहने वाला बालक माता के पेट में स्थित पदार्थों का आहार करता हुआ भी माता को पीड़ित नहीं करता है इसी तरह वे वृक्ष पृथिवी के स्नेह का आहार करते हुए भी पृथिवी को पीड़ित नहीं करते हैं । उत्पत्ति के बाद पृथिवी से भिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि से युक्त होने के कारण ये पृथिवी को चाहे कष्ट भी देते हों परन्तु उत्पत्ति के समय कष्ट नहीं देते हैं । वे वनस्पति काय के जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों को अपने शरीर से दबा कर मार डालते हैं ये जीव, पहले आहार किये हुए पृथिवी आदि के शरीर को अपने रूप में परिणत कर डालते हैं । इनके पत्र, पुष्प, फल, मूल, शाखा और प्रशाखा आदि नाना वर्ण वाले नाना रस वाले और नाना रचना वाले और भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं । यद्यपि शाक्य लोग इन स्थावरों को जीव का शरीर नहीं मानते हैं तथापि जीव का लक्षण जो उपयोग है उसकी सत्ता का वृक्षों में भी अनुभव की जाती है अतः इनके जीव होने की सिद्धि होती है । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि - जिधर आश्रय होता है उसी ओर लता जाती है तथा विशिष्ट आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि और आहार न मिलने पर उसकी (दुर्बलता) देखी जाती है । वृक्ष की शाखा काट लेने पर फिर वहाँ कोंपल निकल आता है तथा सब त्वचा उखाड़ लेने पर वह सूख जाता है । इन सब कार्य्यों को देखकर वनस्पति जीव है यह स्पष्ट सिद्ध होता है अतः वनस्पति को जीव न मानना भूल है। जीव अपने किये हुए कर्म से प्रेरित होकर वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं किसी काल या ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं, यह तीर्थंकर और गणधरों का सिद्धांत है ।। ४३ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया, रुक्खसंभवा, रुक्खवुक्कमा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तज्जोणिया, तस्संभवा, तदुवक्कमा, कम्मोवगा, कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणा-विहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा, णाणागंधा, णाणारसा, णाणाफासा, णाणासंठाण-संठिया, णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीतिमक्खायं ।। ४४ ॥

कठिन शब्दार्थ - रुक्खजोणिया - वृक्षयोनिक ।

भावार्थ - इस पाठ के पूर्व में पृथिवी में उत्पन्न होने वाले वृक्षों का वर्णन किया है अब इस पाठ के द्वारा उन वृक्षों का वर्णन किया जाता है जो उन पृथिवी योनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं । जो वृक्ष, वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं उन्हें वृक्षयोनिक वृक्ष कहते हैं । ये वृक्षयोनिक वृक्ष, वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं और उसी में स्थित रहते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं । ये जीव भी अपने किये हुए कर्म से प्रेरित होकर ही इस गति को प्राप्त होते हैं किसी काल या ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं । इन वृक्षों का वर्णन भी पृथिवीयोनिक वृक्षों के समान ही किया गया है इसलिये वही वर्णन यहां भी जानना चाहिये ।। ४४ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया, रुक्खसंभवा, रुक्खवुक्कमा, तज्जोणिया, तस्संभवा, तदुवक्कमा, कम्मोवगा, कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीतिमक्खायं ।। ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - भवंति - होते हैं, इति - ऐसा, अक्खायं- कहा गया है।

भावार्थ - श्री तीर्थङ्कर देव ने वनस्पति काय के जीवों का अन्य भेद भी कहा है । कोई जीव वृक्ष में उत्पन्न होते हैं और उसी में रहते हैं तथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे वृक्ष से उत्पन्न और वृक्ष में ही स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव हैं वे कर्मवशीभूत होकर तथा कर्म के कारण उन वृक्षों में आकर वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्ष से उत्पन्न वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। वे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर डालते हैं। वे प्रासुक किये हुए तथा पहले खाये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा खाये हुए पृथिवी आदि शरीरों को पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं। उन वृक्ष योनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे भी शरीर होते हैं। वे जीव कर्मवशीभूत होकर वृक्ष योनि वाले वृक्षों में उत्पन्न होते हैं यह श्री तीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥ ४५ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया, रुक्खसंभवा, रुक्खवुक्कमा, तज्जोणिया, तस्संभवा, तदुववक्कमा, कम्मोवगा, कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा, रुक्खजोणिएसुं रुक्खेसु मूलत्ताए, कंदत्ताए, खंधत्ताए, तयत्ताए, सालत्ताए, पवालत्ताए, पत्तत्ताए, पुप्फत्ताए, फलत्ताए, बीयत्ताए, विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइ० णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीर पुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीतिमक्खायं ।। ४६ ॥

कठिन शब्दार्थ - परिविद्धत्थं - परिविध्वस्त-नष्ट किया हुआ।

भावार्थ - इस सूत्र के द्वारा यह उपदेश दिया गया है कि - वृक्ष के अवयव जो मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, फल, फूल और बीज हैं। इन दश वस्तुओं के जीव भिन्न-भिन्न हैं और वृक्ष का सर्वाङ्ग व्यापक जो जीव है वह इन से भिन्न है तथा पृथिवी-योनिक वृक्ष जैसे पृथिवी से उत्पन्न होकर पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का आहार करते हैं । जैसे पृथिवीयोनिक वृक्षों के नाना प्रकार के रूप, रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं इसी तरह इनके भी होते हैं तथा ये जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से ही इन योनियों में उत्पन्न होते हैं, किसी काल या ईश्वर आदि के प्रभाव से नहीं । शेष बातें पूर्ववत् जाननी चाहिये ।। ४६ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया, रुक्खसंभवा, रुक्खवुक्कमा, तज्जोणिया, तस्संभवा तदुववक्कमा, कम्मोववण्णगा, कम्मणियाणेणं तत्थ-वुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं । ४७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - अज्झारोहत्ताए - अध्यारुह ।

भावार्थ - पूर्व सूत्रों के द्वारा वृक्ष से उत्पन्न होकर वृक्ष में ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले जिन वृक्षों का वर्णन किया गया है उन वृक्षयोनिक वृक्षों में एक अध्यारुह नामक वनस्पति विशेष उत्पन्न होती है । वह वनस्पति, वृक्ष के ऊपर ही तथा उसके आश्रय से ही उत्पन्न होती है इसलिये इसे 'अध्यारुह' कहते हैं। वह वनस्पति जिस वृक्ष में उत्पन्न होती है उसी के स्नेह का आहार करती है तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों को भी आहार करती है । वह उक्त शरीरों को आहार करके अपने रूप में परिणत कर लेती है तथा नाना प्रकार के रूप, रस, गंध, स्पर्श और आकार वाली अनेक विध होती है। इस वनस्पति में अपने किये हुए कर्मों से प्रेरित होकर जीव उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये ।। ४७ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोह-जोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ-वुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। ४८ ॥

भावार्थ - वृक्ष से उत्पन्न होने वाले वृक्षों में जो अध्यारुहसंज्ञक वृक्ष उत्पन्न होते हैं उनके प्रदेशों की वृद्धि करने वाले दूसरे अध्यारुह वृक्ष उनमें भी उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार अध्यारुह वृक्षों में ही अध्यारुह रूप से उत्पन्न होने वाले वे वृक्ष अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष कहलाते हैं। वे अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष जिस अध्यारुह में उत्पन्न होते हैं उसी के स्नेह का आहार करते हैं तथा वे पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। इनके भी नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और आकार वाले अनेक विध शरीर होते हैं यह जानना चाहिये ।। ४८ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोह-जोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारंति पुढविसरीरं आउसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। ४९ ॥

भावार्थ - श्री तीर्थङ्कर देव ने वनस्पतिकाय के दूसरे और भेद भी कहे हैं इस जगत् में कोई जीव अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त करते हैं । वे प्राणी कर्म से प्रेरित होकर वहाँ आते हैं और अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों में अध्यारुह रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव अध्यारुह योनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं वे जीव पृथिवी, जल, तेज, वायु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और वनस्पति शरीरों का भी आहार करते हैं और आहार करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के दूसरे भी नाना वर्ण आदि से युक्त शरीर होते हैं यह भी तीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥ ४९ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोह-जोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ-वुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। ५० ॥

भावार्थ - श्री तीर्थङ्कर देव ने अध्यारुह वृक्षों के भेद और भी बताये हैं । इस जगत् में कोई जीव अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होकर उन्हीं में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं । वे अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वहाँ आते हैं और अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के मूल तथा कन्द आदि से लेकर बीज तक के रूपों में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । उन अध्यारुहयोनिक मूल और बीज आदि के नाना वर्ण, गन्ध और रस स्पर्श वाले दूसरे शरीर भी तीर्थङ्करों ने कहे हैं ॥ ५० ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववण्णा भवंतीतिमक्खायं ।। ५१ ॥

भावार्थ - श्री तीर्थङ्कर देव ने वनस्पति काय के जीवों का और भेद भी कहा है । कोई प्राणी पृथिवी से उत्पन्न और पृथिवी पर ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हुए नाना प्रकार की जातिवाली पृथिवी के ऊपर तृण रूप से उत्पन्न होते हैं । वे जीव नाना प्रकार की जाति वाली पृथिवी के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव कर्म से प्रेरित होकर तृणयोनि में उत्पन्न होते हैं । यह श्री तीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥ ५१ ॥

एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जावमक्खायं ।। ५२ ॥

भावार्थ - इसी तरह कोई प्राणी पृथिवीयोनिक तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होते हैं यह सब पूर्ववत् जानना चाहिये ॥ ५२ ॥

एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, तणजोणियं तणसरीरं च आहारेंति जावमक्खायं ।। एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव एवमक्खायं ।। एवं ओसहीणवि चत्तारि आलावगा ।। एवं हरियाणवि चत्तारि आलावगा ।। ५३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - इसी तरह कोई जीव तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होते हैं और वे तृणयोनिक तृणों के शरीर का आहार करते हैं यह सब बातें पूर्ववत् जाननी चाहिए । इसी तरह कोई जीव, तृणयोनिक तृणों में मूल तथा बीज रूप से उत्पन्न होते हैं इनका वर्णन भी पूर्ववत् ही करना चाहिए । इसी तरह औषधि और हरित कायों के भी पूर्ववत् चार प्रकार से वर्णन करना चाहिए ॥ ५३ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए, वायत्ताए, कायत्ताए, कूहणत्ताए, कंदुकत्ताए, उव्वेहणियत्ताए, णिव्वेहणियत्ताए, सछत्ताए, छत्तगत्ताए, वासाणियत्ताए, कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, तेवि जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि ।।

कठिन शब्दार्थ - **आयत्ताए** - आय (आर्य) नामक वनस्पति के रूप में, **उव्वेहणियत्ताए** - उपेहणी नामक वनस्पति के रूप में।

भावार्थ - यहां मूल पाठ में आय (आर्य) वाय, काय तथा कुहण आदि वनस्पतियों की उत्पत्ति बताई गई है । इनका आकार कैसा होता है और लोक में इन्हें क्या कहते हैं यह यहां नहीं कहा गया है फिर भी लोक व्यवहार से इनके नाम और आकार जानने का प्रयत्न करना चाहिये । यद्यपि सभी स्थावर प्राणी चेतन हैं तथापि वनस्पतियों का चैतन्य स्पष्ट अनुभव किया जाता है इसलिये पहले इन्हीं का वर्णन दिया है ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाणवि तहेव, तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के ।।

भावार्थ - अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर कोई प्राणी जल में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं वे उदकयोनिक वृक्ष कहलाते हैं वे जल में उत्पन्न होकर जल में ही स्थित रहते हुए उसी में वृद्धि को प्राप्त होते हैं । वे जल के स्नेह का तथा पृथिवी आदि कायों का आहार करते हैं शेष पृथिवीयोनिक वृक्षों के समान समझना चाहिये। जैसे पृथिवीयोनिक वृक्षों में चार आलापक कहे गये हैं उसी तरह उदकयोनिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृक्षों में भी चार आलापक कहने चाहिये परन्तु जल योनिक वृक्ष से जो वृक्ष उत्पन्न होते हैं उनमें एक ही आलापक (विकल्प) होता है शेष तीन विकल्प नहीं होते हैं ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणा-विहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए, अवगत्ताए, पणगत्ताए, सेवालत्ताए, कलंबुगत्ताए, हडत्ताए, कसेरुगत्ताए, कच्छभाणियत्ताए, उप्पलत्ताए, पउमत्ताए, कुमुयत्ताए, णलिणत्ताए, सुभगत्ताए, सोगंधियत्ताए, पोंडरियमहा-पोंडरियत्ताए, सयपत्तत्ताए, सहस्सपत्तत्ताए, एवं कल्हार-कोंकणयत्ताए, अरविंदत्ताए, तामरसत्ताए, भिसभिस-मुणालपुक्खलत्ताए, पुक्खलच्छिभगत्ताए, विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेह-माहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, एगो चेव आलावगो ।। ५४ ॥

भावार्थ - इस पाठ में जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों का वर्णन किया है। उनमें कमल, तामरस, शतपत्र, सहस्रपत्र, आदि प्रायः कमल के ही जाति विशेष हैं परन्तु अबक, पनक, और शैवाल आदि अन्य जाति की वनस्पतियां हैं। इनका आकार और व्यावहारिक नाम लोक व्यवहार से जान लेना चाहिये ।। ५४ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारुहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं पुढवीजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिवि तिण्णि आलावगा, एवं हरिएहिवि तिण्णि आलावगा, पुढवीजोणिएहिवि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्ख-जोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्झारुहेहिवि तिण्णि तणेहिंपि तिण्णि आलावगा, ओसहीहिंपि तिण्णि, हरिएहिंपि तिण्णि, उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति ।। ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदग-जोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुरवाणं (कूराणं) उदगाणं अवगाणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झा-रोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरिय-जोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणा-वण्णा जावमक्खायं। ५५॥

भावार्थ – श्री तीर्थंकर देव ने वनस्पति काय के भेद और भी कहे हैं । इस जगत् में कोई जीव उन पृथिवीयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीज पर्यन्त अवयवों में, वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों में, अध्यारुहयोनिक अध्यारुहों में, अध्यारूहयोनिक मूल से लेकर बीज तक अवयवों में, पृथिवीयोनिक तृणों में, तृणयोनिक तृणों में, तृणयोनिक मूल से लेकर बीज पर्यन्त अवयवों में इसी तरह औषधी तथा हरितों के विषय में भी तीन-तीन बोल कहने चाहिए । पृथ्वीयोनिक आय (आर्य) काय तथा कूर वृक्षों में, उदकयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक मूल और बीजों में इसी तरह अध्यारुहों में, तृणों में और औषधि तथा हरितों में भी तीन तीन बोल कहने चाहिए । उदकयोनिक उदक अवक और पुष्कराक्षों में त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के, उदकयोनिक वृक्षों के, वृक्षयोनिक वृक्षों के, अध्यारुहयोनिक वृक्षों के एवं तृणयोनिक औषधियोनिक हरितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष, अध्यारुह, तृण, औषधि, हरित, मूल, बीज, आयवृक्ष कायवृक्ष कूरवृक्ष एवं उदक, अवक, तथा पुष्कराक्ष वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथिवी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं । उन वृक्षों से उत्पन्न तथा अध्यारुहों से उत्पन्न और तृणों से उत्पन्न एवं औषधियों से उत्पन्न, हरितों से उत्पन्न, मूलों से उत्पन्न, कन्दों से उत्पन्न, बीजों से उत्पन्न, आय (आर्य) वृक्षों से उत्पन्न, कायवृक्षों से उत्पन्न, कूर वृक्षों से उत्पन्न, उदक से उत्पन्न, अवक् से उत्पन्न और पुष्कराक्ष से उत्पन्न त्रस प्राणियों के नाना वर्ण वाले दूसरे शरीर भी कहे गये हैं ॥ ५५ ॥

विवेचन – उपरोक्त सूत्रों में शास्त्रकार ने वनस्पतिकाय के जीवों के बीज, वृक्ष आदि भेदों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया है।

वनस्पतिकाय जीवों के मुख्य प्रकार – वनस्पतिकाय जीवों के यहाँ मुख्य रूप से इन भेदों का उल्लेख किया है – बीजकायिक, पृथ्वीयोनिक वृक्ष, वृक्षयोनिक वृक्ष, वृक्ष योनिक वृक्षों में वृक्ष, वृक्ष योनिक वृक्षों में उत्पन्न मूल आदि से लेकर बीज तक, वृक्ष योनिक वृक्षों में उत्पन्न अध्यारुह, वृक्ष योनिक अध्यारुहों में उत्पन्न अध्यारुह, अध्यारुह योनिकों में उत्पन्न अध्यारुह, अध्यारुह योनिक अध्यारुहों में उत्पन्न मूल से लेकर बीज तक अवयव, अनेकविध पृथ्वीयोनिक तृण पृथ्वीयोनिक तृणों में उत्पन्न तृण और तृणयोनिक तृणों में उत्पन्न तृण, तृणयोनिक तृणों में मूल से लेकर बीज तक अवयव तथा औषधि हरित, अनेकविध पृथ्वी में उत्पन्न आय (आर्य), वाय से लेकर कूट तक वनस्पति, उदक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योनिक वृक्ष (अध्यारुह तृण औषधि तथा हरित आदि) अनेक विध उदक योनि में उत्पन्न उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक की वनस्पति आदि।

बीजकायिक जीव चार प्रकार के होते हैं - अग्रबीज (जिसके अग्रभाग में बीज हो जैसे मिल, ताल, आम, गेहूं, चावल आदि)। मूल बीज (जो मूल से उत्पन्न होते हैं जैसे - अदरक आदि)। पर्वबीज (जो वनस्पति पर्व- गांठ से उत्पन्न होते हैं जैसे ईख-गन्ना आदि)। स्कन्धबीज(जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं जैसे सल्लकी आदि)।

उत्पत्ति के कारण - पूर्वोक्त विविध प्रकार की वनस्पतियों की योनि (मुख्य उत्पत्ति स्थान) भिन्न-भिन्न हैं। पृथ्वी, वृक्ष, जल, बीज आदि में से जो जिस वनस्पति की योनि है वह वनस्पति उसी योनि से उत्पन्न कहलाती है। वृक्ष आदि जिस वनस्पति के लिये जो प्रदेश उपयुक्त होता है उसी प्रदेश में वह वृक्षादि वनस्पति उत्पन्न होती है। अन्यत्र नहीं तथा जिसकी उत्पत्ति के लिये जो काल, भूमि, जल, आकाश प्रदेश और बीज आदि अपेक्षित हैं। उनमें से किसी एक के भी न होने पर वे उत्पन्न नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति कायिक विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के लिये भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल, बीज आदि तो बाह्य निमित्त कारण हैं ही, साथ ही अन्तरंग कारण कर्म भी एक अनिवार्य कारण है। कर्म से प्रेरित होकर ही विविध वनस्पतिकायिक जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होते हैं कभी यह पृथ्वी से वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, कभी पृथ्वी से उत्पन्न हुए वृक्ष से वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, कभी वृक्ष योनिक वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है और कभी वृक्ष योनिक वृक्षों से मूल, कन्दफल, त्वचा, पत्र, बीज, शाखा, बेल स्कन्ध आदि रूप में उत्पन्न होती है इसी तरह कभी वृक्ष योनिक वृक्ष से अध्यारुह आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है कभी नानायोनिक पृथ्वी से तृणादि चार रूपों में कभी औषधि आदि चार रूपों में तथा कभी हरित आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है। कभी वह विविध योनिक पृथ्वी से सीधे आय, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति के रूप में उत्पन्न होती है। कभी वह उदक योनिक उदक में वृक्ष आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है। कभी उदक से सीधे ही उदक, आवक से लेकर पुष्कराक्षिभग नाम के वनस्पति के रूप में उत्पन्न होती है। यद्यपि पहले जिनके चार-चार आलापक बताये गये थे। उनके अन्तिम उपसंहार रूप सूत्र में तीन-तीन आलापक बताये गये हैं (इसका तत्त्व केवलीगम्य है)

अध्यारुह - वृक्ष आदि के ऊपर एक के बाद एक चढ़ कर जो उग जाते हैं उन्हें अध्यारुह कहते हैं। इन अध्यारुहों की उत्पत्ति वृक्ष, तृण, औषधि और हरित आदि के रूप में यहाँ बताई गयी है।

स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया - प्रस्तुत सूत्रों में पूर्वोक्त अनेक प्रकार की वनस्पतियों की उत्पत्ति एवं संवृद्धि का वर्णन किया गया है उसका प्रधान प्रयोजन यह है कि इनमें जीव (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध करना है यद्यपि बौद्ध दर्शन में इन स्थावरों को जीव नहीं माना जाता है तथापि जीव का जो लक्षण है उपयोग, वह इन वृक्षादि में भी पाया जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि जिधर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आश्रय मिलता है उसी ओर लता (बेलड़ी) जाती है तथा अनुकूल आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि होती है और न मिलने पर उसमें कृशता (म्लानता) देखी जाती है। इन सब लक्षणों को देखने से वनस्पति में जीवत्व सिद्ध होता है क्योंकि आहार के बिना किसी भी जीव की स्थिति और संवृद्धि (विकास) नहीं हो सकती है इसलिये आहार की विविध प्रक्रिया भी यहाँ बतलाई गयी है। जो वनस्पतिकायिक जीव जिस पृथ्वी आदि की योनि में उत्पन्न होता है वह उसी में स्थित रहता है और उसी में वृद्धि को प्राप्त होता है। मुख्यतया वह उसी के स्नेह (स्निग्ध रस) का आहार करता है। इसके अतिरिक्त वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के शरीर का आहार करता है। पूर्वोक्त वनस्पति कायिक जीव जब अपने से संसृष्ट या सन्निकट किसी त्रस या स्थावर जीवों का आहार करते हैं। तब वे पूर्व भुक्त त्रस या स्थावर और जीव के शरीर को उसका रस चूसकर अचित्त कर डालते हैं। तत्पश्चात् त्वचा द्वारा भुक्त पृथ्वी आदि या त्रस शरीर को वे अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। यही समस्त वनस्पतिकायिक जीवों के आहार की प्रक्रिया है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि, जो वनस्पति जिस प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले जल भूमि आदि का आहार लेती है, उसी के अनुसार उसका वर्णादि बनता है, या आकार-प्रकार आदि बनता है। जैसे आम की एक ही प्रकार की वनस्पति होते हुए भी विभिन्न प्रदेश की मिट्टी, जल, वायु एवं बीज आदि के कारण विभिन्न प्रकार के वर्णादि से युक्त विविध आकार-प्रकार से विशिष्ट नाना शरीरों को धारण करता है। इसी प्रकार अन्य वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

स्नेह – प्रस्तुत प्रकरण में स्नेह शब्द का अर्थ है – शरीर का सार या स्निग्ध तत्त्व। जिसे अमुक-अमुक वनस्पतिकायिक जीव पी लेता है या ग्रहण कर लेता है।

नोट – अनेक वृक्ष या वनस्पतियाँ इस प्रकार की पायी जाती हैं जो मनुष्य व अन्य त्रस प्राणियों को अपने निकट आने पर खींचकर उनका आहार कर लेती है।

"सिणेहो णाम सरीरसारो, तं आपिबंति" (चूर्णि) स्नेहं स्निग्धभावमाददते (वृत्ति)

अर्थ – शरीर के सार को स्नेह कहते हैं उस स्नेह (स्निग्ध भाव) को वनस्पति खींच लेती है।

'ते दुहओ वि सिणेहं' सिणेहो नामा अन्योऽन्यगात्र संस्पर्शः। यदा पुरुषस्नेहः शुक्रान्तः नार्योदरमनुप्रविश्य नार्योजसा सह संयुज्यते तदा सो सिणेहो क्षीरोदकवत् अण्णमण्णं 'संचिणति' गृह्णातीत्यर्थः।

अर्थात् – स्नेह का अर्थ पुरुष और स्त्री के परस्पर गात्रसंस्पर्श से जनित पदार्थ।..... जब पुरुष का स्नेह– शुक्र नारी के उदर में प्रविष्ट होकर नारी के ओज (रज) के साथ मिलता है, तब वह स्नेह दूध और पानी की तरह परस्पर एक रस हो जाता है, उसी स्नेह को गर्भस्थ जीव सर्वप्रथम ग्रहण करता है।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं तंजहा-कम्मभूमगाणं, अकम्मभूमगाणं, अंतरदीवगाणं, आरियाणं मिलक्खुयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए एत्थ णं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुप्पज्जइ, ते दुहओवि सिणेहं संचिण्णंति, तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किव्विसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति, तओ पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसविहीओ आहारमाहारेंति, तओ एगदेसेणं ओय-माहारेंति, आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुपवण्णा तओ कायाओ अभिणिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, णपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं, अकम्मभूमगाणं, अंतरद्दीवगाणं, आरियाणं, मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीतिमक्खायं ।। ५६ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अंतरदीवगाणं** - अंतरद्वीपज, **आरियाणं**- आर्य, **मिलक्खुयाणं** - म्लेच्छ, **मेहुणवत्तियाए** - मैथुन प्रत्ययिक (हेतुक), **सिणेह** - स्नेह का, **कलुसं** - कलुष-मलिन, **किब्बिसं**- किल्विष-घृणित, **ओयं** - ओज, **आहारेंति** - आहार करते हैं, **पलि-पागमणुपवण्णा** - परिपाक होने पर, **माउक्खीरं** - माता के दूध, **सप्पिं** - घृत का, **ओयणं** - ओदन का, **कुम्मासं** - कुल्माष का ।

भावार्थ - वनस्पतिकाय के जीवों का वर्णन करके अब त्रसकाय के जीवों का वर्णन किया जाता है । त्रसकाय के जीव, नारक, तिर्य्यक्, मनुष्य और देवता इन भेदों के कारण चार प्रकार के होते हैं । इनमें नारक जीव प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते हैं फिर भी वे अनुमान से जाने जाते हैं । वे अपने पापकर्म का फल भोगने वाले कोई जीव विशेष हैं। उन जीवों का आहार एकान्त अशुभ पुद्गलों का बना हुआ होता है वे ओज आहार को ग्रहण करते हैं कवलाहार को नहीं । वर्तमान समय में देवता भी प्रायः अनुमान से ही जाने जाते हैं । वे भी कवलाहार नहीं लेते किन्तु वे एकान्त शुभ पुद्गलों का बना हुआ रोम आहार ही लेते हैं ।

रोम आहार दो प्रकार का है, एक आभोगकृत और दूसरा अनाभोगकृत । अनाभोगकृत आहार तो प्रति समय होता रहता है परन्तु आभोगकृत आहार जघन्य चतुर्थभक्त और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्षकृत होता है ।

नारक और देवता से भिन्न त्रस जीव तिर्य्यक् और मनुष्य हैं । तिर्य्यक् जीवों से मनुष्य श्रेष्ठ होता है अतः पहले उसी का वर्णन किया जाता है । मनुष्य जाति के जीव कर्मभूमि, अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीप में निवास करते हैं । इनमें कोई वीतराग के धर्म में श्रद्धा रखने वाले आर्य्य होते हैं और कोई पाप कर्म में आसक्त अनार्य्य होते हैं । इनकी उत्पत्ति के विषय में संक्षेप से यह जानना चाहिये कि-स्त्री पुरुष या नपुंसक की उत्पत्ति के बीज भिन्न-भिन्न होते हैं एक नहीं । स्त्री का शोणित और पुरुष का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर्य्य दोनों ही दोष रहित हों और शोणित की अपेक्षा शुक्र की मात्रा अधिक हो तो पुरुष की उत्पत्ति होती है परन्तु यदि शोणित अधिक और शुक्र कम हो तो स्त्री की उत्पत्ति होती है । यदि स्त्री का शोणित और पुरुष का शुक्र दोनों ही समान मात्रा में हों, तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है इसी तरह माता की दक्षिण कुक्षि से पुरुष की और वाम कुक्षि से स्त्री की तथा दोनों ही कुक्षि से नपुंसक की उत्पत्ति होती है ।

जब किसी जीव की अपने कर्मानुसार मनुष्ययोनि में उत्पत्ति होने वाली होती है तो उसके कर्म के अनुरूप स्त्री और पुरुष का सुरत सुख की इच्छा से संयोग होता है । वह संयोग उस जीव की उत्पत्ति का कारण उसी तरह होता है जैसे दो अरणि काष्ठों का संयोग अग्नि की उत्पत्ति का कारण होता है । इस प्रकार स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग होने पर उत्पन्न होने वाला जीव कर्म से प्रेरित होकर तैजस और कार्मण शरीर के द्वारा शुक्र और शोणित का आश्रय लेकर वहाँ उत्पन्न होता है । वह जीव पहले पहल उस शुक्र और शोणित के स्नेह का आहार करता है । जब स्त्री ५५ वर्ष की और पुरुष ७० वर्ष का हो जाता है तब उनमें सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता नहीं रहती इसलिये उनके संयोग को विध्वस्तयोनि कहते हैं । इससे भिन्न जो अविध्वस्त योनि है यानी ५५ वर्ष से कम उम्र की स्त्री का ७० वर्ष से कम उम्र के पुरुष के साथ जो संयोग है वही सन्तान की उत्पत्ति का कारण है । एवं शुक्र और शोणित भी बारह मुहूर्त तक ही सन्तानोत्पत्ति की शक्ति रखते हैं इसके पश्चात् वे शक्तिहीन और विध्वस्तयोनि कहलाते हैं । इस प्रकार स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट वह जीव, उस स्त्री के द्वारा आहार किये हुए पदार्थों के स्नेह का आहार करता है इस प्रकार वह प्राणी माता के आहारांश को ओज, मिश्र तथा लोम के द्वारा क्रमशः आहार करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है । पश्चात् प्राणी माता के उदर से बाहर निकल कर पृथिवी पर जन्म ग्रहण करता है । प्राणी वर्ग अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप में उत्पन्न होते हैं किसी अन्य कारण से नहीं, यह जानना चाहिये । कोई कहते हैं कि "जो जीव पूर्वभव में स्त्री होता है वह परभव में भी स्त्री ही होता है तथा जो जीव पूर्वभव में पुरुष या नपुंसक होते हैं वे पुरुष और नपुंसक ही होते हैं । इनके वेद का परिवर्तन कभी नहीं होता है।" वस्तुतः यह मत अज्ञानमूलक है क्योंकि कर्म की विचित्रता के कारण वेद का परिवर्तन होना स्वाभाविक है अतः जीव अपने कर्म के प्रभाव से कभी स्त्री और कभी पुरुष तथा कभी नपुंसक वेद को प्राप्त करता है, यही सत्य समझना चाहिये ।

गर्भ से निकल कर बालक पूर्व जन्म के अभ्यास के अनुसार आहार लेने की इच्छा करता है और वह माता के स्तन को पीकर जब वृद्धि को प्राप्त होता है तब नवनीत, दधि, भात आदि पदार्थों को खाता है । इसके पश्चात् वह अपने आहार के योग्य त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करता है । आहार किये हुए पदार्थों को पचाकर वह अपने रूप में मिला लेता है । प्राणियों के शरीर में जो रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र पाये जाते हैं ये सप्त धातु कहलाते हैं इन सप्त धातुओं की उत्पत्ति प्राणियों के द्वारा किये हुए आहारों से ही होती है ॥५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलयराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवण्णा तओ कायाओ अभिणिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयति णपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।।

कठिन शब्दार्थ - पोयं - पोत, उब्भिज्जमाणे - फूटने पर।

भावार्थ - अब तिर्य्यञ्च जीवों का स्वरूप बताया जाता है। उनमें इस सूत्र के द्वारा जलचर प्राणी बताये जाते हैं । मत्स्य, कच्छप, मकर और ग्राह आदि जलचर पञ्चेन्द्रिय जीव हैं । ये जीव अपने पूर्वकृत कर्म का फल भोगने के लिये जलचर तिर्य्यञ्च योनि में जन्म धारण करते हैं। जैसे मनुष्य अपने बीज और अवकाश के अनुसार जन्म धारण करते हैं इसी तरह जलचर प्राणी भी अपने अपने उपयुक्त बीज और अवकाश के अनुसार ही जन्म धारण करते हैं । वे प्राणी गर्भ में आकर अपनी माता के आहारांश का आहार करते हैं । वे गर्भ से निकल कर पहले जल के स्नेह का आहार करते हैं और पीछे बड़े होने पर वनस्पतिकाय का तथा अन्य त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । ये जलचर जीव पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का भी आहार करते हैं । वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि - "**अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघव!**" अर्थात् हे रामचन्द्र! सौ योजन तक का लम्बा एक 'तिमि' नामक मत्स्य होता है और उसको निगल जाने वाला एक और मत्स्य होता है उसको 'तिमिंगिल' कहते हैं । उस तिमिंगिल को भी निगल जाने वाला एक दूसरा मत्स्य होता है जिसे 'तिमिंगिलगिल' कहते हैं । उसको भी निगल जाने वाला एक सब से बड़ा मत्स्य भी होता है । जैसे मनुष्य योनि में स्त्री पुरुष और नपुंसक ये तीन भेद होते हैं इसी तरह जलचरों में भी होते हैं । जलचर जीव कीचड़ का भी आहार करते हैं और उसे पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं । ये जीव अपने पूर्वकृत कर्म का फल भोगने के लिये जलचर योनि में उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पय-थलयरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-एगखुराणं दुखुराणं गंडीपयाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहावगासेणं इत्थिए पुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पज्जइ, ते दुहओ सिणेहं संचिण्णंति, तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं इत्थिंपि वेगया जणयंति पुरिसंपि णपुंसगंपि, ते जीव डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचेंदिय-तिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।।

कठिन शब्दार्थ - एगखुराणं - एक खुर वाले, **गंडीपयाणं**- गण्डीपद-सुनार की ऐरण की तरह, **सणप्फयाणं** - सनखपद-नख युक्त पैर वाले ।

भावार्थ - पृथिवी के ऊपर विचरने वाले पाँच ही इन्द्रियों से युक्त चौपाये जानवरों का वर्णन इस पाठ में किया है। ये चौपाये जानवर कोई एक खुर वाले होते हैं, जैसे घोड़े और गदहे आदि जानवर तथा कोई दो खुर वाले होते हैं जैसे गाय भैंस आदि। कोई गण्डीपद यानी सुनार की ऐरण (फलक) के समान पैर वाले होते हैं जैसे हाथी और गेंडा आदि । कोई नखयुक्त पैर वाले होते हैं जैसे वाघ और सिंह आदि। ये जीव अपने अपने बीज और अवकाश (स्थान) के अनुसार ही जन्म धारण करते हैं अन्यथा नहीं। गर्भधारण से लेकर गर्भ से बाहर आने तक का इनका वृत्तान्त मनुष्य के पाठ में उक्त वर्णन के समान ही जानना चाहिये। सब पर्य्याप्ति से पूर्ण होकर जब ये प्राणी माता के गर्भ से बाहर आते हैं तब माता के दूध को पीकर ये अपना जीवन धारण करते हैं। जब ये बढ़कर बड़े हो जाते हैं तब वनस्पति और त्रस तथा स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। शेष पूर्व पाठ के समान ही समझना चाहिये। ये प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये इन योनियों में जन्म धारण करते हैं, यह तीर्थंकर भगवान् ने कहा है।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स जाव एत्थ णं मेहुणे एवं तं चेव, णाणत्तं अंडं वेगइया जणयंति पोयं वेगइया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगइया जणयंति पुरिसंपि णपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जावमक्खायं।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **अहीणं** - सर्प, **अयगराणं** - अजगर, **आसालियाणं** - आशालिक ।

भावार्थ - सर्प और अजगर आदि प्राणी पृथ्वी के ऊपर छाती को घसीटते हुए चलते हैं इसलिये ये उरःपरिसर्प कहलाते हैं। ये प्राणी भी अपनी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश को पाकर ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं। इनमें कोई अण्डा उत्पन्न करते हैं और कोई बच्चा पैदा करते हैं। ये प्राणी माता के गर्भ से निकल कर वायुकाय का आहार करते हैं जैसे मनुष्य आदि के बच्चे माता का दूध पीकर पुष्ट होते हैं इसी तरह ये प्राणी अपनी जाति के स्वभावानुसार वायु को पीकर पुष्टि का लाभ करते हैं ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुय-परिसप्प-थलयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं, तंजहा-गोहाणं णउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पइलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्प-पंचिंदियथलयरतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा गोहाणं जावमक्खायं।

कठिन शब्दार्थ - **गोहाणं** - गोह, **णउलाणं** - नकुल, **सरडाणं** - सरट, **खराणं** - खर, **घरकोइलियाणं** - गृहकोकिल, **पइलाइयाणं** - पदलालित ।

भावार्थ - जो प्राणी भुजा के बल से पृथिवी पर चलते हैं वे 'भुजपरिसर्प' कहलाते हैं। इनमें कई प्राणियों के नाम यहां शास्त्रकार ने बताये हैं। ये प्राणी पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्च हैं । इनमें कोई अण्डा देते हैं और कोई बच्चा पैदा करते हैं इनमें नकुल चूहा, गोह आदि जानवर प्रसिद्ध है। ये जीव अपने कर्म से प्रेरित होकर इन योनियों में जन्म धारण करते हैं ये प्राणी नाना प्रकार के वर्ण गन्ध वाले और अनेक प्रकार के शरीर वाले होते हैं। शेष बातें पूर्ववत् जाननी चाहिये।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खेचरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-चम्मपक्खीणं, लोम-पक्खीणं, समुग्गपक्खीणं, विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं, णाणत्तं ते जाव डहरा समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं खेचरपंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं चम्मपक्खीणं जावमक्खायं ।।५७॥

कठिन शब्दार्थ - **चम्मपक्खीणं** - चर्म पक्षी, **लोम-पक्खीणं**- रोम पक्षी, **समुग्गपक्खीणं** - समुद्ग पक्षी, **विततपक्खीणं** - विवत पक्षी ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - इस पाठ में आकाशचारी पक्षियों के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है । चर्मकीट और वल्गुली आदि पक्षी, चर्मपक्षी कहलाते हैं और राजहंस, सारस, तथा काक और बक आदि रोम पक्षी कहे जाते हैं एवं अढाई द्वीप से बाहर के पक्षी समुद्ग पक्षी और वितत पक्षी कहलाते हैं । ये पक्षी अपनी उत्पत्ति योग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं । पक्षी जाति की स्त्री अपने अण्डें को अपने पक्षों से ढककर बैठती है और ऐसा कर के वह अपने शरीर की गर्मी को उस अण्डे में प्रवेश कराती है, उस गर्मी का आहार करके वह अण्डा वृद्धि को प्राप्त होता है और वह कलल अवस्था को छोड़कर चोंच आदि अवयवों में परिणत हो जाता है । जब सब अङ्ग पूरे हो जाते हैं तब वह अण्डा फूट कर दो भागों में हो जाता है । इसके पश्चात् उसमें से निकला हुआ बच्चा माता के द्वारा दिये हुए आहार को खाकर वृद्धि को प्राप्त करता है। शेष बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिये। यहां तक मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्चों के आहार की व्याख्या की गई है । विशेष बात यह है कि-इनका आहार दो प्रकार का होता है एक आभोग से और दूसरा अनाभोग से । अनाभोग से होने वाला आहार तो प्रतिक्षण होता रहता है परन्तु आभोग से होने वाला आहार क्षुधावेदनीय के उदय होने पर ही होता है, अन्य समय में नहीं ।।५७॥

विवेचन - पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की उत्पत्ति, स्थिति संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया - पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के पांच भेद हैं। जलचर, स्थलचर, उर:परिसर्प भुजपरिसर्प और खेचर। इन पांचों के प्रत्येक के कितनेक नाम शास्त्रकार ने बतलाये हैं। उनमें कितनेक प्रसिद्ध हैं और कितनेक अप्रसिद्ध हैं। इन सबकी सारी प्रक्रिया प्राय: मनुष्यों की उत्पत्ति आदि की प्रक्रिया के समान हैं। अंतर इतना ही है कि प्रत्येक की उत्पत्ति अपने अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है तथा प्रथम आहार ग्रहण करने में अन्तर है वह इस प्रकार है -

१. जलचर जीव सर्व प्रथम अप्काय का, स्नेह का आहार करते हैं, २. स्थलचर - मातापिता के स्नेह (ओज) का आहार करते हैं, ३. उरपरिसर्प - वायुकाय का, ४. भुज परिसर्प - वायुकाय का तथा ५. खेचर जीव माता के शरीर की गर्मी (स्निग्धता) का आहार करते हैं।

शेष सब प्रक्रिया मनुष्य के समान है। खेचर के चार भेद हैं- उनमें चर्म पक्षी और रोम पक्षी ये दो जाति के पक्षी अढाई द्वीप में मिलते हैं और अढाई द्वीप के बाहर चर्म पक्षी, रोम पक्षी, वितत पक्षी और समुद्गक ये चारों प्रकार के पक्षी पाये जाते हैं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणा-विहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। एवं दुरूवसंभवत्ताए।। एवं खुरदुगत्ताए।। ५८ ॥

कठिन शब्दार्थ- अणुसूयत्ताए - अनुस्यूतता--आश्रित होकर।

भावार्थ - पंचेन्द्रिय प्राणियों को बताकर अब विकलेन्द्रियों का वर्णन किया जाता है । जो प्राणी त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में उत्पन्न होते हैं और उन शरीरों के आश्रय से ही स्थिति एवं वृद्धि को प्राप्त करते हैं उनका वर्णन इस पाठ में किया गया है । मनुष्य के शरीर में जूँ (यूका) और लिक्ष (लीख) आदि तथा खाट में खटमल आदि उत्पन्न होते हैं एवं मनुष्य के अचित्त शरीर में तथा विकलेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में कृमि आदि उत्पन्न होते हैं । ये प्राणी दूसरे प्राणियों के समान अन्यत्र जाने आने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु वे जिस शरीर में उत्पन्न होते हैं उसी के आश्रय से रहते हैं । सचित्त तेजः काय और वायु से भी विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है । वर्षा ऋतु में गर्मी के कारण पृथिवी से कुन्थू आदि संस्वेदज प्राणियों की उत्पत्ति होती है इसी तरह जल से भी अनेकों विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं। वनस्पतिकाय से पनक और भ्रमर आदि विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। ये प्राणी जिस शरीर से उत्पन्न होते हैं उसी का आहार करके जीते हैं। जैसे सचित्त और अचित्त शरीर से विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है उसी तरह पंचेन्द्रिय प्राणियों के मूत्र और मल से भी दूसरे विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। वे प्राणी शरीर से बाहर निकले हुए और नहीं निकले हुए दोनों ही प्रकार के मल मूत्रों से उत्पन्न होते हैं। इन प्राणियों की आकृति कुत्सित होती है और ये अपने उत्पत्ति स्थान मूत्र और पुरीष का ही आहार करते हैं। जैसे पंचेन्द्रिय प्राणियों के मूत्र और पुरीष से विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं उसी तरह वे तिर्य्यञ्च प्राणियों के शरीर में चर्म कीट रूप से उत्पन्न होते हैं। जीवित गाय और भैंस के शरीर में बहुत से चर्मकीट उत्पन्न होते हैं और वे गाय तथा भैंस के चमड़े को खाकर वहां गड्ढा कर देते हैं उस गड्ढे में से जब रक्त निकलने लगता है तब वे उस गड्ढे में स्थिर होकर उसके रक्त का आहार करते हैं। गाय और भैंस के अचित्त शरीर में भी विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं। सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार की वनस्पतियों में घुण और कीट आदि विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और वे अपने आश्रित उस वनस्पति का ही आहार करके जीते हैं ।। ५८ ॥

विवेचन - मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियों के सचित्त शरीर में, पसीने आदि में जूं, लीख, चींचड़ (चर्म कीट) आदि तथा सचित्त शरीर के संस्पर्श से खाट आदि में खटमल आदि जीव पैदा होते हैं तथा मनुष्य एवं तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के अचित्त शरीर (मृत कलेवर) में कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सचित्त अग्निकाय तथा वायुकाय में भी विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वर्षा ऋतु में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गर्मी के कारण जमीन से कुंथुआ आदि तथा मक्खी मच्छर आदि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जल से भी अनेक विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वनस्पतिकाय से भ्रमर आदि विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के मलमूत्र, मवाद आदि में भी विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। सचित्त अचित्त वनस्पतियों में भी घुण, कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ये जीव जहाँ जहाँ उत्पन्न होते हैं वहाँ वहाँ के पार्श्ववर्ती या आश्रयदायी सचित्त या अचित्त प्राणियों के शरीरों से उत्पन्न मल मूत्र पसीना मवाद आदि का ही आहार करते हैं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणा-विहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायसंसिद्धं वा वायसंगहियं वा वायपरिग्गहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवइ अहेवाएसु अहेभागी भवइ तिरियवाएसु तिरियभागी भवइ, तंजहा-ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।।

कठिन शब्दार्थ - **वायसंसिद्धं** - वायु से बना हुआ, **वायसंगहियं** - वायु के द्वारा संग्रह किया हुआ, **वायपरिग्गहियं** - वायु के द्वारा धारण किया हुआ, **उड्ढवाएसु** - ऊर्ध्व वायु होने पर, **उड्ढभागी** - ऊर्ध्वजाने वाला, **ओसा** - ओस, **महिया** - महिका, **हरतणुए** - हरतनु, **सुद्धोदए** - शुद्ध जल ।

भावार्थ - इस जगत् में अपने पूर्वकृत कर्म के अधीन होकर कई प्राणी वायुयोनिक अप्काय में उत्पन्न होते हैं। वे मेढ़क आदि त्रस तथा लवण और हरित आदि स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त नानाविध शरीरों में वायुयोनिक अप्काय के रूप में जन्म धारण करते हैं। वह अप्काय वायुजनित है इसलिये उसका उपादान कारण वायु ही है तथा उसको संग्रह और धारण करने वाला भी वायु ही है। मेघमण्डल के अन्तर्गत जो जल होता है उसे परस्पर मिलाकर चारों ओर से वायु ही धारण किये रहता है । वायु जब ऊपर का होता है तब वह अप्काय ऊपर जाता है और नीचे के वायु होने पर नीचे तथा तिरछा वायु होने पर तिरछा जाता है । आशय यह है कि-अप्काय वायुयोनिक है इसलिए वायु जैसा होता है अप्काय भी वैसा ही होता है। उसके कुछ भेद नीचे लिखे अनुसार हैं-सरदी के दिनों में जो तुषार गिरता है उसे 'अवश्याय' कहते हैं वह जल का ही भेद है तथा हिम और सरदी के समय जो हिमबिन्दु गिरता है वह जल का ही भेद है कभी कभी सरदी के दिनों में धूम्र के समान सूक्ष्म जलबिन्दु इतने गिरते हैं कि-वे पृथिवी को अन्धकार से परिपूर्ण कर देते हैं उन्हें मिहिका कहते हैं यह जल का ही भेद है एवं पत्थर के समान जमा हुआ जो पानी आकाश से गिरता है उसे करका कहते हैं यह भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जल का भेद है तथा शुद्ध जल भी अप्काय का ही भेद है। ये पूर्वोक्त अप्काय के जीव, अपनी उत्पत्ति के स्थान पर नानाविध त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं ये आहार करने वाले हैं अनाहारक नहीं हैं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। ५८ ॥

भावार्थ - वायु से उत्पन्न अप्काय के वर्णन के पश्चात् अप्काय से ही उत्पन्न अप्काय का वर्णन किया जाता है। इस जगत् में कितनेक जीव अपने पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से अप्काय में ही दूसरे अप्काय रूप से उत्पन्न होते हैं। वे प्राणी जिन त्रस और स्थावरयोनिक उदकों से उत्पन्न होते हैं उन्हीं के स्नेह का आहार करते हैं तथा वे पृथिवीकाय आदि का भी आहार करते हैं। इनके नाना वर्ण वाले दूसरे शरीर भी कहे गये हैं ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।। ५९ ॥

भावार्थ - इसके पश्चात् श्री तीर्थङ्कर देव ने अप्योनिक अप्काय का स्वरूप पहले वर्णन किया था। इस जगत् में कितनेक जीव उदकयोनिक उदक में अपने पूर्व कृत कर्म के अधीन होकर आते हैं। वे उदक योनिक उदक रूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं वे जीव पृथिवी काय आदि का भी आहार करते हैं और उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन उदक योनि वाले उदकों के दूसरे भी नाना वर्ण वाले सरीर कहे गये हैं। इसके पश्चात् श्री तीर्थङ्कर देव ने उदकयोनिक त्रस काय का वर्णन पहले किया था। इस जगत् में कितनेक जीव अपने पूर्व कृत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म से प्रेरित होकर उदकयोनिक उदक में आते हैं और वे उदक योनिक उदक में त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन उदगयोनि वाले उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। वे जीव पृथिवीकाय आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। उन उदकयोनिक त्रस जीवों के दूसरे भी नानावर्ण वाले शरीर कहे गये हैं ॥ ५९ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणा-विहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणा-विहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।। अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा, चत्तारि गमा ।। ६० ॥

भावार्थ – कोई प्राणी ऐसे होते हैं जो पूर्व कृत कर्म के प्रभाव से नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं । त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त शरीरों में जो अग्नि होती है उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि – पञ्चेन्द्रिय प्राणी हाथी और भैंस आदि जब परस्पर युद्ध करते हैं तब उनके विषाणों के संघर्ष से अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है तथा अचित्त हड्डियों के संघर्ष से भी अग्नि की उत्पत्ति होती है इसी तरह द्वीन्द्रिय आदि शरीरों में भी अग्नि का सद्भाव समझना चाहिये। सचित्त तथा अचित्त वनस्पतिकाय एवं पत्थर आदि से भी अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है। वे अग्निकाय के जीव उन शरीरों में उत्पन्न होकर उनके स्नेह का आहार करते हैं। शेष तीन आलाप पूर्ववत् जानना चाहिये । अब वायुकाय के विषय में बताया जाता है। कितनेक जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से नानाविध योनिवाले त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में वायु के रूप में उत्पन्न होते हैं शेष पूर्ववत् जानना चाहिये ।। ६० ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणा-विहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'पुढवी या सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ।। १॥
हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा ।। २॥
गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगयमसारगल्ले भुयमोयगइंदणीले य ।। ३॥
चंदणगेरुय हंसगब्भपुलएसोगंधिए य बोद्धव्वे ।
चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ।। ४॥

एयाओ एएसु भाणियव्वाओ गाहाओ जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ।। ६१ ।।

कठिन शब्दार्थ - **अणुगंतव्वाओ** - जानना चाहिये, **उवले**- उपल-पत्थर, **लोणुसे** - नमक, **तउय**- रांगा, **तंब** - तांबा, **सीसग** - सीसा, **वइरे** - वज्र, **हरियाले** - हरिताल, **हिंगुलए** - हिंगलू, **मणोसिला**- मैनाशिल, **सासगंजणपवाले** - शासक, अंजन, प्रवाल, **अब्भपडलब्भवालुय** - अभ्रपटल, अभ्रवालुका, **गोमेज्जए** - गोमेद्यक रत्न, **फलिहे** - स्फटिक, **मरगयमसार गल्ले** - मरकत मस्सारगल्ल, **चंदप्पभ वेरुलिए** - चन्द्रप्रभ वैडूर्य, **जलकंते** - जलकांत, **सूरकंते** - सूर्यकांत ।

भावार्थ - अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से कितनेक जीव, त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त शरीरों में पृथिवी रूप में और हाथी के दांतों में मुक्तारूप में, स्थावर प्राणी बाँस आदि में मुक्ताफल रूप में एवं अचित्त पत्थर आदि में नमक रूप में तथा नाना प्रकार की पृथिवी में शर्करा वालुका और लवण आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं एवं वे गोमेद्यक आदि रत्नों के रूप में उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये ।। ६१ ॥

विवेचन-वनस्पतिकाय को छोड़कर शेष चार स्थावर जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, समृद्धि एवं आहार आदि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। अप्काय के चार आलापक इस प्रकार हैं-

१. वायुयोनिक अप्काय - मेंढक आदि त्रस तथा नमक हरित आदि स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त नानाविध शरीरों में वायुयोनिक अप्काय के रूप में जन्म धारण करते हैं। इनकी स्थिति, समृद्धि और प्रथम आहार ग्रहण का आधार वायुकाय है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. अप्योनिक अप्काय - जो पूर्वकृत कर्म के अनुसार एक अप्काय में ही दूसरे अप्काय के रूप में उत्पन्न होते हैं वे अप्काय योनिक अप्काय कहलाते हैं जैसे शुद्ध पानी बर्फ के रूप में उत्पन्न होता है। शेष सब प्रक्रिया पूर्ववत् है।

३. त्रसस्थावर योनिक अप्काय - यह अप्काय त्रस और स्थावर जीवों के शरीर में उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत्।

४. उदकयोनिक उदकों में उत्पन्न त्रस काय - उदकयोनिक उदक पानी बर्फ आदि में कीड़े आदि के रूप में कई जीव उत्पन्न हो जाते हैं वे उसी प्रकार के होते हैं। शेष पूर्ववत्।

अग्निकाय और वायुकाय के उत्पत्ति के भी चार चार आलापक हैं। यथा - १. त्रस स्थावर योनिक अग्निकाय। २. वायुयोनिक अग्निकाय अग्नियोनिक अग्नि काय ४. अग्नियोनिक अग्नि में उत्पन्न त्रसकाय।

इसी प्रकार से १. त्रस स्थावर वायु योनिक वायु काय २. वायुयोनिक वायुकाय, ३. अग्नियोनिक वायुकाय ४. वायुयोनिक वायुकाय में उत्पन्न त्रस काय।

त्रस और स्थावरों के सचित्त और अचित्त शरीर में अग्निकाय की उत्पत्ति होती है। हाथी, मेंढा, भैंसा आदि परस्पर जब लड़ते हैं तब उनके सींगों में से आग निकलती हुई दिखाई देती है तथा अचित्त हड्डियों के परस्पर रगड से, सचित्त, अचित्त वनस्पति काय एवं पत्थर आदि में से अग्नि की लपटें निकलती हुई दिखाई देती हैं।

पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के चार आलापक - पृथ्वीकाय के यहाँ मिट्टी से लेकर सूर्यकान्त रत्न पर्यन्त अनेक प्रकार बताये हैं। पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार आलापक हैं - १. त्रस स्थावर प्राणियों के शरीर में उत्पन्न पृथ्वीकाय २. पृथ्वीकाय योनिक पृथ्वीकाय ३. वनस्पतियोनिक पृथ्वीकाय ४. पृथ्वीकाय योनिक पृथ्वीकाय में उत्पन्न त्रस। शेष पूर्ववत्।

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मणियाणा कम्मगइया कम्मठिइया कम्मुणा चेव विप्परियासमुवेंति ।। से एवमायाणह से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए त्तिबेमि ।। ६२॥

बियसुयक्खंधस्स आहारपरिण्णा णाम तईय-मज्झयणं समत्तं ।।

भावार्थ - शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सामान्य रूप से समस्त प्राणियों की अवस्था को बता कर साधु को संयम पालन में सदा प्रयत्नशील बने रहने का उपदेश करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस जगत् में समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म धारण करते हैं। कोई देवता, कोई नारक, कोई मनुष्य और कोई तिर्य्यञ्च योनि में कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते हैं, किसी काल आदि की प्रेरणा से नहीं। कोई कहते हैं कि "जो जीव इस भव में जैसा होता है वह पर भव में भी वैसा ही होता है" परन्तु यह बात इस पाठ से विरुद्ध होने से असङ्गत है। इस पाठ में स्पष्ट कहा है कि -जीव अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म धारण करता है अतः "जो जैसा है वह सदा वैसा ही रहता है" यह बात मिथ्या है। ऐसा मानने पर तो जो देवता है वह सदा देवता ही रहेगा और जो नारकी है वह सदा नारकी ही बना रहेगा फिर तो कर्मवाद का सिद्धान्त सर्वथा नष्ट हो जायगा और संसार की विभिन्नता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होगी। अतः प्राणी अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न गति को प्राप्त करते हैं यह शास्त्रोक्त सिद्धान्त ही ध्रुव सत्य जानना चाहिये। यद्यपि सम्पूर्ण प्राणी सुख के अभिलाषी और दुःख के द्वेषी होते हैं तथापि अपने पूर्व कृत कर्म के प्रभाव से उन्हें दुःख सहन करना ही पड़ता है। वे बिना भोगे मुक्त नहीं होते हैं। जो प्राणी जहां उत्पन्न होते हैं। वे वहीं आहार करते हैं। वे आहार के विषय में सावद्य निरवद्य का कुछ विचार नहीं रखते हैं। अतः सावद्य आहार का सेवन करके वे कर्मों का संचय करते हैं और कर्मों का संचय करके वे उनका फलभोगने के लिए अनन्त काल तक संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इसलिए विवेकी पुरुषों को सदा उद्गम आदि ४२ दोष रहित निरवद्य एवं अचित्त शुद्ध आहार ग्रहण करने का नियम पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये। साथ ही इन्द्रिय और मन को वश में करके सांसारिक विषयों का चिन्तन छोड़कर ज्ञान और संयम के आराधन में प्रयत्नशील बनना चाहिये। जो मनुष्य ऐसा करता है वही संसार सागर को पार करके अक्षय सुख को प्राप्त करता है क्योंकि अक्षय सुख को प्राप्त करने के लिये शुद्ध संयम पालन के सिवाय जगत् में कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥ ६२ ॥

त्ति बेमि - इति ब्रवीमि - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

॥ तीसरा अध्ययन समाप्त ॥

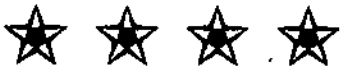

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान क्रिया नामक चौथा अध्ययन

उत्थानिका - इस चौथे अध्ययन का नाम प्रत्याख्यान क्रिया है। आत्मा किसी देव, भगवान् या गुरु की कृपा से अथवा किसी धर्मतीर्थ की शरण स्वीकार कर लेने मात्र से पाप कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। केवल त्याग प्रत्याख्यान के विधि विधानों की बातें करने मात्र से तथा कोरी आध्यात्मिक ज्ञान की बातें करने से भी व्यक्ति पापकर्म से मुक्त नहीं हो सकता है। समस्त पापकर्मों को रोकने का और मुक्त होने का अचूक उपाय है प्रत्याख्यान क्रिया। प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ है - पापकार्यों का त्याग करना। प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद हैं - द्रव्य प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान। किसी द्रव्य का अविधिपूर्वक निरुद्देश्य त्यागना या किसी द्रव्य के निमित्त प्रत्याख्यान करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। आत्म शुद्धि के उद्देश्य से मूल गुण और उत्तर गुण में बाधक प्राणातिपात आदि अठारह पापों का यथाशक्ति त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के साथ क्रिया शब्द जुड़ जाने से विशिष्ट अर्थ हो जाते हैं यथा - गुरु या गुरुजन या तीर्थंङ्कर भगवान् की साक्षी से विधिपूर्वक त्याग या नियम स्वीकार करना अथवा प्राणातिपात आदि पाप कर्मों के त्याग या व्रत नियम तप का संकल्प करते समय मन में धारण करना, वचन से "वोसिरामि वोसिरामि" बोलना तथा काया से तदनुकूल व्यवहार करना। मूलगुण और उत्तरगुणों की साधना में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दना (स्वयं पश्चात्ताप करना), गर्हणा (गुरु साक्षी से निंदा करना) तथा व्युत्सर्ग (त्याग) करना।

इस अध्ययन में इस प्रकार की भाव प्रत्याख्यान क्रिया के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। सर्व प्रथम अप्रत्याख्यानी आत्मा के पाप के द्वार खुले रहने के कारण निरंतर पापकर्म का बन्ध होना बताया गया है और उसे असंयत, अविरत, पापकर्म अप्रतिघाती, अप्रत्याख्यानी एकान्त बाल आदि बताया गया है और अन्त में प्रत्याख्यानी आत्मा कौन और कैसे होता है इस बात पर प्रकाश डाला गया है।

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु पच्चक्खाण-किरियाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते-आया अपच्चक्खाणीवावि भवइ, आया अकिरियाकुसले यावि भवइ, आया मिच्छासंठिए यावि भवइ, आया एगंतदंडे यावि भवइ, आया एगंतबाले यावि भवइ, आया एगंतसुत्ते यावि भवइ, आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवइ, आया अप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवइ, एस खलु भगवया अक्खाए असंजए, अविरए, अप्पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ। ६२॥

कठिन शब्दार्थ - पच्चक्खाणकिरियाणामं - प्रत्याख्यान क्रिया नामक, अज्झयणे - अध्ययन,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आया - आत्मा (जीव), **अपच्चक्खाणी** - अप्रत्याख्यानी, **अकिरियाकुसले** - अक्रिया-कुशल, **मिच्छासंठिए** - मिथ्या संस्थित, **एगंतसुत्ते** - एकान्त सुप्त, **अवियारमणवयणकायववक्के** - मन, वचन, काया और वाक्य के विचार से रहित, **अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे** - अप्रतिहत अप्रत्याख्यात पाप कर्म वाला, **सुविणं** - स्वप्न, **अवि** - भी ।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था (अथवा आयुष्मान् भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था) और मैंने सुना था -

इस सूत्र में जीव को आत्मा शब्द से कहने का आशय यह है कि - यह जीव सदा से नानाविध योनियों में भ्रमण करता चला आ रहा है । जो निरन्तर भ्रमण करता रहता है उसे आत्मा कहते हैं क्योंकि आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति - **(अतति सततं गच्छतीति आत्मा)** यह होती है। इसका अर्थ निरन्तर भिन्न-भिन्न गतियों में गमन करना है। इस जीव के साथ अनादि काल से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों का सम्बन्ध लगा हुआ है इसलिये यह अनादिकाल से अप्रत्याख्यानी रहता हुआ चला आ रहा है परन्तु वह शुभ कर्म के उदय से प्रत्याख्यानी भी पीछे से हो जाता है यह भाव दिखाने के लिये ही यहाँ मूल पाठ में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ आत्म शब्द से जीव के निर्देश करने का अभिप्राय दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों का खण्डन करना भी है, वह इस प्रकार समझना चाहिये -

सांख्यवादी, जीव को उत्पत्ति विनाश से वर्जित और स्थिर तथा एक स्वभाव वाला मानते हैं परन्तु ऐसा मानने से जीव की नानाविध योनियों में जाना संभव नहीं है एवं वह आत्मा जबकि स्थिर है तब एक तृण को भी नम्र करने में समर्थ नहीं हो सकता है फिर वह प्रत्याख्यान को किस तरह प्राप्त कर सकता है। किन्तु सदा अप्रत्याख्यानी ही बना रहेगा अतः सांख्यवाद युक्ति सङ्गत नहीं है यह आशय जीव को आत्मपद से निर्देश करने का प्रतीत होता है। इसी तरह बौद्धमत में भी आत्मा में प्रत्याख्यान संभव नहीं है क्योंकि वे आत्मा को एकान्त क्षणिक मानते हैं। अतः उनके मत में स्थितिहीन होने के कारण आत्मा का प्रत्याख्यानी होना सम्भव नहीं हैं ।

शुभ अनुष्ठानों को यहां क्रिया कहा है उस क्रिया में जो पुरुष कुशल है उसको 'क्रिया कुशल' कहते हैं एवं जो शुभ क्रिया में कुशल नहीं है उसको 'अक्रिया कुशल' कहते हैं आशय यह है कि आत्मा अनादिकाल से अप्रत्याख्यानी और शुभ क्रिया करने में अकुशल रहता हुआ चला आ रहा है परन्तु पीछे से पुण्य के उदय होने पर प्रत्याख्यानी और क्रियाकुशल भी हो जाता है एवं आत्मा मिथ्यात्व के उदय में स्थित, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला, राग द्वेष से पूर्ण बालक के समान अविवेकी और सोया हुआ भी होता है जैसे द्रव्य से सोया हुआ पुरुष शब्दादि विषयों को नहीं जानता है इसी तरह भाव से सोया हुआ आत्मा हित और अहित की प्राप्ति तथा परिहार को नहीं जानता है। आत्मा अपने मन वचन काय और वाक्य को प्राणियों की विराधना का विचार न रखता हुआ भी प्रयोग करता है तथा आत्मा तप के द्वारा अपने पूर्व पाप को नाश और विरति स्वीकार करके भावी पाप का प्रत्याख्यान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न करने वाला भी होता है। ऐसे आत्मा को श्री तीर्थङ्कर देव ने संयम रहित, विरतिवर्जित, पाप का नाश और प्रत्याख्यान न करने वाला, सावद्य अनुष्ठान में रत, संवरहीन, मन वचन और काय की गुप्ति से रहित, अपने तथा दूसरे को एकान्त दण्ड देने वाला बालक की तरह हिताहित के ज्ञान से वर्जित कहा है। ये जीव किसी भी क्रिया में प्रवृत्त होते हुए यह नहीं सोचते हैं कि मेरी इस क्रिया के द्वारा दूसरे प्राणियों की क्या दशा होगी ? ऐसे जीव चाहे स्वप्न भी न देखें अर्थात् उनका विज्ञान अव्यक्त हो तो भी वे पाप कर्म करते हैं ॥ ६३ ॥

तत्थ चोयए पण्णवगं एवं वयासी-असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वईए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स, अमणक्खस्स अवियार-मणवय-कायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावकम्मे णो कज्जइ, कस्स णं तं हेउं ?, चोयए एवं बवीति-अण्णयरेणं मणेणं पावएणं, मणवत्तिए, पावे कम्मे कज्जइ, अण्णयरीए वईए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अण्णयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स, समणक्खस्स, सविचार-मणवयकायवक्कस्स, सुविणमवि पासओ एवंगुण-जातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ। पुणरवि चोयए एवं बवीति तत्थ णं जे ते एवमाहंसु-असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वइए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स अमणक्खस्स, अवियारमणवयणकाय-वक्कस्स, सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ, तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु ॥

कठिन शब्दार्थ - **चोयए** - चोदक (नोदक-प्रेरक) पृच्छक (प्रश्नकर्त्ता), **पण्णवगं**- प्रज्ञापक (उपदेशक), **असंतएणं** - नहीं होने पर, **पावएणं** - पाप युक्त, **अहणंतस्स** - हिंसा न करते हुए, **अमणक्खस्स** - अमनस्स-मन से भी विचार रहित (अमनस्क)।

भावार्थ - प्रश्नकर्त्ता आचार्य्य के अभिप्राय को समझ कर उसका निषेध करता हुआ कहता है कि-जिस प्राणी के मन वचन और काया पाप कर्म में लगे हुए नहीं हैं जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता है तथा जो मन से हीन और मन वचन काया और वाक्य के विवेक से रहित है तथा जो स्वप्न भी नहीं देखता है यानी अव्यक्त विज्ञान वाला है वह प्राणी पापकर्म करने वाला नहीं माना जा सकता है क्योंकि-मन वचन और काया के पापयुक्त होने पर ही मानसिक, वाचिक और कायिक पाप किये जाते हैं परन्तु जिन प्राणियों का विज्ञान अव्यक्त है अतएव जो पापकर्म के साधनों से हीन हैं उनके द्वारा पापकर्म किया जाना संभव नहीं है । अलबत्ता जो प्राणी समनस्क हैं और मन वचन, काया और वाक्य के विचार से युक्त हैं तथा स्वप्न दर्शक यानी स्पष्ट विज्ञान वाले हैं और प्राणियों की हिंसा करते हैं अवश्य वे पापकर्म करने वाले हैं। परन्तु जिन में प्राणियों के घात करने योग्य मन वचन और काया के व्यापार नहीं होते हैं वे पापकर्म करने वाले हैं यह कदापि नहीं हो सकता है । यदि मन वचन और काया का व्यापार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के बिना भी पाप कर्म का बन्ध होता हो तब तो सिद्ध भगवन्तों को भी पाप कर्म का बन्ध होना चाहिये अतः अशुभ योग न होने पर भी जो लोग पापकर्म का बन्ध बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं यही प्रश्नकर्त्ता का आशय है ।

तत्थ पण्णवए चोयगं एवं वयासी-तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं, असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वइए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स, अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स, सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ, तं सम्मं, कस्स णं तं हेउं ?, आयरिय आह-तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेउ पण्णत्ता, तंजहा-पुढविकाइया जाव तसकाइया, इच्चेएहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे णिच्चं पसढविउवात-चित्तदंडे, तंजहा-पाणाइवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले ।।

कठिन शब्दार्थ - **चोयए** - चोदक (नोदक-प्रेरक) **सम्मं** - सम्यक्-यथार्थ, **छज्जीवणिकायहेउ**- छह जीव निकाय को हेतु, (कर्म बंध का कारण) **पसढविउवातचित्तदंडे** - निष्ठुरता के साथ प्राणियों के घात में चित्त लगाने वाला ।

भावार्थ - जो जीव छह काय के जीवों की हिंसा से विरत नहीं हैं किन्तु अवसर साधन और शक्ति आदि कारणों के अभाव से उनकी हिंसा नहीं करते हैं वे उन प्राणियों के अहिंसक नहीं कहे जा सकते हैं। जिस प्राणी ने प्राणातिपात से लेकर परिग्रह पर्य्यन्त के पापों से एवं क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापों से निवृत्ति अङ्गीकार नहीं की है वह चाहे किसी भी अवस्था में हो वह एकेन्द्रिय चाहे विकलेन्द्रिय हो परन्तु पाप के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद कषाय तथा योग से युक्त होने के कारण वह पाप कर्म करता ही है उससे रहित नहीं है। अतः अव्यक्त विज्ञान वाले प्राणी भी कर्मबन्ध को प्राप्त होते हैं यह पहले का कथन यथार्थ ही है।

आयरिय आह-तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते, से जहाणामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं णिहाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि संपहारेमाणे से किं णु हु णाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं णिहाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ?, एवं वियागरेज्जा समियाए वियागरे चोयए-हंता भवइ ।।

कठिन शब्दार्थ- **वहए**- वधक (हिंसा करने वाला), **दिट्ठंते**- दृष्टान्त, **खणं**- क्षण-अवसर को, **अमित्तभूए** - अमित्रभूत ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - जो लोग यह कहते हैं कि-"प्राणियों की हिंसा न करने वाले जो प्राणी मनोविकल और अव्यक्त ज्ञान वाले हैं उनको पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है" उनका कथन ठीक नहीं है इस बात को समझाने के लिये शास्त्रकार वधक का दृष्टान्त देकर अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। जैसे कोई पुरुष किसी कारण से गाथापति अथवा उसके पुत्र या राजा तथा राज पुरुष के ऊपर क्रोधित होकर उनके वध की इच्छा करता हुआ निरन्तर इस ख्याल में रहता है कि-"अवसर मिलने पर मैं इनका घात करूँगा ।" वह पुरुष जब तक अपने मनोरथ को सफल करने का अवसर नहीं पाता है तब तक दूसरे कार्य्य में लगा हुआ उदासीन सा बना रहता है। उस समय वह यद्यपि घात नहीं करता है तथापि उसके हृदय में उनके घात का भाव उस समय भी बना रहता है । वह सदा उनके घात के लिये तत्पर है परन्तु अवसर न मिलने से घात नहीं कर सकता है अतः घात न करने पर भी वैसा भाव होने से वह पुरुष सदा उनका घातक ही है इसी तरह अप्रत्याख्यानी तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय प्राणी भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों से अनुगत होने के कारण प्राणातिपात आदि पापों से दूषित ही हैं वे उनसे निर्वृत्त नहीं हैं। जैसे अवसर न मिलने से गाथापति आदि का घात न करने वाला पूर्वोक्त पुरुष उनका अवैरी नहीं किन्तु वैरी ही है। उसी तरह प्राणियों का घात न करने वाले अप्रत्याख्यानी जीव भी प्राणियों के वैरी ही हैं अवैरी नहीं हैं यहां वध्य और वधक के विषय में चार भङ्ग समझना चाहिये- १. वधक को घात करने का अवसर है परन्तु वध्य को नहीं है। २. वधक को घात करने का अवसर नहीं है परन्तु वध्य को है। ३. दोनों को अवसर नहीं है । ४. दोनों को अवसर है ।

आयरिय आह-जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं णिद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, एवमेव बालेवि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तंजहा-पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए, अविरए, अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते, यावि भवइ, से बाले अवियारमण-वयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कम्मे कज्जइ।। जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ।६४।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - शिष्य के प्रश्न का उत्तर देता हुआ आचार्य्य कहता है कि-गाथापति और उसके पुत्र तथा राजा और राजपुरुष के वध की इच्छा करता हुआ वह घातक पुरुष यद्यपि अवसर न मिलने से उनका घात नहीं करता है तथापि वह दिन, रात, सोते और जागते हर समय उनके वध का भाव रखता है अतः वह जैसे गाथापति आदि का बैरी है इसी तरह अप्रत्याख्यानी प्राणी भी समस्त प्राणियों के प्रति शठता पूर्ण हिंसामय भाव रखते हैं इसलिए वे अहिंसक या पाप न करने वाले नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि-जिन प्राणियों का मन राग द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से ढका हुआ है वे सभी दूसरे प्राणियों के प्रति दूषित भाव रखते हैं क्योंकि एक मात्र विरति ही भाव को शुद्ध करने वाली है वह जिनमें नहीं हैं वे प्राणी सभी प्राणियों के भाव से बैरी हैं। जिनके घात का अवसर उन्हें नहीं मिलता है उनका घात उनसे न होने पर भी वे उनके अघातक नहीं हैं। अतः उपर्युक्त साधनों के अभाव से ही अप्रत्याख्यानी तथा विकलेन्द्रिय आदि जीव चाहे दूसरे प्राणियों का घात न करें परन्तु उनमें घात करने का भाव तो बना ही करता है। इसलिये पहले जो कहा गया है कि-जिस प्राणी ने पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया है वह चाहे स्पष्ट विज्ञान से हीन भी क्यों न हो पाप कर्म करता ही है सो सर्वथा सत्य है ।। ६४ ॥

णो इणट्ठे समट्ठे [चोयए] इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा णाभिमया वा विण्णाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे तंजहा पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ।। ६५ ॥

कठिन शब्दार्थ - सरीरसमुस्सएणं - शरीर समुच्छ्रय-शरीर प्रमाण, **ण** - नहीं, **अभिमया** - अभिमत-ज्ञात ।

भावार्थ - प्रश्नकर्त्ता कहता है कि-आपके कथन से सिद्ध होता है कि-सभी प्राणी सभी के शत्रु हैं परन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि हिंसा का भाव परिचित व्यक्तियों पर ही होता है अपरिचित व्यक्तियों पर नहीं। संसार में सूक्ष्म, बादर, पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त अनन्त प्राणी ऐसे हैं जो देशकाल और स्वभाव से अत्यन्त दूरवर्ती हैं। वे इतने सूक्ष्म और दूर हैं कि-हमारे जैसे अर्वाग्दर्शी (छद्मस्थ) पुरुषों ने उन्हें न तो कभी देखा है और न सुना है वे किसी के न तो बैरी हैं और न मित्र हैं फिर उनके प्रति किसी का हिंसामय भाव होना किस प्रकार संभव है ? अतः सम्पूर्ण प्राणी सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति हिंसा का भाव रखते हैं यह कथन युक्ति युक्त नहीं है ।। ६५ ॥

आयरिय आह-तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तंजहा-सण्णिदिट्ठंते य असण्णिदिट्ठंते य, से किं तं सण्णिदिट्ठंते ?, जे इमे सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा एएसिं णं छजीवणिकाए पडुच्च तंजहा-पुढवीकायं जाव तसकायं, से एगइओ पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि, तस्स णं एवं भवइ-एवं खलु अहं पुढवीकाएणं किच्चं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ इमेण वा इमेण वा, से एएणं पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि से णं तओ पुढवीकायाओ असंजय-अविरयअप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे यावि भवइ, एवं जाव तसकाएत्ति भाणियव्वं, से एगइओ छजीवणिकाएहिं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि, तस्सणं एवं भवइ-एवं खलु छजीवणिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ-इमेहिं वा इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवणिकाएहिं जाव कारवेइ वि, से य तेहिं छहिं जीवणिकाएहिं असंजयअविरय-अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे तंजहा पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे सुविणमवि अपस्सओ पावे य से कम्मे कज्जइ, से तं सण्णिदिट्ठंते ।।

से किं तं असण्णिदिट्ठंते ?, जे इमे असण्णिणो पाणा तंजहा-पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का इ वा, सण्णा इ वा, पण्णा इ वा, मणा इ वा, वई वा, सयं वा करणाए अण्णेहिं वा कारावेत्तए, करंतं वा समणुजाणित्तए, तेऽवि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूया मिच्छासंठिया णिच्चं पसढविउ-वातचित्तदंडा तंजहा-पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले इच्चेव जाव णो चेव मणो णो, चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए, जूरणयाए, तिप्पणयाए पिट्टणयाए, परितप्पणयाए ते दुक्खणसोयणजाव-परितप्पणवहबंधण-परिकिलेसाओ, अप्पडिविरया भवंति ।। इति खलु से असण्णिणोऽवि सत्ता अहोणिसिं पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोणिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति, (एवं भूयवाई) सव्वजोणियावि खलु सत्ता सण्णिणो हुच्चा असण्णिणो होंति, असण्णिणो हुच्चा सण्णिणो होंति, होच्चा सण्णी अदुवा असण्णी, तत्थ से अवि-विचित्ता, अविधूणित्ता, असंमुच्छित्ता, अण्णुतावित्ता, असण्णिकायाओ वा, सण्णिकाए संकमंति, सण्णि-कायाओ वा असण्णिकायं संकमंति सण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति, असण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति जे एए सण्णी वा असण्णी वा सव्वे ते मिच्छायारा णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडा, तंजहा-पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए, अविरए, अप्पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमणवयण-कायवक्के सुविणमवि ण पासइ पावे य से कम्मे कज्जइ ।। ६६ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **सण्णिदिट्ठंते** - संज्ञी का दृष्टांत, **असण्णिदिट्ठंते** - असंज्ञी का दृष्टांत, **अपस्सओ** - नहीं देखता हो, **तक्का** - तर्क, **सण्णा** - संज्ञा, **पण्णा** - प्रज्ञा, **अहोणिसिं** - दिन रात, **अविविचित्ता** - कर्मों को अपने से अलग न करके, **अविधूणित्ता** - न झड़का कर, **असम्मुछित्ता** - न छेद कर, **अणाणुत्तावित्ता**-पश्चात्ताप न करके, **संकमंति**-संक्रमण करते हैं।

भावार्थ - जो जीव प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) किया हुआ नहीं है वह समस्त प्राणियों का बैरी है वह सदा प्राणियों के घात का पाप करता है क्योंकि उसकी चित्त वृत्ति सब प्राणियों के प्रति सदा हिंसात्मक बनी रहती है। यह जो पहले के सूत्र में उपदेश दिया गया है इसको असम्भव बतलाते हुए प्रश्नकर्त्ता ने कहा है कि-"जगत् में बहुत से प्राणी ऐसे हैं जो देश और काल से अत्यन्त दूर हैं इस कारण उनका न तो रूप कभी देखने में आता है और न नाम सुनने में आता है अतः उनके साथ पारस्परिक व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्तवृत्ति उन प्राणियों के प्रति हिंसात्मक कैसे बनी रह सकती है ? अतःअप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों का हिंसक किस तरह माना जा सकता है ?" इस शंका का समाधान करने के लिये आचार्य कहता है कि-जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं है किन्तु प्रवृत्त है उसकी चित्तवृत्ति उसके प्रति सदा हिंसात्मक ही बनी रहती है इसलिये वह हिंसक ही है अहिंसक नहीं है। जैसे कोई ग्राम का घात करने वाला पुरुष जिस समय ग्राम का घात करने में प्रवृत्त होता है उस समय जो प्राणी उस ग्राम को छोड़कर किसी दूसरे स्थान में चले गये हैं उनका घात उसके द्वारा नहीं होता है तो भी वह घातक पुरुष उन प्राणियों का अघातक या उनके प्रति हिंसात्मक चित्तवृत्ति न रखने वाला नहीं है क्योंकि उसकी इच्छा उन प्राणियों के भी घात की ही है अर्थात् वह उन्हें भी मारना ही चाहता है परन्तु वे उस समय वहाँ उपस्थित नहीं है इसलिये नहीं मारे जाते हैं इसी तरह जो प्राणी देश काल से दूर के प्राणियों के घात का त्यागी नहीं है वह उनका भी हिंसक ही है और उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति भी हिंसात्मक ही है इसलिये पहले जो कहा गया है कि-अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों के हिंसक हैं सो ठीक ही है। इस विषय में दो दृष्टांत शास्त्रकार ने बताये हैं एक संज्ञी का और दूसरा असंज्ञी का। उनका आशय यह है-जिस पुरुष ने एक मात्र पृथिवीकाय से अपना कार्य करना नियत करके शेष प्राणियों के आरम्भ करने का त्याग कर दिया है वह पुरुष देश काल से दूरवर्ती पृथिवीकाय का भी हिंसक ही है अहिंसक नहीं है। वह पुरुष पूछने पर यही कहता है कि-मैं पृथिवीकाय का आरम्भ करता हूँ और कराता हूँ और करने वाले का अनुमोदन करता हूँ परन्तु वह यह नहीं कह सकता है कि-मैं श्वेत या नील पृथिवीकाय का आरम्भ करता हूँ शेष का नहीं करता हूँ क्योंकि उसका किसी भी पृथिवी विशेष का त्याग नहीं है इसलिये आवश्यकता न होने से या दूरता आदि के कारण वह जिस पृथिवी का आरम्भ नहीं करता है उसका भी अघातक नहीं कहा जा सकता है एवं उस पृथिवी के प्रति उसकी चित्तवृत्ति हिंसा रहित नहीं कही जा सकती है। इसी तरह प्राणियों के घात का अप्रत्याख्यान नहीं किये हुए प्राणी को देशकाल से दूरवर्ती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों का अघातक या उनके प्रति उसकी अहिंसात्मक चित्त वृत्ति नहीं कही जा सकती है। यह संज्ञी का दृष्टांत है।

अब असंज्ञी का दृष्टान्त बताया जाता है जो जीव ज्ञान रहित तथा मन से हीन हैं वे असंज्ञी कहे जाते हैं। ये जीव सोये हुए, मतवाले तथा मूर्छित आदि के समान होते हैं। पृथिवी से लेकर वनस्पतिकाय तक के प्राणी तथा विकलेन्द्रिय से लेकर सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तक त्रस प्राणी असंज्ञी है। इन असंज्ञी प्राणियों में तर्क, संज्ञा, वस्तु की आलोचना करना, पहिचान करना, मनन करना और शब्द का उच्चारण करना आदि नहीं होता है। तो भी ये प्राणी दूसरे प्राणियों के घात की योग्यता रखते हैं यद्यपि इनमें मन, वचन और काया का विशिष्ट व्यापार नहीं होता है तथापि ये प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्य्यन्त अठारह पापों से युक्त हैं इस कारण ये प्राणियों को दुःख, शोक और पीड़ा उत्पन्न करने से विरत नहीं है और प्राणियों को दुःख, शोक और पीड़ा उत्पन्न करने से विरत न होने के कारण इन असंज्ञी जीवों को भी पाप कर्म का बन्ध होता ही है। इसी तरह जो मनुष्य प्रत्याख्यानी नहीं है वह चाहे किसी भी अवस्था में हो सबके प्रति दुष्ट आशय होने के कारण उसको पापकर्म का बन्ध होता ही है। जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त के संज्ञी और असंज्ञी जीवों को देश काल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट आशय होने से कर्मबन्ध होता है इसी तरह प्रत्याख्यान रहित प्राणी को देश काल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट आशय होने से कर्म बन्ध होता ही है ।

इस पाठ में संज्ञी और असंज्ञी प्राणी जो दृष्टान्त रूप से बताये गये हैं इनके विषय में कई लोगों की मान्यता है कि-"संज्ञी संज्ञी ही होता है और असंज्ञी असंज्ञी ही होता है" परन्तु यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि-ऐसा होने से तो शुभ और अशुभ कर्म का कोई फल ही नहीं होगा और नारकी सदा नारकी ही और देवता सदा देवता ही बने रहेंगे परन्तु यह इष्ट नहीं है अतः शास्त्रकार यहां खुलासा करते हुए कह रहे हैं कि-कर्म की विचित्रता के कारण कभी संज्ञी, असंज्ञी हो जाते हैं और असंज्ञी कभी संज्ञी हो जाते हैं। क्योंकि जीवों की गति कर्माधीन होती है अतः ऐसा कोई नियम नहीं है कि-जो इस भव में जैसा है दूसरे भव में भी वैसा ही रहेगा ।। ६६ ॥

चोयए-से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजय-विरयप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ ?, आयरिय आह-तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता, तंजहा-पुढवीकाइया जाव तसकाइया, से जहा णामए मम अस्सातं दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, आतोडिज्जमाणस्स वा, जाव उवद्दविज्जमाणस्स वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि, हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा, जाव कवालेण वा, आतोडिज्जमाणे वा, हम्ममाणे वा, तज्जिज्जमाणे वा, तालिज्जमाणे वा, जाव उवद्दविज्जमाणे वा, जाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोमुक्खणणमायमवि, हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्खू, णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणित्तं, पि आइत्ते, से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिणिव्वुडे, एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे, एगंतपंडिए भवइ त्तिबेमि।।६७॥

इति बीयसुयक्खंधस्स पच्च-क्खाणकिरिया णामं चउत्थमज्झयणं समत्तं।२-४।

कठिन शब्दार्थ - कुव्वं - करता हुआ, **कारवं** - करवाता हुआ, **संजयविरयप्पडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे** - संयत, विरत, प्रतिहत प्रत्याख्यात पाप कर्म वाला, **दंतपक्खालणेणं** - दांतों को धोने से ।

भावार्थ - प्रश्नकर्त्ता आचार्य से प्रश्न करता है कि-मनुष्य स्वयं क्या करके और दूसरे से क्या करा कर तथा किस उपाय से संयत विरत और पापकर्म का प्रतिघात और त्याग करने वाला होता है ? इसका उत्तर देता हुआ आचार्य कहता है कि श्री तीर्थंकर देव ने संयम के अनुष्ठान के कारण पृथिवी काय से लेकर त्रस काय तक के प्राणियों को बताया है। जैसे प्रत्याख्यान रहित प्राणियों के लिये ये उक्त छह काय के जीव संसारगति के कारण होते हैं इसी तरह प्रत्याख्यान करने वाले प्राणियों के लिए ये मोक्ष के कारण कहे गये हैं जैसे अपने को कोई प्राणी किसी प्रकार का दुःख देता है तो जैसे अपने को वह बुरा प्रतीत होता है इसी तरह अपने भी जब दूसरे को कष्ट देते हैं तो वह भी दुःख अनुभव करता है यह जान कर किसी भी प्राणी को दुःख न देना चाहिये । यह जानकर जो पुरुष किसी प्राणी को कष्ट नहीं देता है सभी को दुःख देने का त्याग कर देता है वही पुरुष अहिंसक तथा अपने पापों का प्रतिघात और त्याग करने वाला है। यह सभी प्राणियों की हिंसा को त्याग करना रूप धर्म ही सत्य और स्थिर धर्म है और इसी को सर्वज्ञों ने सर्वोत्तम धर्म माना है। जो पुरुष इस धर्म का अनुयायी है वही सावद्य कर्मों का त्यागी, अहिंसक और एकान्त पण्डित है ।। ६७॥

त्ति बेमि - इति ब्रवीमि - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

।। चौथा अध्ययन समाप्त ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचारश्रुत नामक पांचवाँ अध्ययन

उत्थानिका - इस पांचवें अध्ययन का नाम आचारश्रुत है। जब तक साधक सम्पूर्ण अनाचारों (आचरण नहीं करने योग्य बातों) का त्याग करके शास्त्रोक्त ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार, वीर्याचार इन पांच आचारों में स्थिर होकर उनका पालन नहीं करता तब तक वह सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग का सम्यक् आराधक नहीं हो सकता है। जो बहुश्रुत, गीतार्थ, जिनोपदिष्ट सिद्धान्तों का सम्यग् ज्ञाता नहीं है, वह अनाचार और आचार का विवेक नहीं कर सकता है। अतः आचार विराधना कर सकता है, आचार श्रुत का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है, किन्तु उक्त आचार का सम्यक् परिपालन हो सके इसके लिए अनाचार का निषेधात्मक रूप से वर्णन इस अध्ययन में किया गया है। इसी कारण से इस अध्ययन का नाम अनाचार श्रुत रखा है। जो आचार इस अध्ययन में कहा गया है वह सब अनगारों (मुनियों) से सम्बन्धित है, इसलिए किन्हीं आचार्यों के मतानुसार इस अध्ययन का नाम 'अनगार श्रुत' भी है।

इस अध्ययन में दृष्टि, श्रद्धा, प्ररूपणा, मान्यता और वाणी का प्रयोग आदि से सम्बन्धित अनाचारों का निषेध रूप से निर्देश करते हुए इनसे सम्बन्धित आचारों का भी वर्णन किया गया है।

सर्वप्रथम लोक, अलोक, कर्मबन्ध, कर्म विच्छेद, विसदृशता, आधाकर्म दोष युक्त आहारादि के सेवन से कर्म बन्ध, पांच शरीरों की समानता आदि के सम्बन्ध में कथन किया गया है। तत् पश्चात् जीव अजीव, पुण्य-पाप आदि की नास्तित्व प्ररूपणा (श्रद्धा) को अनाचार बता कर आचार के विषय में इनके अस्तित्व की श्रद्धा-प्ररूपणा करने का निर्देश किया गया है और अन्त में साधु के द्वारा एकान्त वाद प्रयोग, मिथ्याधारणा बता कर उसका निषेध किया गया है।

इस सारे अध्ययन का उद्देश्य यह है कि साधु आचार और अनाचार का सम्यग् ज्ञाता होकर अनाचार के त्याग करने में और आचार का पालन करने में निपुण हो तथा कुमार्ग को छोड़कर सुमार्ग पर चलने वाले पथिक (मुसाफिर) की तरह समस्त अनाचार मार्गों से दूर रह कर। आचार मार्ग पर चलकर अपने अभीष्ट लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करे।

आदाय बंभचेरं च, आसुपण्णे इमं वइं ।
अस्सिं धम्मे अणायारं, णायरेज्ज कयाइ वि ।। १॥

कठिन शब्दार्थ - **बंभचेरं** - ब्रह्मचर्य को, **आसुपण्णे** - आशुप्रज्ञ, **अणायारं**-अनाचार का, **ण** - नहीं, **आयरेज्ज** - सेवन करे।

भावार्थ - सत् और असत् का ज्ञाता पुरुष इस अध्ययन के वाक्य को तथा ब्रह्मचर्य को धारण करके कभी भी इस धर्म में अनाचार का सेवन न करे ।

विवेचन - इस सूत्रकृताङ्ग सूत्र के आदि में श्री तीर्थंकर देव ने प्राणियों को ज्ञान प्राप्त करने की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता बताई है तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन के अन्त में मनुष्य को पण्डित बनने की आवश्यकता कही है अतः इस गाथा के द्वारा यह बताया जाता है कि–मनुष्य ब्रह्मचर्य्य धारण करने से ही ज्ञान को प्राप्त करने में तथा पण्डित बनने में समर्थ हो सकता है अन्यथा नहीं । जिसमें सत्य, तप, जीवदया और इन्द्रियों का निरोध किया जाय ऐसे कार्य्य को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं तथा इन विषयों का वर्णन करने वाला जो आगम है वह भी ब्रह्मचर्य्य कहा जाता है इसलिए सत्य, तप, जीवदया और इन्द्रियनिरोध का वर्णन करने वाला यह जैनेन्द्र प्रवचन भी ब्रह्मचर्य्य है इसलिये इस जैनेन्द्र प्रवचनरूप ब्रह्मचर्य्य को स्वीकार करके विवेकी पुरुष कभी भी सावद्य अनुष्ठान न करे यह शास्त्रकार उपदेश देते हैं । यह जैनेन्द्र प्रवचन सम्यग् ज्ञान सम्यग्-दर्शन और सम्यक् चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उपदेशक है इसलिये इसमें कहे हुए पदार्थों को सम्यक् और उसके अनुसार आचरण को सम्यक् (शुद्ध) आचरण तथा अन्य दर्शनोक्त पदार्थों को मिथ्या तथा उसमें कहे हुए कुमन्तव्यों को मिथ्या आचार जानना चाहिये। इस जैनेन्द्र आगम में कहा हुआ सम्यग्दर्शन तत्त्व अर्थ के श्रद्धान का नाम है और जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का नाम तत्त्व है एवं धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल का नाम द्रव्य है । द्रव्य, नित्य और अनित्य उभय स्वभाव वाले होते हैं । अथवा सामान्यविशेषात्मक अनाद्यनन्त यह जो चतुर्दश रज्जुस्वरूप लोक है इसको तत्त्व कहते हैं और उसमें श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है । ज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्य्यायज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है। चारित्र, सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात के भेद से पांच प्रकार का है । अथवा मूल गुण और उत्तर गुण के भेद से चारित्र अनेक प्रकार का है । इस प्रकार सम्यग्-दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को बताने वाला यह जैनेन्द्र आगम ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य्य है। उसको प्राप्त करके मनुष्य को अनाचार का सेवन न करना चाहिये यह शास्त्रकार उपदेश देते हैं।

ब्रह्मचर्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है –

"ब्रह्मणि, आत्मनि, चरति, इति, ब्रह्मचर्यं"

अर्थ – आत्मा के स्वरूप में रमण करने (विचरण करने) को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य का माहात्म्य बताते हुए कहा है ।

सत्यं ब्रह्म, तपो ब्रह्म, ब्रह्म इन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया ब्रह्म, एतद् ब्रह्मलक्षणम्॥ १ ॥

अर्थ – ब्रह्म शब्द का अर्थ है – सत्य, तप, इन्द्रिय निग्रह, (पांच इन्द्रियों के विषय विकारों को रोकना) तथा जगत् के समस्त जीवों पर दया करना यह ब्रह्म-आत्मा एवं परमात्मा का लक्षण है।

अणाइयं परिण्णाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।
सासयमसासए वा, इइ दिट्ठिं ण धारए ।। २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - अणाइयं - अनादि, **परिण्णाय** - जानकर, **अणवदग्ग** - अर्थात् जिसका अवदग्र (अन्त) न हो उसे अनावदग्र कहते हैं अर्थात् अनन्त, **सासयं** - शाश्वत (नित्य), **असासए** - अशाश्वत, **दिट्ठि** - दृष्टि को।

भावार्थ - विवेकी पुरुष इस जगत को अनादि और अनन्त जान कर इसे एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य न माने ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।। ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - ववहारो - व्यवहार ।

भावार्थ - एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यता इन दोनों पक्षों से जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता है इसलिए इन दोनों पक्षों के आश्रय को अनाचार सेवन जानना चाहिए ।

विवेचन - संसार में जितने भी पदार्थ हैं सभी कथंचित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य हैं परन्तु ऐसा पदार्थ नहीं है जो एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य हो। ऐसी दशा में किसी भी पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानना अनाचार का सेवन करना है। इस आर्हत् आगम के सिद्धान्तानुसार सभी पदार्थ सामान्य और विशेष एतदुभयात्मक हैं इसलिए वे सामान्य अंश को लेकर नित्य और विशेष अंश को लेकर अनित्य हैं अतः सभी नित्यानित्यात्मक हैं यह जानना आचार का सेवन समझना चाहिये। ऐसी मान्यता युक्तियुक्त होने पर भी अन्यदर्शनी स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु एकान्त पक्ष का आश्रय लेकर वे किसी पदार्थ को एकान्त नित्य तथा किसी को एकान्त अनित्य कहते हैं।

सांख्यवादी कहता है कि-"पदार्थों की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है अतः आकाश आदि सभी पदार्थ एकान्त नित्य हैं ।" एवं बौद्ध समस्त पदार्थों को निरन्वय क्षणभङ्गुर मान कर एकान्त अनित्य कहता है । वस्तुतः ये दोनों ही मिथ्यावादी हैं क्योंकि जगत् की कोई भी वस्तु एकान्त नित्य नहीं है पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष देखा जाता है और उनकी नवीनता तथा पुराणता भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। जगत् का व्यवहार भी इसी तरह का है। लोग कहते हैं कि यह वस्तु नई है और यह पुरानी है, एवं यह वस्तु नष्ट हो गई अतः लोक में एकान्त नित्यता का व्यवहार भी नहीं देखा जाता है। एवं यह आत्मा यदि उत्पत्ति विनाश रहित सदा एक रूप एक रस रहने वाला कूटस्थ नित्य है तो इसका बन्ध और मोक्ष नहीं हो सकता है फिर दीक्षा ग्रहण करने और शास्त्रोक्त नियमों को पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है अतः पारलौकिक विषयों में भी एकान्त नित्यतावाद सम्मत नहीं है। जिस तरह यह एकान्त नित्यतावाद अयुक्त और लौकिक तथा पारलौकिक व्यवहारों से विरुद्ध है इसी तरह एकान्त अनित्यतावाद भी लोक से विरुद्ध है। यदि आत्मा आदि समस्त पदार्थ एकान्त अनित्य अर्थात् एकान्त क्षणिक हैं तो लोग भविष्य में उपभोग करने के लिये घरदारादि तथा धन धान्यादि पदार्थों का संग्रह क्यों करते हैं ? तथा बौद्धगण दीक्षा ग्रहण और विहार आदि क्यों करते हैं ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि जब कोई स्थिर आत्मा है ही नहीं तब फिर बन्ध और मोक्ष किसका हो सकता है ? अतः ये दोनों ही मान्यताओं को मौनीन्द्रमत से विरुद्ध और अनाचार जानना चाहिये। पदार्थ कथञ्चित नित्य और कथञ्चित अनित्य हैं यह पक्ष ही युक्तियुक्त और मौनीन्द्रसम्मत होने के कारण ग्राह्य है। सामान्य अंश को लेकर सभी पदार्थ नित्य हैं और प्रतिक्षण बदलने वाले विशेषांश को लेकर सभी पदार्थ अनित्य है। इस प्रकार उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप जो अर्हद्दर्शनसम्मत पदार्थ का स्वरूप है वही ठीक है। अतएव कहा है कि-

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयं।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्॥

अर्थात् किसी राजकन्या के पास एक सोने का घड़ा था । राजा ने सोनार से उस घड़े को गलवा कर अपने राजकुमार के लिये मुकुट बनवाया । यह जान कर राजकन्या को दुःख हुआ क्योंकि उस बिचारी का घड़ा नष्ट हो गया और राजकुमार को बड़ा हर्ष हुआ क्योंकि उसको मुकुट की प्राप्ति हुई परन्तु उस राजा को न तो हर्ष ही हुआ और न शोक ही हुआ क्योंकि उसका सुवर्ण तो ज्यों का त्यों बना ही रह गया। वह चाहे घट के रूप में रहे अथवा मुकुट के रूप में। यदि पदार्थ एकान्त नित्य हो तो राजकन्या को शोक क्यों होना चाहिये एवं यदि एकान्त अनित्य हो तो राजकुमार को हर्ष भी क्यों हो सकता है ? तथा राजा को हर्ष और शोक दोनों ही न हुए ऐसा भी क्यों होता ? अतः पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है यह पक्ष ही सत्य है। ऐसा मानने पर घड़े को नष्ट हुआ जान कर राजकन्या को दुःख होना और नवीन मुकुट होना समझ कर राजकुमार को हर्ष होना तथा सोना का सोना ही रहना जानकर राजा को मध्यस्थ होना ये सब बातें बन जाती हैं अतः एकान्त अनित्यता और एकान्त नित्यता को व्यवहार विरुद्ध तथा अनाचार जानना चाहिये ।। २-३ ॥

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।
गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ।।४॥

कठिन शब्दार्थ - समुच्छिहिंति - उच्छिन्न (क्षय) होंगे, **सत्थारो** - शास्ता-सर्वज्ञ, **अणेलिसा** - अनीदृश, **गंठिगा** - ग्रंथिक (कर्मबंधन से युक्त) ।

भावार्थ - सर्वज्ञ तथा उनके सिद्धान्त को जानने वाले सभी भव्य जीव सिद्धि को प्राप्त करेंगे। सभी प्राणी परस्पर विशदृश हैं तथा सभी प्राणी कर्म बन्धन से युक्त रहेंगे एवं तीर्थङ्कर सदा स्थायी रहते हैं इत्यादि एकान्त वाक्य नहीं बोलने चाहिये ।

नोट-ऐसा एकान्त वचन क्यों नहीं बोलना चाहिए इसका स्पष्टीकरण आगे विवेचन में किया जायेगा।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।। ५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - क्योंकि इन दोनों एकान्तमय पक्षों से लोक में व्यवहार नहीं होता है अतः इन दो पक्षों का आश्रय लेना अनाचार सेवन जानना चाहिये ।

विवेचन - तीर्थ के प्रवर्तक सर्वज्ञ तीर्थंकर और उनके शासन को मानने वाले भव्य जीव सब के सब क्षय अथवा सिद्धि को प्राप्त होंगे, उस समय यह जगत् भव्य जीवों से रहित हो जायगा क्योंकि काल अनन्त है और जगत् में नये जीव की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये मुक्ति होते-होते जब समस्त भव्य जीवों की मुक्ति हो जायगी तो भव्य जीवों का अवश्य इस जगत् से उच्छेद हो जायगा। नये भव्य जीव उत्पन्न नहीं होते और पुराने सभी मोक्ष में चले जायँगे फिर भव्य जीव इस जगत् में सदा नहीं रह सकते यह एकान्तमय वचन कभी नहीं कहना चाहिये इसी प्रकार सभी प्राणी कर्म बन्धन में ही पड़े रहेंगे, यह भी एकान्त वचन नहीं कहना चाहिये तथा तीर्थंकर सदा स्थायी ही रहेंगे उनका क्षय कभी नहीं होगा यह भी नहीं कहना चाहिये ।

इस प्रकार जो यहां एकान्त वचनों के कहने का निषेध किया जाता है इसका कारण यह है कि-जैसे भविष्य काल का अन्त नहीं है उसी तरह भव्य जीवों का भी अन्त नहीं है इसलिये जैसे भविष्य काल का उच्छेद असम्भव है इसी तरह सम्पूर्ण भव्य जीवों का उच्छेद भी असम्भव है। यदि भव्य जीवों का उच्छेद सम्पूर्णरूपेण मान लिया जाय तो वे अनन्त नहीं हो सकते हैं अतः सम्पूर्ण भव्य जीवों की मुक्ति होने पर उनसे जगत् को खाली बताना असंगत है। इसी तरह तीर्थंकरों का क्षय बताना भी अयुक्त है क्योंकि-क्षय का कारण कर्म है वह सिद्धों में नहीं है फिर उनका क्षय किस तरह हो सकता है ? यदि भवस्थ केवली की अपेक्षा से उच्छेद होना बताते हो तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि भवस्थ केवली भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनन्त हैं अतः उनका भी सम्पूर्णरूपेण इस जगत् में अभाव सम्भव नहीं है। वस्तुतः भवस्थ केवली सिद्धि को प्राप्त होते हैं इसलिये वे शाश्वत नहीं है तथा प्रवाह की अपेक्षा से वे सदा रहते हैं इसलिये शाश्वत भी हैं अतः भवस्थ केवली कथञ्चित् शाश्वत और कथञ्चित् अशाश्वत हैं यह अनेकान्त वचन ही विवेकी को कहना चाहिये । इसी तरह जगत् के समस्त प्राणियों को परस्पर विलक्षण कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि-सभी प्राणिवर्गों का जीव समानरूप से उपयोग वाला और असंख्य प्रदेशी तथा अमूर्त्त है इसलिये वे कथञ्चित् सदृश भी हैं और वे भिन्न-भिन्न कर्म, गति, जाति, शरीर और अंगोपांग से युक्त हैं इसलिये कथंचित् विलक्षण भी हैं। एवं कोई जीव अधिक वीर्य्य वाले होते हैं इस कारण वे कर्म ग्रन्थि का भेदन कर देते हैं और कोई अल्पपराक्रमी भेदन नहीं कर सकते हैं इसलिये एकान्त रूप से सभी को कर्म ग्रन्थि में पड़े रहना नहीं कहा जा सकता है। अतः कोई कर्म ग्रन्थि का भेदन करने वाले और कोई न करने वाले होते हैं यही कहना शास्त्र सम्मत समझना चाहिये ।। ४-५ ॥

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया ।
सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंति य णो वदे ।। ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **खुड्डगा** - क्षुद्र (छोटे), **महालया** - महाकाय वाले, **सरिसं** - समान, **असरिसं** - असमान, **वेरंति** - वैर होता है ।

भावार्थ - इस जगत् में जो एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र प्राणी हैं और जो हाथी घोड़े आदि महाकाय वाले प्राणी हैं उन दोनों की हिंसा से समान ही वैर होता है अथवा समान नहीं होता है यह नहीं कहना चाहिए ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥७॥

भावार्थ - इन दोनों एकान्तमय वचनों से व्यवहार नहीं होता है इसलिये इन दोनों एकान्तमय वचनों को बोलना अनाचार सेवन समझना चाहिये ।

विवेचन - इस जगत् में एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जो क्षुद्र प्राणी हैं तथा क्षुद्र शरीर वाले जो पञ्चेन्द्रिय जीव हैं एवं हाथी घोड़े आदि जो महाकाय वाले प्राणी है उन सभी की आत्मा समान समान प्रदेश वाली है इसलिये उन सभी को मारने से समान ही कर्मबन्ध होता है यह एकान्त वचन नहीं बोलना चाहिये तथा इन प्राणियों के ज्ञान इन्द्रिय और शरीरों में सदृशता नहीं है इसलिये इनके मारने से समान कर्मबन्ध नहीं होता है यह भी एकान्त वचन नहीं कहना चाहिये। इस प्रकार इन एकान्त वचनों के निषेध का अभिप्राय यह है कि-उन मारे जाने वाले प्राणी की क्षुद्रता और महत्ता ही कर्मबन्ध की क्षुद्रता और महत्ता के कारण नहीं है किन्तु मारने वाले का तीव्र भाव, मन्दभाव, ज्ञानभाव, अज्ञानभाव, महावीर्य्यता और अल्पवीर्य्यता भी कारण है। अतः मारे जाने वाले प्राणी और मारने वाले प्राणी इन दोनों की विशिष्टता से कर्म बन्ध की विशिष्टता होती है अतः एक मात्र मारे जाने वाले प्राणी के हिसाब से ही कर्मबन्ध के न्यूनाधिक्य की व्यवस्था करना ठीक नहीं है अतः यह अनाचार है। बात यह है कि-जीव नित्य है इसलिये उसकी हिंसा सम्भव नहीं है इसलिये इन्द्रिय आदि के घात को हिंसा कहते हैं जैसा कि-

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलञ्च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः
प्राणाः दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणन्तुहिंसा ॥

पांच इन्द्रियाँ, तीन प्रकार के बल उच्छ्वास निश्वास और आयु, ये दस प्राण भगवान् द्वारा कहे गये हैं इसलिये इनको शरीर से अलग कर देना हिंसा है। वह हिंसा भाव की अपेक्षा से कर्मबन्ध को उत्पन्न करती है यही कारण है कि रोगी के रोग की निवृत्ति के लिये भली भाँति चिकित्सा करते हुए वैद्य के हाथ से यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है तो उस वैद्य को उस रोगी के साथ वैर का बन्ध नहीं होता है तथा दूसरा मनुष्य जो रस्सी को सर्प मान कर उसे पीटता है उसको कर्मबन्ध अवश्य होता है क्योंकि उसका भाव दूषित है। अतः शास्त्रकार कहते हैं कि-विवेकी पुरुष को कर्मबन्ध के विषय में एकान्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बात न कहकर यही कहना चाहिये कि-वध्य और वध करने वाले प्राणियों के भाव की अपेक्षा से कर्मबन्ध में कथञ्चित् सादृश्य होता भी है और नहीं भी होता है ।। ६-७॥

अहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो ।। ८।।

कठिन शब्दार्थ - **अहाकम्माणि** - आधाकर्मी आहार आदि, **भुंजंति** - खाते हैं तथा सेवन करते हैं, **अण्णमण्णे** - परस्पर, **उवलित्ते** - उपलिप्त, **अणुवलित्ते** - उपलिप्त नहीं होते ।

भावार्थ - जो साधु आधाकर्मी आहार खाते हैं तथा वस्त्र, पात्र, मकान आदि का सेवन करते हैं। वे परस्पर पाप कर्म से उपलिप्त नहीं होते हैं अथवा उपलिप्त होते हैं ये दोनों एकान्त वचन न कहे ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।। ९॥

भावार्थ - क्योंकि इन दोनों एकान्त वचनों से व्यवहार नहीं होता है, इसलिये इन दोनों एकान्त वचनों को कहना अनाचार सेवन जानना चाहिये ।

विवेचन- भोजन, वस्त्र, पात्र तथा मकान आदि जो कुछ पदार्थ साधु को दान देने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं वे आधाकर्म कहलाते हैं ऐसे आधाकर्म आहार आदि का उपभोग करने वाला साधु कर्म से उपलिप्त होता ही है ऐसा एकान्त वचन न कहना चाहिये तथा कर्मों से उपलिप्त नहीं होता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह एकान्त वचन है।

इस पाठ की शीलांकाचार्य कृति टीका में इस बात का कथन किया गया है कि १. द्रव्य आपत्ति-प्रासुक आहारादि की प्राप्ति न होना २. क्षेत्र आपत्ति-अटवी (जंगल) में आहारादि की प्राप्ति न होना ३. काल आपत्ति-दुर्भिक्ष आदि के समय ४. भाव आपत्ति - रोग आदि के समय साधु-साध्वी आधाकर्मी आहारादि ग्रहण करें तो उसे कोई दोष नहीं लगता है।

किन्तु टीकाकार का उपरोक्त कथन आगम के कई जगह के मूल पाठ से मेल नहीं खाता है। अपितु मूल पाठ से विपरीत जाता है। यथा - आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंन्ध में साधु-साध्वी के लिए बनाया हुआ (आधाकर्म) खरीदा हुआ आदि दोष युक्त अशन, पान, खादिम, स्वादिम और वस्त्र, पात्र, मकान आदि साधारणतया तथा पुरुषान्तर कृत (दूसरों को सुपुर्द किया हुआ) होने पर भी लेने का पूर्ण निषेध किया गया है तथा सूयगडांग सूत्र अध्ययन ९ की गाथा १४ एवं अध्ययन ११ गाथा १३, १४, १५ में भी आधाकर्म आदि का पूर्ण निषेध किया है। १७ वें तथा १८ वें अध्ययन में भी सदोष आहार भोगने का निषेध किया है। इसी सूत्र का उल्लेख करते हुए अध्ययन एक उद्देशक ३ गाथा १ के वर्णन से भी यह स्पष्ट है कि पूति कर्म (आधाकर्म का जिसमें अंश भी मिल गया हो) आहारादि का सेवन करने वाला दो पक्षों (साधु और गृहस्थ) का सेवन करता है। अर्थात् वेष से तो वह साधु है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावों से गृहस्थ तुल्य है। इसी सूत्र के १० वें अध्ययन की ११ वीं गाथा में आधाकर्मी आहार की इच्छा करने की भी मनाई की है तो फिर उसे भोगने की तो बात ही कहाँ रही ?

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशक ९ में आधाकर्मी भोगने वाला मुनि कर्मों को निबिड़ (सघन) करता है और अनादि अनन्त संसार में बारम्बार परिभ्रमण करता रहता है क्योंकि वैसा करने वाला मुनि आत्म धर्म (श्रुत धर्म और चारित्र धर्म) का उल्लंघन करता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र शतक १८ उद्देशक १० तथा प्रश्न व्याकरण सूत्र, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि सूत्रों में अनेक स्थानों पर आधाकर्मी आदि दोष युक्त आहारादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है और कटु फल बताया है परन्तु किसी भी दशा में सामान्य या विशेष कारण से ग्रहण करने का कथन नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आधाकर्म आदि ग्रहण करना शास्त्र सम्मत नहीं है बल्कि समवायांग सूत्र और दशाश्रुत स्कंन्ध सूत्र में असमाधि और शबल दोष बताया है और निशीथ सूत्र में इसका प्रायश्चित्त बताया है।

आचारांग सूत्र अध्ययन आठ उद्देशक दो में बताया है कि - कोई गृहस्थ मुनि के लिए आहारादि बनावें परन्तु मुनि को मालूम हो जाने पर वह उस आधाकर्म आदि अशुद्ध आहारादि को न ले। यदि नहीं लेने से गृहस्थ कुपित हो जाए और उसको मारे-पीटे तथा दूसरों से कहे कि इसे मारो-पीटो जीव रहित कर दो इत्यादि संकट उस गृहस्थ के द्वारा प्राप्त होने पर भी वह मुनि उस संकट को सहन करें तथा भूख प्यास से पीड़ित होने पर भी वैसा दूषित आहारादि न लेवे। ऐसे दुःसह्य आपत्ति के समय भी शास्त्रकार ने किसी तरह का अपवाद नहीं रखा है, तो फिर भूख प्यास आदि से पीड़ित दशा में आधाकर्म आदि का ग्रहण करना शास्त्र सम्मत कैसे हो सकता है ?

उपरोक्त आठवीं और नवमी गाथाओं में आधाकर्म आदि सदोष आहारादि लेने का कोई उल्लेख ही नहीं है और न कोई ऐसा अर्थ ही प्रकट होता है इन गाथाओं में तो यह बतलाया गया है कि आधाकर्मी भोगने वाले को कर्म बन्ध होता ही है या नहीं ही होता है ऐसा निश्चय करके एकान्त भाषा नहीं बोलना चाहिए क्योंकि छद्मस्थता के कारण भोक्ता सम्बन्धी आन्तरिक ज्ञान न होने से निश्चय कारी भाषा बोलने का निषेध है क्योंकि जिस मुनि के शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखते हुए भी अनजान में आधाकर्मी आहार आदि भोगने में आ गया हो तो उसके (प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वर्ग के अतिरिक्त बाईस तीर्थंकरों के साधु वर्ग में जिनके लिए आहारादि किया गया है उनको छोड़कर शेष साधु वर्ग के और छेदोपस्थापनीय चारित्र देने योग्य नवदीक्षित को अनैषणिक आहारादि आ जाने पर देने का विधान होने से उनको वह आहारादि दिए जाने पर वह उसको काम में लेता हो तो इन सब के कर्म बन्धन हुए ऐसा कैसे कहा जा सकता है, (अर्थात् नहीं कहा जा सकता है) ऐसी परिस्थिति में उनके तत्सबन्धी कर्म बन्ध नहीं होने से उनके कर्मबन्ध हुए ऐसा कहना और उपरोक्त मुनियों के अतिरिक्त जो जानबूझकर उपरोक्त प्रकार से आधाकर्म आदि दोष दूषित आहारादि जिसने भोगा हो उसके तत्संबन्धी कर्म बन्ध होने से कर्म बन्ध नहीं हुए इस प्रकार बोलना अनाचीर्ण दोष है। यह इन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोनों गाथाओं में बताया गया है। अतः उपरोक्त गाथाओं में आधाकर्म आदि दोष दूषित आहारादि को भोगने का कोई विधान नहीं है। टीकाकार ने आधाकर्म आदि सदोष आहार भोगने का कथन कैसे कर दिया ? ये उनकी वे ही जाने किन्तु यह अर्थ मूल गाथाओं से विपरीत जाता है। अतः यह अर्थ ग्रहण करने योग्य नहीं है।

अमिदं ओरालमाहारं, कम्मगं च तहेव य (तमेव तं) ।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ।। १० ॥

कठिन शब्दार्थ - **ओरालं** - औदारिक, **आहारं** - आहारक, **कम्मगं** - कार्मण शरीर, **वीरियं** - वीर्य शक्ति ।

भावार्थ - ये जो औदारिक, आहारक और कार्मण शरीर हैं वे सब एक ही हैं अथवा वे एकान्त रूप से भिन्न भिन्न हैं ये दोनों एकान्त मय वचन नहीं कहने चाहिये एवं सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति मौजूद है अथवा सब में सब की शक्ति नहीं है ये वचन भी नहीं कहने चाहिये ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।। ११ ॥

भावार्थ - क्योंकि इन दोनों स्थानों के द्वारा व्यवहार नहीं होता है इसलिये इन दोनों स्थानों से व्यवहार करना अनाचार सेवन जानना चाहिये ।

भावार्थ - पूर्वगाथा में आहार के सम्बन्ध में अनाचार का वर्णन किया है । इसलिये इस गाथा में आहार करने वाले शरीर के सम्बन्ध में अनाचार वर्णन किया जाता है। शरीर पाँच प्रकार का होता है - औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण। जो शरीर सर्व प्रत्यक्ष है और उदार पुद्गलों के द्वारा बना हुआ है वह औदारिक कहलाता है। यह औदारिक शरीर निःसार है इसलिये इसे उराल भी कहते हैं। यह औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्य्यञ्चों का ही होता है। आहारक शरीर वह है जो चौदह पूर्वधारी मुनि के द्वारा किसी विषय में संशय होने पर बनाया जाता है। इस आहारक शरीर का इस गाथा में ग्रहण है इसलिये इससे वैक्रिय शरीर का भी ग्रहण समझना चाहिये। कार्मण शरीर वह है जो कर्मों से बना हुआ है इसके ग्रहण से इसके सहचारी तैजस शरीर का भी ग्रहण करना चाहिये। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों में से प्रत्येक शरीर तैजस और कार्मण शरीर के साथ ही पाये जाते हैं अतः इनमें परस्पर एकता की आशंका किसी को न हो इसलिये शास्त्रकार ने यहां इनके एकत्व का कथन अनाचार बताया है। आशय यह है कि-औदारिक शरीर ही तैजस और कार्मण शरीर है एवं वैक्रिय शरीर ही आहारक शरीर है ऐसा एकान्त अभेदमय वचन नहीं कहना चाहिये तथा इन शरीरों में एकान्त भेद है यह भी नहीं कहना चाहिये। इस प्रकार एकान्त अभेद और एकान्त भेद के निषेध का कारण यह है कि-इन शरीरों के कारण में भेद है इसलिये एकान्त अभेद इनमें नहीं है, जैसे कि-औदारिक शरीर के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण उदार पुद्गल है और कार्मण शरीर के कारण कर्म हैं तथा तैजस शरीर के कारण तेज है इसलिये कारण भेद होने से इनमें एकान्त अभेद सम्भव नहीं है। इसी तरह इनमें एकान्त भेद भी सम्भव नहीं है क्योंकि ये सब के सब एक ही काल और एक ही देश में उपलब्ध होते हैं घर दारादि की तरह भिन्न-भिन्न देश और काल में उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः इन दोनों बातों को देखते हुए इनके विषय में यही कहना चाहिये कि-इन शरीरों में कथञ्चित भेद और कथञ्चित अभेद है ।

सांख्यवादी कहते हैं कि-"जगत् में जितने पदार्थ हैं सभी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं इसलिये प्रकृति ही समस्त पदार्थों का कारण है। वह प्रकृति एक ही है इसलिये सभी पदार्थ सर्वात्मक है और सब पदार्थों में सब की शक्ति विद्यमान हैं" परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं कहना चाहिये। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में ही स्थित हैं तथा उनकी शक्ति भी परस्पर विलक्षण है इसलिये सब पदार्थों में सब की शक्ति नहीं है यह भी नहीं कहना चाहिये ।

यहां, इन दोनों एकान्तमय वचनों के कथन का निषेध इसलिये किया जाता है कि-ये दोनों ही बातें व्यवहार से विरुद्ध है, पदार्थों की परस्पर भिन्न भिन्न शक्ति प्रत्यक्ष अनुभव की जाती है एवं सुख, दुःख, जीवन, मरण, दूरता, निकटता, सुरूपता और कुरूपता आदि विचित्रता भी पृथक्-पृथक् देखने में आती है । तथा कोई पापी है तो कोई पुण्यात्मा है, कोई पुण्य का फल भोगता है तो कोई पाप का फल भोगता है। इसलिये सभी पदार्थों को सब स्वरूप और सभी में सब की शक्ति का सद्भाव नहीं माना जा सकता है। सांख्यवादी स्वयं सत्त्व रज और तम को भिन्न-भिन्न मानते हैं, एक स्वरूप नहीं मानते हैं परन्तु सभी यदि सर्वात्मक हैं तो सत्त्व, रज और तम भी परस्पर अभिन्न ही होने चाहिये । परन्तु सांख्यवादी ऐसा नहीं मानते हैं इसलिये दूसरे पदार्थों के विषय में भी सांख्यवादियों को ऐसा ही मानना चाहिये, सब को सर्वात्मक मानना ठीक नहीं है । इसी प्रकार सभी पदार्थ सत्त्व, रज और तम रूप प्रकृति के कार्य्य हैं यह सिद्धान्त भी अप्रमाणिक है क्योंकि इसका साधक कोई प्रबल युक्ति सांख्यवादी के पास नहीं है तथा सांख्यवादी उत्पत्ति से पहले जो कार्य्य की कारण में सर्वथा सत्ता मानते हैं वह भी ठीक नहीं है क्योंकि पिण्डावस्था में घट के कार्य्य और गुण नहीं पाये जाते हैं तथा सर्वथा विद्यमान कार्य्य की कारण से उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है क्योंकि सर्वथा विद्यमान घट की उत्पत्ति नहीं होती है अतः कारण में कार्य्य का सर्वथा सद्भाव मानना भी अयुक्त है। कारण में कार्य्य का सर्वथा अभाव मानना भी ठीक नहीं हैं क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे मृत् (मिट्टी) पिण्ड से घट होता है इसी तरह व्योमारविन्द (आकाश का कमल) भी होना चाहिये। अतः कारण में कार्य्य का सर्वथा अभाव मानना भी ठीक नहीं है। वस्तुतः सभी पदार्थ सत्ता रखते हैं, सभी ज्ञेय हैं सभी प्रमेय हैं इसलिये सत्ता ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म की दृष्टि से सभी पदार्थ कथञ्चित् एक भी हैं और सबके कार्य्य, गुण, स्वभाव और नाम आदि भिन्न-भिन्न हैं इसलिये सभी पदार्थ परस्पर कथंचित् भिन्न भी है। एवं उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य्य की कथञ्चित सत्ता भी है और कथञ्चित् नहीं भी है। कारण में कार्य्य की कथञ्चित्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता है इसीलिये मोर के अण्डे से मोर ही उत्पन्न होता है परन्तु काक आदि नहीं होते हैं तथा शालि के अंकुर की इच्छा करने वाला पुरुष शालि (चावल) के ही बीज को ग्रहण करता है यव (जव) आदि के बीज को नहीं तथा कारण में कार्य्य के गुण, क्रिया और नाम नहीं पाये जाते हैं इसलिये वह कारण में कथञ्चित् नहीं भी रहता है। यदि वह सर्वथा वर्तमान होता तो फिर उसे उत्पन्न करने के लिये कर्त्ता आदि कारण कलापों की प्रवृत्ति कैसे होती ? अतः कारण में कार्य्य का कथञ्चित् सद्भाव और कथञ्चित् असद्भाव मानना ही विवेकी पुरुष का कर्तव्य जानना चाहिये ।। १०-११ ॥

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। १२॥

कठिन शब्दार्थ - सण्णं - संज्ञा (ज्ञान) णिवेसए - रखे।

भावार्थ - लोक या अलोक नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये किन्तु लोक और अलोक हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ।

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। १३॥

भावार्थ - जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये । किन्तु जीव और अजीव हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ।

विवेचन - सर्वशून्यतावादी लोक अलोक और जीव तथा अजीव आदि पदार्थों को मिथ्या मानते हैं वे कहते हैं कि-स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थ जैसे मिथ्या हैं इसी तरह अस्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले भी जगत् के सभी दृश्य मिथ्या हैं। इसकी सिद्धि इस प्रकार जाननी चाहिये-जगत् में जितने भी दृश्य पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं वे सभी अपने-अपने अवयवों के द्वारा ही प्रकाशित हो रहे हैं इसलिये उनके अवयवों की सत्ता जब तक सिद्ध न की जाय तब तक उनकी सत्ता सिद्ध होना सम्भव नहीं है परन्तु अवयवों की सत्ता सिद्ध होना शक्य नहीं है क्योंकि अन्तिम अवयव परमाणु है अर्थात् अवयवों की धारा परमाणु में जाकर समाप्त होती है और वह परमाणु इन्द्रियातीत यानी इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है इसलिये उसकी सत्ता सिद्ध होना संभव नहीं और उसकी सत्ता सिद्ध न होने से दृश्य पदार्थ की सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकती है ।

यदि जगत् के दृश्य पदार्थों को अपने अपने अवयवों के द्वारा प्रकाशित न मानकर अवयवी के द्वारा प्रकाशित माना जावे तो भी उनकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्ण रूप से स्थित माना जायगा अथवा देश से ? यदि वह प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्णतः स्थित माना जाय तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी भी मानने पड़ेंगे जो किसी को भी इष्ट नहीं है क्योंकि सभी एक ही अवयवी मानते हैं अतः प्रत्येक अवयवों में अवयवी की पूर्णरूप से स्थिति नहीं मानी जा सकती है ।

यदि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में अंशतः रहता है यह माना जावे तो भी नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बनता है क्योंकि वह अंश क्या है ? यदि अवयव ही है तब तो फिर वही बात आती है जो अवयव पक्ष में कही गई है। यदि वह अंश अवयवों से जुदा है तब फिर उस अंश में वह अवयवी सम्पूर्ण रूप से रहता है अथवा अंशतः रहता है यह पूर्व की शंका सामने ही खड़ी है । इस शंका का निवारण करने के लिये यदि फिर वही उत्तर दिया जाय कि वह अवयवी अपने अंश में अंशतः रहता है तो पहला प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है अतः इस उत्तर में अनवस्था ✡ दोष है । इस प्रकार विचार के साथ देखने से किसी भी दृश्य पदार्थ का कोई नियतस्वरूप सिद्ध नहीं होता है अतः स्वप्न इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थों के समान ही जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ मिथ्या है यह बात सिद्ध होती है । अतएव अनुभवी विद्वानों की उक्ति है कि-

"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत् स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ॥"

अर्थात् ज्यों ज्यों गम्भीर दृष्टि से पदार्थों का विचार किया जाता है त्यों त्यों वे अपने स्वरूप को बदलते चले जाते हैं अर्थात् वे कभी किसी रूप में और कभी किसी रूप में प्रतीत होते हैं-परन्तु नियत रूप उनका प्रतीत नहीं होता है अतः जब पदार्थों का तत्त्व ही ऐसा है तो उनको नियत रूप देने वाले हम कौन हैं ? आशय यह है कि-दृश्य पदार्थ का प्रतीयमान रूप मिथ्या है अतः जब वस्तु का ही सद्भाव सिद्ध नहीं होता तब लोक और अलोक आदि का सद्भाव किस तरह सिद्ध हो सकता है? यह सर्वशून्यतावादी नास्तिकों का सिद्धान्त है। परन्तु यह सिद्धान्त भ्रममूलक है क्योंकि माया इन्द्रजाल और स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थ सत्य पदार्थ की अपेक्षा से मिथ्या माने जाते हैं स्वतः नहीं । यदि समस्त पदार्थ ही मिथ्या है तब फिर माया इन्द्रजाल और स्वप्न की व्यवस्था ही कैसे की जा सकती है ? तथा सर्वशून्यतावादी युक्ति के आधार पर ही सर्व पदार्थों को मिथ्या सिद्ध कर सकता है अन्यथा नहीं। वह युक्ति यदि सच्ची है तब तो उसी युक्ति की तरह जगत् के समस्त दृश्य पदार्थ भी सच्चे क्यों नहीं माने जावे ? और यदि वह युक्ति मिथ्या है तो फिर उस मिथ्या युक्ति से वस्तु तत्त्व की सिद्धि किस प्रकार की जा सकती है ? यह नास्तिक को सोचना चाहिये ।

जगत् के दृश्य पदार्थ अपने-अपने अवयवों के द्वारा प्रकाशित होते हैं अथवा अवयवी के द्वारा प्रकाशित होते हैं इस प्रकार दो पक्षों की कल्पना करके नास्तिक ने जो दोनों पक्षों को दूषित करने की चेष्टा की है वह भी उसका प्रलाप मात्र है क्योंकि अवयव के साथ अवयवी का कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है तथा वे अपनी सत्ता से स्वतः प्रकाशित हैं एवं उनके द्वारा जगत् की समस्त क्रियायें की जाती हैं, आग प्रत्यक्ष जलाती हुई, जल ठण्डा करता हुआ, वायु स्पर्श उत्पन्न करता हुआ प्रत्यक्ष ही अनुभव किया जाता है एवं जगत् के सभी घटपटादि पदार्थ अपना-अपना कार्य करते हुए अनुभव किये जाते हैं अतः उन्हें मिथ्या मानना सर्वथा भ्रम है। यद्यपि पदार्थों का अन्तिम अवयव परमाणु है

✡ अप्रामाणिकानन्त परिकल्पनया विश्रान्त्यभावो अनवस्था

अर्थ - अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते जाना एवं कहीं नहीं रूकना अनवस्था दोष कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथापि वह अज्ञेय नहीं है क्योंकि-घटपटादि रूप कार्य्य के द्वारा वे अनुमान से ग्रहण किये जाते हैं तथा अवयवी का ग्रहण तो प्रत्यक्ष ही होता है उसके लिये अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह अवयवी प्रत्येक अवयवों में व्याप्त है इसीलिये किसी वस्तु के एक अंश को देखकर भी उसे जान लेते हैं कि-यह अमुक वस्तु है परन्तु वह अवयवी अपने अवयवों से एकान्त भिन्न है अथवा वह एकान्त अभिन्न है यह नहीं मानना चाहिये किन्तु वह अवयव से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है यह अनेकान्त सिद्धान्त ही सर्व दोषों से रहित और मानने योग्य है। इस प्रकार लोक और अलोक की सत्ता मान कर वे अवश्य हैं यही विद्वानों को मानना चाहिये परन्तु वे नहीं है यह नहीं मानना चाहिये यही बारहवीं गाथा का आशय है ।

तेरहवीं गाथा के द्वारा जीव और अजीव पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। पञ्चमहाभूतवादी कहते हैं कि-जीव नामक कोई पदार्थ नहीं है वह अविवेकियों द्वारा मूर्खतावश माना गया है। चलना, फिरना, सोना, जागना, उठना, बैठना, सुनना आदि सभी कार्य्य, शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों के द्वारा ही किये जाते हैं क्योंकि चैतन्य रूप गुण शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों का ही गुण है अतः शरीर में चैतन्य गुण को देखकर उसके गुणी अप्रत्यक्ष आत्मा की कल्पना करना भूल है यह नास्तिकों का मत है तथा आत्माद्वैतवादी कहते हैं कि - यह समस्त जगत् एक आत्मा (ब्रह्म) का परिणाम है । जो पदार्थ हो चुके हैं, जो हैं और जो होंगे वे सभी एक आत्मा के कार्य्य हैं इस कारण सभी एक आत्मस्वरूप हैं एक आत्मा से भिन्न दूसरा कोई भी पदार्थ जगत् में नहीं है। चेतन और अचेतन जो कुछ भी पदार्थ दिखाई देते हैं सभी आत्मस्वरूप ही है अतः आत्मा से भिन्न जीव और अजीव आदि पदार्थों को मानना भूल है यह आत्माऽद्वैतवादियों का मन्तव्य है ।

परन्तु यह आर्हत दर्शन इन दोनों मतों को अयुक्त बतलाता हुआ यह उपदेश देता है कि-"जीव, अजीव आदि पदार्थ नहीं है" ऐसी स्थापना विवेकी को कदापि नहीं करनी चाहिये किन्तु ये दोनों ही पदार्थ हैं यही बात माननी और कहनी चाहिये। जीव एक स्वतन्त्र और अनादि पदार्थ है वह पाँच महाभूतों का कार्य्य नहीं है क्योंकि पाँच महाभूत जड़ है अतः उनसे चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है तथा वे पाँच महाभूत जड़ होने के कारण बिना किसी की प्रेरणा के शरीर के आकार में परिणत भी नहीं हो सकते हैं एवं वे पाँच महाभूत यदि अपने में अविद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति करते हैं तो वे नित्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि जो वस्तु सदा एक स्वभाव में रहती है वही नित्य कहलाती है। अतः पहले से विद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति यदि पाँच महाभूतों से मानें तब तो यह एक प्रकार से जीव को ही मान लेना है क्योंकि वह चैतन्य पहले से ही विद्यमान होने के कारण नवीन उत्पन्न नहीं हुआ । यह चैतन्य गुण पाँच महाभूतों का नहीं है क्योंकि पांच भूतों से उत्पन्न घटपटादि पदार्थों में चैतन्य अनुभव नहीं किया जाता है अतः नास्तिकों का सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है। जगत् में जितने प्राणी हैं सभी अपने-अपने जीव का अस्तित्व अनुभव करते हैं । सभी कहते हैं कि-"मैं हूँ" । कोई भी "मैं नहीं हूँ" ऐसा नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहता है अतः सभी प्राणियों को जीव मानस प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है इसलिये प्रत्यक्ष सिद्ध जीव को सिद्ध करने के लिये अनुमान आदि प्रमाणों का संचार करके ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना ठीक नहीं है। वह जीव सिद्ध (मुक्तात्मा) और संसारी भेद से दो प्रकार का है और सभी जीव अलग-अलग स्वतन्त्र हैं किसी के साथ किसी जीव का कार्य्यकारणभाव नहीं है तथा ये जीव किसी ब्रह्म या आत्मा के परिणाम भी नहीं हैं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा अनुभव से भी विरोध पड़ता है। एवं एक आत्मा को ही समस्त चराचर प्राणियों का आत्मा मानने से जगत् की विचित्रता हो नहीं सकती है इस जगत् में घट पट आदि अचेतन पदार्थ भी अनन्त हैं वे चेतनरूप आत्मा या ब्रह्म के परिणाम हों यह सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर वे जड़ नहीं किन्तु चेतन होते तथा एक आत्मा होने पर एक के सुख से दूसरा सुखी और दूसरे के दुःख से दूसरे दुःखी हो जाते परन्तु ऐसा है नहीं। अतः एक आत्मा को ही परमार्थ सत् मानकर शेष समस्त पदार्थों को मिथ्या मानना आत्माद्वैतवादियों का भ्रम है इसलिये आर्हत दर्शन की यह तेरहवीं गाथा उपदेश करती है कि-"जीव और अजीव नहीं है यह बात नहीं माननी चाहिये किन्तु जीव और अजीव हैं" यही मानना चाहिये ।। १२-१३ ॥

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। १४॥

भावार्थ - धर्म या अधर्म नहीं है यह नहीं मानना चाहिये धर्म और अधर्म हैं यही बात माननी चाहियें ।

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।।१५।।

भावार्थ - बन्ध अथवा मोक्ष नहीं है यह नहीं मानना चाहिये किन्तु बन्ध और मोक्ष है यही बात माननी चाहिये ।

विवेचन - श्रुत और चारित्र, धर्म कहलाते हैं और वे आत्मा के अपने परिणाम हैं एवं वे कर्मक्षय के कारण हैं तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग अधर्म कहलाते हैं ये भी आत्मा के ही परिणाम हैं । ये दोनों ही धर्म और अधर्म अवश्य हैं अतः इनका निषेध नहीं करना चाहिये । ऊपर कही हुई बात सत्य होने पर भी कई लोग काल, स्वभाव, नियति और ईश्वर आदि को समस्त जगत् की विचित्रता का कारण मानकर धर्म और अधर्म को नहीं मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है क्योंकि धर्म और अधर्म के बिना वस्तुओं की विचित्रता सम्भव नहीं है । काल स्वभाव और नियति आदि भी कारण अवश्य हैं परन्तु वे धर्म और अधर्म के साथ ही कारण होते हैं इन्हें छोड़कर नहीं क्योंकि एक ही काल में जन्म धारण करने वाला कोई काला कोई गोरा, कोई सुन्दर कोई बीभत्स, कोई हृष्ट पुष्टाङ्ग कोई अङ्गहीन तथा कोई दुर्बल आदि होता है काल आदि की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समानता होने पर भी धर्म और अधर्म की भिन्नता के कारण ही उक्त विचित्रता होती है अतः धर्म और अधर्म को न मानना भूल है । अतएव विद्वानों ने कहा है कि -

"ण हि कालादिहिंतो केवलएहिंतो जायए किंचि।
इह मुग्गरंधणाइ वि, ता सव्वे समुदिया हेऊ ॥"

अर्थात् - संसार का कोई भी कार्य्य केवल काल आदि के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता किंतु धर्म और अधर्म आदि भी वहां कारणरूप से रहते हैं अतः धर्म और अधर्म के साथ मिले हुए ही काल आदि सबके कारण हैं अकेले नहीं है। इस कारण धर्म और अधर्म नहीं है यह विवेकी पुरुषों को नहीं मानना चाहिये यह चौदहवीं गाथा का आशय है ।

बन्ध और मोक्ष नहीं है यह कई लोगों की मान्यता है। वे कहते हैं कि-आत्मा अमूर्त्त है इसलिये कर्म पुद्गलों का उसमें बन्ध होना सम्भव नहीं है। जैसे अमूर्त्त आकाश में पुद्गलों का लेप नहीं होता है इसी तरह आत्मा में भी नहीं हो सकता है इसलिये आत्मा में बन्ध नहीं मानना चाहिये। एवं मोक्ष भी नहीं मानना चाहिये क्योंकि आत्मा को जब बन्ध ही नहीं है तब मोक्ष किस बात से होगा अतः बन्ध और मोक्ष दोनों ही मिथ्या हैं यह किसी की मान्यता है ।

वस्तुतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त्त के साथ मूर्त्त का सम्बन्ध देखा जाता है जैसे कि-विज्ञान अमूर्त्त पदार्थ है मूर्त्त नहीं है फिर भी मद्य आदि के पान से उसमें विकृति प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह विकृति, अमूर्त्त विज्ञान के साथ मूर्त्त मद्य का सम्बन्ध माने बिना सम्भव नहीं है। अतः जैसे अमूर्त्त विज्ञान के साथ मूर्त्त मद्य आदि का सम्बन्ध होता है इसी तरह अमूर्त्त जीव के साथ मूर्त्त कर्मपुद्गलों का बन्ध भी होता है तथा यह संसारी जीव अनादिकाल से तैजस और कार्मण शरीर के साथ सम्बद्ध हुआ ही चला आ रहा है इनसे रहित अकेला कभी नहीं हुआ इसलिये यह कथञ्चित् मूर्त्त भी है इस कारण कर्मपुद्गलों का बन्ध इसमें असंभव नहीं है । अतः बन्ध है यही मानना चाहिये तथा बन्ध है इसलिये मोक्ष भी है यह भी मानना चाहिये, यह १५वीं गाथा का आशय है ।। १४-१५ ॥

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। १६ ॥

भावार्थ - पुण्य और पाप नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिए । किन्तु पुण्य और पाप हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ।

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। १७ ॥

भावार्थ - आस्रव और संवर नहीं हैं यह ज्ञान नहीं रखना चाहिये किन्तु आस्रव और संवर हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – किसी अन्यतीर्थी का सिद्धान्त है कि इस जगत् में पुण्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है किन्तु एक मात्र पाप ही है । वह पाप जब अल्प होता है तब सुख उत्पन्न करता है और जब अधिक हो जाता है तब दुःख उत्पन्न करता है । दूसरे लोग इसे न मान कर कहते हैं कि–जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है एक मात्र पुण्य ही है। वह पुण्य जब घट जाता है तब दुःख को उत्पन्न करता है और वह बढ़ता हुआ सुख की उत्पत्ति करता है । एवं तीसरे लोग यह कहते हैं कि–पाप या पुण्य दोनों ही पदार्थ मिथ्या है क्योंकि जगत् की विचित्रता नियति और स्वभाव आदि के कारण से होती है। अतः पाप और पुण्य के द्वारा जगत् की विचित्रता मानना मिथ्या है। इन ऊपर कहे हुए समस्त मतों को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–"पाप और पुण्य नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु ये दोनों ही हैं यही मानना चाहिये।" जो पाप को मान कर पुण्य का खण्डन करते हैं और जो पुण्य को मानकर पाप का निषेध करते हैं वे दोनों ही वस्तुतत्त्व को नहीं जानते हैं क्योंकि पाप मानने पर पुण्य अपने आप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि–ये दोनों ही परस्पर नियत सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ है अतः पाप के होने पर पुण्य और पुण्य के होने पर पाप अपने आप सिद्ध हो जाता है अतः दोनों को ही मानना चाहिये । जो लोग जगत् की विचित्रता नियति या स्वभाव से मान कर पाप और पुण्य दोनों का खण्डन करते हैं वे भूल करते हैं क्योंकि स्वभाव या नियति से जगत् की विचित्रता मानने पर तो जगत् की समस्त क्रियायें निरर्थक ठहरेंगी, सब कुछ नियति और स्वभाव से ही हो तो फिर क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है अतः पुण्य और पाप को न मानना भूल है। यहाँ प्रसङ्गवश संक्षेप से पुण्य और पाप का स्वरूप बतला दिया जाता है ।

पुद्गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमथ तत् पापमिति, भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ।।

इस जिन शासन में सर्वज्ञ के वचनों के अनुसार शुभ जो कर्मपुद्गल हैं उन्हें पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल को पाप कहते हैं । यही १६वीं गाथा का आशय है ।

जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करता है उसे 'आस्रव' कहते हैं वह प्राणातिपात आदि है और उस आस्रव को रोकना संवर कहलाता है। ये दोनों ही पदार्थ अवश्य हैं यही मानना चाहिये परन्तु ये नहीं हैं यह नहीं मानना चाहिये।

कोई कहते हैं कि–जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करते हैं वह आस्रव आत्मा से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो वह आस्रव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जैसे आत्मा से भिन्न घट(घड़ा) पट (कपड़ा) आदि पदार्थ हैं उसी तरह वह आस्रव भी है फिर उसके द्वारा आत्मा में कर्म किस तरह प्रवेश कर सकता है क्योंकि घट पटादि पदार्थों के द्वारा आत्मा में कर्म का प्रवेश तुम भी नहीं मान सकते। यदि आत्मा से आस्रव को अभिन्न कहो तब तो मुक्तात्माओं में भी आस्रव मानना पड़ेगा अतः आस्रव कोई वस्तु नहीं है और आस्रव कोई वस्तु नहीं है इसलिये उस आस्रव का निरोध रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवर भी कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है इस प्रकार आस्रव और संवर दोनों ही नहीं है, यह किसी का सिद्धान्त है ।

इस बात को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि आस्रव और संवर दोनों ही है यही बुद्धिमान् को मानना चाहिये परन्तु ये नहीं है यह नहीं मानना चाहिये। क्योंकि-संसारी आत्मा के साथ आस्रव का न तो सर्वथा भेद ही है और न सर्वथा अभेद ही है किन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है इसलिये एक पक्ष को लेकर जो आस्रव का खण्डन किया गया है वह मिथ्या है। काय, वाणी और मन का जो शुभ योग है वह पुण्यास्रव तथा उनका अशुभयोग पापास्रव है तथा काय वाणी और मनकी गुप्ति संवर है। जब तक इस जीव का शरीर में अहंभाव है तब तक कायिक वाचिक और मानसिक योगों के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य है इसलिये आस्रव और संवर को न मानना अज्ञान है ।। १६-१७॥

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। १८॥

भावार्थ - वेदना और निर्जरा नहीं है ऐसा विचार नहीं रखना चाहिए किन्तु वेदना और निर्जरा हैं यही निश्चय रखना चाहिये ।

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सण्णं णिवेसए ॥१९॥

भावार्थ - क्रिया और अक्रिया नहीं हैं यह नहीं मानना चाहिये किन्तु क्रिया और अक्रिया हैं यह मानना चाहिये ।

विवेचन - कर्म के फल को भोगना वेदना है और आत्मप्रदेशों से कर्मपुद्गलों का झड़ना निर्जरा है । ये दोनों ही पदार्थ नहीं है ऐसी मान्यता कई लोगों की है । वे कहते हैं कि-सैकड़ों पल्योपम और सागरोपम समय में भोगने योग्य कर्मों का भी अन्तर्मुहूर्त्त में ही क्षय हो जाता है क्योंकि-अज्ञानी जीव अनेक कोटि वर्षों में जिन कर्मों का क्षपण करता है उन्हें तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है यह शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है तथा क्षपक श्रेणी में प्रविष्ट साधु शीघ्र ही अपने कर्मों का क्षय कर डालता है अतः क्रमशः बद्ध कर्मों का अनुभव न होने के कारण वेदना का अभाव सिद्ध होता है और वेदना के अभाव होने से निर्जरा का अभाव स्वतः सिद्ध है।

परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि-तपस्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कतिपय कर्मों का ही क्षपण होता है शेष कर्मों का नहीं उनको तो उदीरणा और उदय के द्वारा अनुभव करना ही पड़ता है अतः वेदना का सद्भाव अवश्य है अभाव नहीं है अतएव आगम कहता है कि- "**पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कम्माणं वेइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता ।**" अर्थात् पहले अपने किये हुए पाप कर्मों का फल भोग कर ही मोक्ष होता है अन्यथा नहीं होता। इस प्रकार वेदना की सिद्धि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होने पर निर्जरा की सिद्धि अपने आप ही हो जाती है अतः विवेकी पुरुष को वेदना और निर्जरा नहीं है यह नहीं मानना चाहिये ।

चलना, फिरना आदि क्रिया है और इनका अभाव अक्रिया है। इन दोनों की सत्ता अवश्य है तथापि सांख्यवादी आत्मा को आकाश की तरह व्यापक मान कर उसे क्रिया रहित कहते हैं । एवं बौद्ध लोग समस्त पदार्थों को क्षणिक कहते हैं। इसलिये बौद्ध के मत में एक उत्पत्ति के सिवाय पदार्थों में दूसरी कोई क्रिया ही सम्भव नहीं है। उनका यह पद्य भी इस बात का द्योतक है जैसे कि-"**भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ।**" अर्थात् पदार्थों की जो उत्पत्ति है वही उनकी क्रिया है और वही उनका कर्तृत्व है। एवं इस मत में सभी पदार्थ प्रतिक्षण अवस्थान्तरित होते रहते हैं इसलिये उनमें अक्रिया यानी क्रिया रहित होना भी सम्भव नहीं है वस्तुतः ये दोनों ही मत ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा को आकाश की तरह सर्व व्यापक और निष्क्रिय मानने पर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती है। एवं वह सुख दुःख का भोक्ता भी नहीं सिद्ध हो सकता है इसलिये आत्मा को आकाशवत् सर्वव्यापक मान कर उसमें क्रिया का अभाव मानना अयुक्त है इसी तरह समस्त पदार्थों को निरन्वय क्षणभङ्गुर मान कर उत्पत्ति के सिवाय उनमें दूससी क्रियाओं का अभाव मानना भी अयुक्त है क्योंकि-ऐसा मानने पर जगत् की दूसरी क्रियायें जो प्रत्यक्ष अनुभव की जा रही है उनका कर्त्ता कौन होगा ? तथा आत्मा में सर्वथा क्रिया का अभाव मानने पर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी अतः बुद्धिमान् पुरुष को क्रिया और अक्रिया दोनों का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये ।। १८-१९ ॥

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।।२०॥

भावार्थ - क्रोध या मान नहीं हैं यह नहीं मानना चाहिये किन्तु क्रोध और मान हैं यही बात माननी चाहिये ।

णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि माया व लोभे वा. एवं सण्णं णिवेसए ।।२१॥

भावार्थ - माया और लोभ नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये किन्तु माया और लोभ हैं ऐसा ही ज्ञान रखना चाहिये ।

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।।२२॥

भावार्थ - राग और द्वेष नहीं हैं ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये किन्तु राग और द्वेष हैं यही विचार रखना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है । वह क्रोध अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार प्रकार का है तथा मान के भी ये ही चार भेद हैं । गर्व करना मान कहलाता है। कोई कहते हैं कि-क्रोध, मान से भिन्न नहीं है किन्तु मान का ही अंश है इसीलिये अभिमानी पुरुषों में ही क्रोध का उदय देखा जाता है एवं क्षपक श्रेणी में क्रोध का अलग क्षपण करना भी नहीं माना जाता है तथा क्रोध आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि वह सिद्ध पुरुषों में नहीं है एवं वह कर्म का भी धर्म नहीं है क्योंकि कर्म का धर्म होने पर दूसरे कषायों के उदय के साथ इसका भी उदय होना चाहिये और घट के समान मूर्त्त है इसलिये कर्मस्वरूप क्रोध की भी स्वतंत्र आकार में उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु ये सब नहीं होते हैं अतः क्रोध न तो आत्मा का धर्म है और न कर्म का ही धर्म है । आत्मा और कर्म का धर्म न होकर क्रोध यदि दूसरे किसी पदार्थ का धर्म हो तब तो उससे आत्मा की कोई हानि नहीं है अतः क्रोध कोई पदार्थ नहीं है यह कोई कहते हैं परन्तु इनका यह मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि-कषाय कर्म के उदय होने पर मनुष्य अपने दांतों के द्वारा अपने ओठों को काटने लगता है और भ्रुकुटि को टेढ़ी करके भयंकर मुख बना लेता है उसका मुख रक्तवर्ण हो जाता है और उसमें से पसीने के बिन्दु टपकने लगते हैं यह क्रोध का प्रत्यक्ष लक्षण देखा जाता है अतः क्रोध को न मानना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है । वह क्रोध मान का अंश नहीं है क्योंकि वह मान का कार्य्य नहीं करता है एवं वह दूसरे कारण से उत्पन्न होता है। वह क्रोध जीव और कर्म दोनों का ही धर्म है किसी एक का नहीं है इसलिये एक का धर्म मान कर जो दोष बताये हैं वे ठीक नहीं है। इस प्रकार क्रोध की सत्ता स्पष्ट सिद्ध होने पर भी उसे नहीं मानना अज्ञान का फल है तथा मान भी प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है इसलिये उसे भी न मानना भूल है किन्तु दोनों को मानना ही विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है ।

अपने धन, स्त्री, पुत्र, आदि पदार्थों में जो मनुष्य की प्रीति रहती है उसे राग या प्रेम कहते हैं उसके दो अवयव हैं एक माया और दूसरा लोभ तथा अपने इष्ट वस्तु के ऊपर आघात पहुँचाने वाले पुरुष के प्रति जो चित्त में अप्रीति उत्पन्न होती है उसको द्वेष कहते हैं। इसके भी दो अवयव हैं एक क्रोध और दूसरा मान । इस प्रकार माया और लोभ इन दोनों के समुदाय को राग कहते हैं और क्रोध और मान के समुदाय को द्वेष कहते हैं । इस विषय में किसी का सिद्धान्त है कि-माया और लोभ तो अवश्य है परन्तु इनका समुदाय जो राग है वह कोई वस्तु नहीं है तथा मान और क्रोध भी अवश्य है परन्तु इनका समुदाय रूप जो द्वेष है वह कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि-समुदाय अवयवों से अलग कोई पदार्थ नहीं है। यदि अलग माना जाय तो घटपटादि की तरह अवयवों से अलग उसकी उपलब्धि भी होनी चाहिये परन्तु उपलब्धि होती नहीं है इसलिये समुदाय या अवयवी कोई वस्तु नहीं है अतः राग (प्रीति) और द्वेष कोई पदार्थ नहीं है यह कोई कहते हैं। वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है क्योंकि अवयवी या समुदाय अवयवों से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है, उसको नहीं मानने से घटपटादि पदार्थों में जो एकत्व का व्यवहार होता है वह किसी तरह भी नहीं हो सकता हैं क्योंकि अवयव अनेक हैं एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हैं अतः विवेकी पुरुष को राग और द्वेष तथा क्रोध और मान एवं माया और लोभ का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिये यह इन गाथाओं का आशय है ।। २०-२१-२२ ॥

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सण्णं णिवेसए ।। २३ ॥

भावार्थ - चार गति वाला संसार नहीं है ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये किन्तु चार गति वाला संसार है यही विचार रखना चाहिये ।

णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। २४ ॥

भावार्थ - देवता और देवी नहीं हैं ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये किन्तु देवता और देवी हैं यही बात सत्य माननी चाहिये ।

विवेचन - यह संसार चार गति वाला है इसलिये नरक गति, तिर्य्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतियां इसकी मानी गई हैं। परन्तु कोई कहते हैं कि-इस जगत् की एक ही गति है। यह जगत् कर्मबन्धन रूप है तथा सब जीवों को एक मात्र दुःख देने वाला है इसलिये यह एक ही प्रकार का है तथा कोई कहते हैं कि-इस जगत् में मनुष्य और तिर्य्यञ्च दो ही पाये जाते हैं देवता और नारकी नहीं पाये जाते हैं इसलिये इस संसार की दो ही गति है और इन दो गतियों में ही सुख दुःख की उत्कृष्टता पाई जाती है अतः संसार की दो ही गति माननी चाहिये चार नहीं । यदि पर्य्याय नय का आश्रय लेवें तो भी यह संसार अनेक विध है चतुर्विध नहीं है इस संसार को चतुर्विध मानना भूल है यह किसी का मत है इस मत को निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि-संसार चार गति वाला नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि तिर्य्यञ्च और मनुष्य तो प्रत्यक्ष हैं और देवता तथा नारकी भी अनुमान से सिद्ध होते हैं इसलिये संसार चार गति वाला है यही बात माननी चाहिये। वह अनुमान यह है-इस जगत् में पाप और पुण्य का मध्यम फल भोगने वाले तिर्य्यञ्च और मनुष्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि-पाप और पुण्य के उत्कृष्ट फल भोगने वाले भी कोई अवश्य हैं। जो पाप के उत्कृष्ट फल भोगने वाले हैं वे नारकी हैं और जो पुण्य के उत्कृष्ट फल भोगने वाले हैं वे देवता हैं तथा प्रत्यक्ष ही ज्योतिर्गण देखे जाते हैं और उनके विमानों की भी उपलब्धि होती है इससे स्पष्ट है कि उन विमानों का कोई अधिष्ठाता भी अवश्य है तथा ग्रह के द्वारा पीड़ित किया जाना और वरदान आदि प्राप्त करना भी देवताओं के अस्तित्व में प्रमाण है अतः देवता और नारकी को न मान कर तिर्य्यञ्च और मनुष्य रूप दो ही गति मानना अयुक्त है। एवं पर्याय नय के आश्रय से जगत् को अनेक प्रकार का मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि-नरक की सात भूमियों में रहने वाले नारकी जीव सबके सब एक ही नरक गति वाले हैं एवं तिर्य्यञ्च और पृथिवी आदि स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय प्राणी जो ६२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाख योनि वाले हैं वे सभी एक ही प्रकार के हैं क्योंकि उनका सामान्य धर्म तिर्य्यञ्चपना एक ही है तथा कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपक और संमूर्च्छनज रूप भेदों को छोड़ देने से समस्त मनुष्य भी एक ही प्रकार के हैं एवं भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक भेद से भिन्न भिन्न होते हुए भी देवता केवल देवरूप से ही ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वे भी एक हैं इस प्रकार सामान्य और विशेष का आश्रय लेकर जो जगत् को चार प्रकार का कहा गया है उसे ही सत्य मानना चाहिये तथा संसार विचित्र है इसलिये वह एक प्रकार का नहीं है और नारकी आदि समस्त जीव अपनी अपनी जाति का उल्लंघन नहीं करते हैं इसलिये संसार अनेक प्रकार का भी नहीं है। संसार है इसलिये मुक्ति भी है क्योंकि समस्त पदार्थों का प्रतिपक्ष अवश्य होता है ।। २३-२४ ॥

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि सिद्धि असिद्धी वा,एवं सण्णं णिवेसए।। २५॥

भावार्थ - सिद्धि और असिद्धि नहीं है, यह विचार नहीं रखना चाहिये किन्तु सिद्धि और असिद्धि हैं यही विचार करना चाहिये ।

णत्थि सिद्धि णियं ठाणं, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि सिद्धि णियं ठाणं, एवं सण्णं णिवेसए।। २६॥

कठिन शब्दार्थ - **णियं** - निज-अपना, **ठाणं** - स्थान।

भावार्थ - सिद्धि जीव का अपना स्थान नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु सिद्धि जीव का निज स्थान है यही सिद्धान्त मानना चाहिये ।

विवेचन - समस्त कर्मों का क्षय हो जाना सिद्धि है और इससे विपरीत असिद्धि है। वह असिद्धि संसाररूप है और उसका अस्तित्व पूर्व गाथा में सिद्ध किया है। वह असिद्धि सत्य है इसलिये उससे विपरीत सिद्धि भी सत्य है क्योंकि सभी पदार्थों का प्रतिपक्ष अवश्य होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र, मोक्ष के मार्ग कहे गये हैं इसलिये इनके आराधन करने से समस्त कर्मों का क्षय होकर जीव को सिद्धि की प्राप्ति होती है । पीड़ा और उपशम के द्वारा कर्मों का देश से क्षय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है इससे सिद्ध होता है कि-समस्त कर्मों का क्षय भी किसी जीव का अवश्य होता है। अतएव विद्वानों ने कहा है कि-

"दोषावरणयोर्हानि, निंशेषाऽस्त्यतिशायिनी।
क्वचद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥"

अर्थात् मल के नाश करने वाले कारणों के संयोग से जैसे मनुष्य के बाहर भीतर दोनों ही तरफ के मलों का अत्यन्त क्षय हो जाता है इसी तरह किसी पुरुष के दोष और आवरणों का भी अत्यन्त क्षय होता है वह ऐसा पुरुष समस्त कर्मों के क्षय होने से सिद्धि को प्राप्त करता है और उसी को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वविषयक ज्ञान होकर सर्वज्ञता प्राप्त होती है। कोई कोई सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते हैं वे कहते हैं कि- मनुष्य सब से अधिक ज्ञाता हो सकता है परन्तु सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। जो मनुष्य दस हाथ ऊंचा आकाश में कूद सकता है वह अभ्यास करते करते इससे अधिक कूद सकता है परन्तु दस बीस योजन तक वह लाख अभ्यास करने पर भी नहीं कूद सकता है इसी तरह शास्त्र आदि के अभ्यास करने से मनुष्य महान् बुद्धिमान् हो सकता है लेकिन वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

परन्तु बुद्धिमानों को यह नहीं मानना चाहिये क्योंकि शास्त्र आदि के अभ्यास करने से बुद्धि की वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जाती है इससे सिद्ध होता है कि-बुद्धि की वृद्धि यदि इसी प्रकार होती चली जाय और उसमें किसी प्रकार का अन्तराय न पड़े तो वह निरन्तर बढ़ती हुई अवश्य अपनी अन्तिम मर्यादा तक पहुँच सकती है वह मर्यादा सर्वज्ञता ही है क्योंकि इससे पहले बुद्धि की वृद्धि की समाप्ति नहीं है। पूर्वपक्षी ने सर्वज्ञता के विरोध में जो कूदने वाले पुरुष का दृष्टान्त दिया है वह ठीक नहीं है क्योंकि कूदने वाला कूद कर आकाश में जहां तक जाता है उस मर्य्यादा को यदि वह बराबर उल्लंघन करता चला जाय तो वह क्यों नहीं दस बीस योजन तक कूद सकता है ? परन्तु वह उस मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता है इसलिये वह दस बीस योजन तक नहीं कूद सकता है। यदि बुद्धि की वृद्धि करने वाला भी इसी तरह वृद्धि की पूर्व मर्य्यादा का उल्लंघन न करने पावे तो वह भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं है परन्तु जो पूर्व पूर्व मर्य्यादाओं को उल्लंघन करता हुआ आगे आगे चलता जा रहा है उसको सर्वज्ञता प्राप्त न करने में कोई कारण नहीं है। वस्तुतः इस जीव में स्वाभाविक ही सर्वज्ञता स्थित है वह आवरण से ढकी हुई है उस आवरण के सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर सर्वज्ञता को कौन रोक सकता है ? वह अपने आप हो जाती है। वह सर्वज्ञ पुरुष सिद्धि को या मुक्ति को प्राप्त करता है इसलिये सिद्धि या मुक्ति अवश्य है यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिये परन्तु सिद्धि का अभाव नहीं।

कोई कहते हैं कि-यह जगत् अञ्जन से भरी हुई पेटी के समान जीवों से संकुल है इसलिये हिंसा से बच जाना इसमें सम्भव नहीं है कहा है कि-

"जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमालिनि।
जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ।"

अर्थात् जल में जीव है, स्थल में जीव है, आकाश में जीव है इस प्रकार जीवों से परिपूर्ण इस लोक में साधु अहिंसक कैसे हो सकता है ? अतः हिंसा के न रुकने से किसी की भी मुक्ति होना सम्भव नहीं है । परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि-जो साधु जीव हिंसा से बचने के लिये सदा प्रयत्न करता रहता है और समस्त आस्रवद्वारों को रोक कर पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ ४२ दोषों को टाल कर निरवद्य आहार ग्रहण करता है एवं निरन्तर ईर्य्यापथ का परिशोधन करता हुआ अपनी प्रवृत्ति करता है उसका भाव शुद्ध है ऐसे पुरुष के द्वारा यदि कदाचित् द्रव्यतः किसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी की विराधना भी हो जाय तो भावशुद्धि के कारण कर्मबन्ध नहीं होता है क्योंकि-वह साधु सर्वथा दोष रहित है अतः ऐसे पुरुषों को समस्त कर्मों का क्षय होकर सिद्धि की प्राप्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है इसलिये सिद्धि की प्राप्ति को असम्भव मानना मिथ्या है ।

इस प्रकार समस्त कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव जिस स्थान को प्राप्त करता है वह उसका निज स्थान है। वह स्थान एक योजन के एक कोश का छट्ठा भाग है तथा वह चतुर्दश रज्जु स्वरूप इस लोक के अग्र भाग में स्थित है। वह स्थान नहीं है ऐसा विवेकी पुरुष को नहीं मानना चाहिये क्योंकि जिनके समस्त कर्म क्षय हो गये हैं ऐसे पुरुषों का भी कोई स्थान होना ही चाहिये। वे मुक्त पुरुष आकाश की तरह सर्वव्यापक हैं यह नहीं माना जा सकता है क्योंकि-आकाश लोक और अलोक दोनों ही में व्यापक माना जाता है परन्तु मुक्त पुरुष को ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि अलोक में आकाश के सिवाय अन्य वस्तु का रहना सम्भव नहीं है। एवं वह मुक्तात्मा लोकमात्र व्यापक है यह भी नहीं हो सकता है क्योंकि मुक्ति होने से पूर्व उसमें समस्त लोकव्यापकता नहीं पाई जाती है किन्तु नियत देश काल आदि के साथ ही उसका सम्बन्ध पाया जाता है तथा वह नियत सुख दुःख का ही अनुभव करने वाला देखा जाता है। अतः मुक्ति होने के पश्चात् भी उसकी व्यापकता नहीं मानी जा सकती है क्योंकि मुक्ति होने के पश्चात् वह व्यापक हो जाता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है अतः उस मुक्तात्मा का जो निज स्थान है वह लोकाग्र है यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिये । कहा है कि-

"**कर्मविप्रमुक्तस्य ऊर्ध्वगतिः**"

अर्थात् कर्मबन्धन से छूटे हुए जीव की ऊर्ध्वगति होती है वह ऊर्ध्वगति लोकाग्र ही है। जैसे तुम्बा, एरण्ड का फल और धनुष से छूटा हुआ बाण और धूम पूर्व प्रयोग से गति करते हैं इसी तरह सिद्ध पुरुष भी पूर्व प्रयोग से ही गति करते हैं किन्तु उस समय वे कोई क्रिया नहीं करते हैं ।। २५-२६ ।

णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। २७॥

भावार्थ - साधु और असाधु नहीं हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु साधु और असाधु हैं यही बात माननी चाहिये ।

णत्थि कल्लाण पावे वा, णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सण्णं णिवेसए ।। २८॥

भावार्थ - कल्याणवान् तथा पापी नहीं हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु कल्याणवान् और पापी हैं यही बात माननी चाहिये।

विवेचन - किसी का सिद्धान्त है कि-ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप जो तीन रत्न हैं उनका पूर्णरूप से पालन करना सम्भव नहीं है और इनका पूर्णरूप से पालन किये बिना साधु नही होता है इसलिये इस जगत् में कोई साधु नहीं है और साधु नहीं होने से असाधु भी नहीं है क्योंकि ये दोनों ही सम्बन्धी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द है यानी साधु होने पर साधु की अपेक्षा से असाधु होता है और असाधु होने पर उसकी अपेक्षा से साधु होता है इसलिये साधु और असाधु नहीं है यह कई लोग कहते हैं। परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि-जो पुरुष सदा उपयोग रखने वाला राग द्वेष रहित सत्संयमी और शास्त्रोक्त रीति से शुद्ध आहार लेने वाला सम्यग्दृष्टि है वह साधु अवश्य है उसके द्वारा यदि कदाचित् अनेषणीय आहार भी भूल से ले लिया जाय तो वह तीनों उक्त रत्नों का अपूर्ण आराधक नहीं है किन्तु पूर्ण आराधक है क्योंकि उसकी उपयोग बुद्धि शुद्ध है तथा पूर्व गाथा में जिन समस्त कर्मों का क्षय स्वरूप मुक्ति की सिद्धि की गई है वह भी साधु को ही प्राप्त होती है इससे भी साधु के अस्तित्व की सिद्धि होती है और साधु का अस्तित्व अवश्य है इसलिये साधु के प्रतिपक्षी असाधु का भी अस्तित्व है यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिये ।

कोई कहते हैं कि-"यह तो भक्ष्य है और यह अभक्ष्य है तथा यह गम्य है और यह अगम्य है एवं यह अप्रासुक तथा अनेषणीय है और यह प्रासुक तथा एषणीय है, इत्यादि विषम भाव रखना राग द्वेष है इसलिये ऐसा विषम भाव रखने वाले पुरुषों में सामायिक (समता) का अभाव है।" परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि-भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार करना मोक्ष का प्रधान अङ्ग है यह राग द्वेष नहीं है। राग से तो भक्ष्याभक्ष्य का विचार नष्ट हो जाता है चाहे स्वादिष्ट वस्तु कैसी ही हो रागी पुरुष की उसमें ग्रहण बुद्धि हो जाती है इसलिये भक्ष्याभक्ष्य का विवेक राग के अभाव का कार्य्य है राग का नहीं है। वस्तुतः कोई उपकार करे या अपकार करे परन्तु उसके ऊपर समान भाव रखना सामायिक है परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न रखना सामायिक नहीं है । अतः भक्ष्याभक्ष्य के विवेक को राग द्वेष मानना भूल है ।। २७ ॥

बौद्ध कहते हैं कि-"सभी पदार्थ अशुचि और आत्मरहित है इसलिये जगत् में कल्याण नाम का कोई पदार्थ नहीं है और कल्याण नामक पदार्थ न होने से कोई पुरुष कल्याणवान् भी नहीं है" तथा आत्माद्वैतवादी के मत में सभी पदार्थ पुरुषस्वरूप हैं इसलिये पुण्य या पाप कोई वस्तु नहीं है, परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु कल्याण और पाप दोनों ही है यही मानना चाहिये। बौद्धों ने जो समस्त पदार्थों को अशुचि कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ अशुचि होने पर बौद्धों के उपास्य देव भी अशुचि सिद्ध होंगे परन्तु ऐसा वे नहीं मान सकते इसलिये सब पदार्थ अशुचि नहीं है यही मानना चाहिये। एवं सभी पदार्थ को निरात्मक बताना भी ठीक नहीं है क्योंकि-सभी पदार्थ स्वद्रव्य, स्वकाल, स्वक्षेत्र, और स्वभाव की अपेक्षा से सत् और परद्रव्य परकाल परक्षेत्र और परद्रव्य की अपेक्षा से असत् है यही सर्वानुभवसिद्ध निर्दुष्ट सिद्धान्त है निरात्मवाद नहीं हैं।

तथा आत्माद्वैतवाद भी मिथ्या है इसलिये पाप का अभाव भी नहीं है । आत्माद्वैतवाद में जगत् की विचित्रता हो नहीं सकती है यह पहले कई बार कहा जा चुका है अतः एक मात्र पुरुष को ही सब कुछ मान कर पाप आदि को न मानना मिथ्या है । वस्तुतः कथञ्चित् पाप और कथञ्चित् कल्याण दोनों ही है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही मानना चाहिये । चार प्रकार के घनघाती कर्मों का क्षय किये हुए केवली में साता और असाता दोनों का उदय होता है तथा नारकीय जीवों में भी पञ्चेन्द्रियत्व और ज्ञान आदि का सद्भाव है अतः वे भी एकान्त पापी नहीं है अतः कथञ्चित् कल्याण और कथञ्चित् पाप भी अवश्य है यही युक्तियुक्त सिद्धान्त मानना चाहिये ।। २८ ॥

कल्लाणे पावए वावि, ववहारो ण विज्जइ ।
जं वेरं तं ण जाणंति, समणा बालपंडिया ।। २९ ॥

भावार्थ – यह पुरुष एकान्त कल्याणवान् है और यह एकान्त पापी है ऐसा व्यवहार जगत् में नहीं होता है तथापि मूर्ख हो कर भी अपने को पण्डित मानने वाले शाक्य आदि, एकान्त पक्ष के आश्रय से उत्पन्न होने वाला जो कर्मबन्ध है उसे नहीं जानते हैं ।

असेसं अक्खयं वावि, सव्वदुक्खेति वा पुणो ।
वज्झा पाणा ण वज्झत्ति,इति वायं ण णीसरे।३० ॥

भावार्थ – जगत् के समस्त पदार्थ एकान्त नित्य हैं अथवा एकान्त अनित्य हैं ऐसा नहीं कहना चाहिये तथा समस्त जगत् एकान्त रूप से दुःख रूप है यह भी नहीं कहना चाहिये तथा अपराधी प्राणी वध्य है या अवध्य है यह वचन साधु न कहे ।

दीसंति समियायारा, भिक्खूणो साहुजीविणो ।
एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं ण धारए ।। ३१ ॥

भावार्थ – साधुता के साथ जीने वाले साधु देखे जाते हैं, इसलिये–"ये साधु लोग कपट से जीविका करते हैं" ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिये ।

विवेचन – इस जगत् में कोई पुरुष एकान्त रूप से कल्याण का ही भाजन हो और कोई एकान्त रूप से पापी हो, ऐसा नहीं है क्योंकि–कोई भी वस्तु एकान्त नहीं है किन्तु सर्वत्र अनेकान्त का सद्भाव है ऐसी दशा में सभी पदार्थ कथंचित् कल्याणवान् और कथंचित् पापयुक्त हैं यही बात सत्य माननी चाहिये । एकान्त पक्ष के आश्रय लेने से कर्मबन्ध होता है परन्तु इस बात को अज्ञानी अन्यतीर्थी नहीं जानते हैं इसलिये वे अहिंसा धर्म और अनेकान्त पक्ष का आश्रय नहीं लेते हैं ।। २९ ॥

साङ्ख्य मतवाले जगत् के समस्त पदार्थों को एकान्त नित्य कहते हैं परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ प्रतिक्षण अन्यथाभाव को प्राप्त होते रहते हैं। कोई भी वस्तु सदा एक ही अवस्था में नहीं रहती है । काटने पर फिर नवीन उत्पन्न हुए केश और नख में जैसे तुल्यता को लेकर "यह वही केश नख है यह प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) होता है इसी तरह समस्त पदार्थों में तुल्यता को लेकर यह वही वस्तु हैं" यह प्रत्यभिज्ञान होता है इसलिये इस प्रत्यभिज्ञान को देखकर वस्तु में अन्यथाभाव न मानना और उन्हें एकान्त नित्य कहना मिथ्या है । इसी तरह जगत् के समस्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों को बौद्धों की तरह एकान्त क्षणिक भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि-बौद्ध, पूर्व पदार्थ का एकान्त विनाश और उत्तर पदार्थ की निर्हेतुक उत्पत्ति कहते हैं वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है यह पहले कहा जा चुका है । एवं यह समस्त जगत् दुःखात्मक है यह भी विवेकी पुरुष को नहीं कहना चाहिये क्योंकि-सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर जीव को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है यह शास्त्र कहता है । अतएव विद्वानों ने कहा है कि -

"तणसंत्थार णिसण्णोवि मुणिवरो, भट्ठरायमयमोहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि" ।

अर्थात् राग, द्वेष, मोह और मद से रहित मुनि तृण की शय्या पर बैठा हुआ भी जिस अनुपम आनन्द को प्राप्त करता है उसको चक्रवर्ती भी कहां से प्राप्त कर सकता है ? अतः समस्त जगत् एकान्त रूप से दुःखात्मक है यह विद्वान् को नहीं कहना चाहिये । एवं जो प्राणी चोर और पारदारिक आदि महान् अपराधी हैं उनको साधु यह न कहे कि "ये प्राणी वध करने योग्य है अथवा ये वध करने योग्य नहीं है" इसी तरह दूसरे प्राणियों को मारने में सदा तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, और बिडाल आदि प्राणियों को भी देखकर साधु यह न कहे कि-"ये प्राणी वध करने योग्य हैं अथवा ये वध करने योग्य नहीं है" किन्तु साधु समस्त प्राणियों के ऊपर समभाव रखता हुआ मध्यस्थवृत्ति धारण करे । अतएव तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि -

'मैत्रीप्रमोद कारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु'।

अर्थात् - साधु समस्त प्राणियों में मैत्री भाव तथा अधिक गुण वाले पुरुषों पर हर्ष एवं दुःखी पर करुणा और अविनीत प्राणियों पर मध्यस्थता रखे । इसी तरह दूसरे वाक्संयमों के विषय में भी जानना चाहिये ।। ३० ॥

शास्त्रोक्त रीति से आत्मसंयम करने वाले अथवा शास्त्रीय आचार का पालन करने वाले भिक्षामात्रजीवी उत्तम रीति से जीने वाले साधु पुरुष इस जगत् में देखे जाते हैं। वे पुरुष किसी को दुःख नहीं देते हैं किन्तु क्षमाशील, इन्द्रियविजयी, वचन के पक्के, प्रासुक(अचित्त) जल पीने वाले और एक युग(चार हाथ) पर्य्यन्त दृष्टि रख कर चलने वाले हैं । ऐसे पुरुषों को देखकर यह नहीं कहना चाहिये कि - "ये सराग होकर भी वीतराग के समान आचरण करते हैं अतः ये कपटी है" इत्यादि । जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं है वह ऐसा निश्चय करने में समर्थ नहीं हो सकता है कि-"अमुक पुरुष सराग है और अमुक वीतराग है तथा अमुक कपटी है और अमुक सच्चा साधु है इत्यादि"। अतः शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि-वह पुरुष चाहे स्वतीर्थी हो या परतीर्थी हो, उसके विषय में उक्त वाक्य साधु को नहीं कहना चाहिये । अतएव विद्वानों ने कहा है कि-

"यावत् परगुण परदोषकीर्त्तने व्यापृतं मनो भवति।
तावद् वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनःकर्तुम्" ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यह मन जब तक दूसरे के गुण और दोष के विवेचन में प्रवृत्त रहता है तब तक यदि इसे शुद्ध ध्यान में लगाया जाय तो क्या अच्छा हो ? ।। ३१ ॥

दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च बूहए ।। ३२ ॥

भावार्थ - दान की प्राप्ति अमुक से होती है या अमुक से नहीं होती है। यह बुद्धिमान् साधु न कहे किन्तु जिससे मोक्ष मार्ग की वृद्धि होती है ऐसा वचन कहे ।

इच्चेएहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए ।
धारयंते उ अप्पाणं,आमोक्खाए परिवएज्जासि ।।३३॥ ।। त्ति बेमि॥

भावार्थ - इस अध्ययन में कहे हुए इन जिनोक्त स्थानों के द्वारा अपने को संयम में स्थापित करता हुआ साधु मोक्ष के लिये प्रयत्न करे ।

मर्य्यादा में स्थित साधु, "अमुक गृहस्थ के यहां दान की प्राप्ति होती है अथवा नहीं होती है" यह नहीं कहे । अथवा मर्य्यादा में स्थित पुरुष "स्वयूथिक या परतीर्थी को दान देने से लाभ होता है या नहीं होता है" ऐसा एकान्तरूप से न कहे क्योंकि-दान के निषेध करने से अन्तराय होना सम्भव है और दान लेने वाले को दुःख भी उत्पन्न होता है तथा उन्हें दान देने का एकान्त रूप से अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से अधिकरण दोष उत्पन्न होना सम्भव है अतः साधु पूर्वोक्त प्रकार से एकान्त वचन न कहे किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की जिस तरह उन्नति हो वैसा वचन कहे । आशय यह है कि कोई पुरुष साधु से दान देने के सम्बन्ध में प्रश्न करे तो साधु, दान का विधि निषेध न करता हुआ निरवद्य भाषा ही बोले। इस प्रकार इस अध्ययन में कहे हुए वाक् संयम को भलीभांति पालन करता हुआ साधु मोक्षपर्य्यन्त संयम का अनुष्ठान करे ।

पांचवें अध्ययन का सारे का निष्कर्ष इस प्रकार है -

जिनशासन में अनेकान्तवाद है। कोई भी वस्तु एकान्त नहीं है। सभी पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है और नित्यानित्यात्मक है। इसलिये अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत और भाषा समिति का निरतिचार पालन हो इस बात का उपदेश इस अध्ययन में दिया गया है। एकान्त भाषा बोलने से मुनि के अहिंसा व्रत और सत्य व्रत में अतिचार लगता है। अतः एकान्त पक्ष का वर्जन करते हुए मुनि को बड़ी सावधानी पूर्वक भाषा बोलनी चाहिये।

त्तिबेमि - इति ब्रवीमि - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

।। पाँचवाँ अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन

उत्थानिका - आर्द्रकपुर नगर में आर्द्रक नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम आर्द्रकवती था। इसलिये उनके पुत्र का नाम आर्द्रककुमार था। वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन में स्वयं दीक्षित हुआ था। उससे सम्बन्धित होने के कारण इस अध्ययन का नाम "आर्द्रकीय" रखा गया है।

आर्द्रक कुमार का जन्म अनार्य देशवर्ती आर्द्रकपुर में हुआ था। उसने मुनि दीक्षा कैसे ली और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के धर्म का गाढ़ परिचय उसे कैसे हुआ इसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है -

आर्द्रकपुर नरेश और मगध नरेश श्रेणिक के बीच स्नेह सम्बन्ध था। इसी कारण श्रेणिकपुत्र अभयकुमार से आर्द्रकुमार का परोक्ष परिचय हुआ। आर्द्रक कुमार को अभयकुमार ने भव्य और शीघ्र मोक्ष गामी समझ कर आत्म साधनोपयोगी धर्मोपकरण उपहार में भेजे। उन्हें देखते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। जिससे उसने अपना पूर्व भव देखा कि मेरे जीव ने पूर्व भव में संयम का पालन किया है इस कारण अब उसका मन कामभोगों से विरक्त हो गया। अपने अनार्य देश से निकल कर आर्य देश भारत में पहुँचा। वह स्वयं दीक्षित होने लगा तब आकाश में देववाणी हुई कि अभी तुम्हारे संयम लेने का समय नहीं आया है। अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी है। इस प्रकार वाणी को सुनकर भी वैराग्य की तीव्रता के कारण उसने स्वयंमेव दीक्षा अंगीकार कर ली। किन्तु दिव्यवाणी के अनुसार भोगावली कर्मवश दीक्षा छोड़कर उसे पुनः गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट होना पड़ा। भोगावली कर्मों की अवधि पूर्ण होते ही पुनः दीक्षा अंगीकार कर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पहुँचने के लिये प्रस्थान किया। पूर्व जन्म का स्मरण होने से आर्द्रकुमार मुनि को जैन धर्म का बहुत गहन और गाढ़ा बोध हो गया था।

मार्ग में आते हुए आर्द्रकमुनि की चर्चा किन-किन के साथ हुई, क्या-क्या चर्चाएँ हुई यह इस अध्ययन के **'पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह'** पाठ से प्रारम्भ होने वाले वाक्य से परिलक्षित होती है। इस वाक्य में उल्लिखित 'अद्द' इस सम्बोधन से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वादविवाद का सम्बन्ध आर्द्रकमुनि के साथ है। इस अध्ययन में आर्द्रक के साथ पांच मतवादियों के वादविवाद का वर्णन है - १. गोशालक २. बौद्ध भिक्षु ३. वेदवादी ब्राह्मण ४. सांख्यमतवादी एक दण्डी और ५. हस्तीतापस। आर्द्रक मुनि ने सबको युक्ति, प्रमाण एवं निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिया है, जो बहुत ही रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

पांचवें अध्ययन में कहा गया है कि उत्तम पुरुष को अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करना चाहिए। इसलिये इस छठे अध्ययन में अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करने वाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आर्द्रकमुनि का उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि अनाचार का त्याग और आचार का सेवन मनुष्य के द्वारा किया जा सकता है। यह असंभव नहीं किन्तु संभव है। वह साधक चाहे आर्य देश में उत्पन्न हुआ हो अथवा अनार्य देश में भी क्यों न उत्पन्न हुआ हो।

पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, मेगंतयारी समणे पुरासी।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतिण्हं पुढो वित्थरेणं ।। १ ।।

कठिन शब्दार्थ - **पुराकडं** - पूर्वकृत, **एगंतयारी** - अकेले विचरने वाले, **उवणेत्ता** - अनेक मुनियों का नेता, **वित्थरेणं** - विस्तार से, **आइक्खति** - उपदेश करता है।

भावार्थ - गोशालक कहता है कि - हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी का यह पहला वृत्तान्त सुनो। महावीर स्वामी पहले अकेले विचरने वाले तथा तपस्वी थे। परन्तु इस समय वे अनेक भिक्षुओं को अपने साथ रखकर अलग-अलग विस्तार के साथ धर्म का उपदेश करते हैं।

साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं, सभागओ गणो भिक्खुमज्झे।
आइक्खमाणो बहुजणणमत्थं, ण संधयाइ अवरेण पुव्वं ।। २।।
एगंतमेवं अदुवा वि इण्हिं, दोऽवण्णमण्णं ण समेइ जम्हा ।

कठिन शब्दार्थ - **आजीविया** - आजीविका, **पट्ठविया**-स्थापित की है, **अथिरेणं** - अस्थिर चित्त वाले, **संधयाइ** - मिलता है ।

भावार्थ - उस चञ्चल चित्त वाले महावीर स्वामी ने यह जीविका स्थापित की है। वे जो सभा में जाकर अनेक भिक्षुओं के मध्य में बहुत लोगों के हित के लिये धर्म का उपदेश करते हैं यह इनका इस समय का व्यवहार इनके पहले व्यवहार से बिलकुल नहीं मिलता है।

इस प्रकार या तो महावीर स्वामी का पहला व्यवहार एकान्त वास ही अच्छा हो सकता है अथवा इस समय का अनेक लोगों के साथ रहना ही अच्छा हो सकता है ? परन्तु दोनों अच्छे नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है मेल नहीं है।

विवेचन - प्रत्येकबुद्ध राजकुमार आर्द्रक जब भगवान् महावीर स्वामी के निकट जा रहे थे उस समय गोशालक उनकी इस इच्छा को बदलने के लिये उनके पास आया और कहने लगा कि हे आर्द्रक! पहले मेरी बात सुन लो पीछे जो इच्छा हो वह करना। मैं तुम्हारे महावीर स्वामी का पहला वृत्तान्त बताता हूँ उसे सुनो । यह महावीर स्वामी पहले जनरहित एकान्त स्थान में विचरते हुए कठिन तपस्या करने में प्रवृत्त रहते थे परन्तु इस समय वे तपस्या के क्लेश से पीड़ित होकर उसे त्याग कर देवता आदि प्राणियों से भरी सभा में जाकर धर्म का उपदेश करते हैं । उन्हें अब एकान्त अच्छा नहीं लगता है अतः वे अब अनेक शिष्यों को अपने साथ रखते हुए तुम्हारे जैसे भोले जीवों को मोहित करने के लिये विस्तार के साथ धर्म की व्याख्या करते हैं । अपने पहले आचरण को छोड़कर महावीर स्वामी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने जो यह दूसरा आचरण स्वीकार किया है निश्चय यह एक प्रकार की जीविका उन्होंने स्थापित की है क्योंकि अकेले विचरने वाले मनुष्य का लोग तिरस्कार किया करते हैं अतः जनसमूह का महान् आडम्बर रचकर वे अब विचरते हैं । कहा है कि -

"छत्रं, छात्रं, पात्रं, वस्त्रं यष्टिञ्च चर्चयति भिक्षुः ।
वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि" ।

अर्थात् भिक्षु जो अपने पास छत्र, छात्र, पात्र, वस्त्र और दण्ड रखता है सो अपनी जीविका का साधन करने के लिये ही रखता है क्योंकि वेष और आडम्बर के बिना जगत् में भिक्षा भी नहीं मिलती है। इसलिये महावीर स्वामी ने भी जीविका के लिये ही इस मार्ग को स्वीकार किया है। महावीर स्वामी स्थिर चित्त नहीं किन्तु चञ्चल स्वभाववाले हैं। वे पहले किसी शून्य वाटिका अथवा किसी एकान्त स्थान में रहते हुए अन्त प्रान्त आहार से अपना निर्वाह करते थे परन्तु अब वे सोचते हैं कि रेती के कवल (ग्रास) के समान स्वादवर्जित यह कार्य्य जीवन भर करना ठीक नहीं हैं इसलिये वे अब महान् आडम्बर के साथ विचरते हैं। हे आर्द्रक ! इनके पहले आचार के साथ आजकल के आचार का मेल नहीं है किन्तु धूप और छाया के समान एकान्त विरोध है क्योंकि-कहां तो अकेले विचरना और कहां महान् जनसमुदाय के साथ फिरना ? यदि इस प्रकार आडम्बर के साथ विचरना ही धर्म का अङ्ग है तो पहले महावीर स्वामी अकेले क्यों विचरते थे ? और यदि अकेले विचरना ही अच्छा है तो इस समय जो वे इतने जनसमुदाय में जाकर धर्मोपदेश करते हैं यह क्यों ? वस्तुतः ये चञ्चल हैं और इनकी चर्य्या समान नहीं है किन्तु बदलती रहती है, इस कारण ये दाम्भिक है धार्मिक नहीं है इसलिये इनके पास तुम्हारा जाना ठीक नहीं है। इस प्रकार गोशालक के द्वारा कहे हुए आर्द्रकमुनि गोशालक को आधी गाथा के द्वारा उत्तर देते हैं ।

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं वा, एगंतमेवं पडिसंधयाइ ।। ३ ॥

भावार्थ - पहले अब तथा भविष्य में सदा सर्वदा भगवान् महावीर स्वामी एकान्तता का ही अनुभव करते हैं।। ३ ॥

विवेचन - गोशालक के आक्षेप का समाधान करते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं कि-भगवान् महावीर स्वामी पहले अब और भविष्य में सदा एकान्त का ही अनुभव करते हैं इसलिये उन्हें चञ्चल कहना तथा उनकी पहली चर्य्या के साथ आधुनिक चर्य्या की भिन्नता बताना तुम्हारा अज्ञान है। यद्यपि इस समय भगवान् महान् जनसमूह में जाकर धर्म का उपदेश करते हैं तथापि उनका किसी के साथ न तो राग है और न द्वेष है किन्तु सब के प्रति उनका भाव समान है। इसलिये महान् जनसमूह में स्थित होने पर भी वे पहले के समान एकान्त का ही अनुभव करते हैं अतः उनकी पूर्व अवस्था और आधुनिक अवस्था में वस्तुतः कोई फर्क नहीं है तथा पहले भगवान् महावीर स्वामी अपने चार घाती कर्मों का क्षय करने के लिये मौन रहते थे और एकान्त का सेवन करते थे परन्तु अब, उन कर्मों का क्षय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करके शेष चार अघाती कर्मों का क्षपण करने के लिये एवं उच्च गोत्र, शुभ आयु और शुभ नाम आदि प्रकृतियों का क्षय करने के लिये बारह प्रकार की परिषद् में वे धर्म का उपदेश करते हैं। अतः उनको चञ्चल चित्त बताना अज्ञान है यह गोशालक से आद्रकमुनि ने कहा ।

समिच्च लोगं तसथावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणोवि सहस्समज्झे, एगंतयं सारयइ तहच्चे।। ४॥

कठिन शब्दार्थ - खेमंकरे - क्षेमंकर-कल्याण करने वाले, **सहस्समज्झे** - हजारों के मध्य में, **एगंतयं** - एकान्त का ही ।

भावार्थ - बारह प्रकार की तपस्या से अपने शरीर को तपाये हुए तथा "प्राणियों को मत मारो" ऐसा कहने वाले भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत् को जानकर त्रस और स्थावर प्राणियों के कल्याण के लिये हजारों जीवों के मध्य में धर्म का कथन करते हुए भी एकान्त का ही अनुभव करते हैं क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति उसी तरह की बनी रहती है॥ ४ ॥

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स ।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥ ५।

कठिन शब्दार्थ - विवज्जगस्स - वर्जित करने वाले के, **णिसेवगस्स** - सेवन करने वाले के।

भावार्थ - धर्म का उपदेश करते हुए भगवान् को दोष नहीं होता क्योंकि - भगवान् समस्त परीषहों को सहन करने वाले, मन को वश में किये हुए और इन्द्रियों के विजयी हैं। अतः भाषा के दोषों को वर्जित करने वाले भगवान् के द्वारा भाषा का सेवन किया जाना गुण ही है दोष नहीं है ॥५ ॥

महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासवसंवरे य।
विरइं इहस्सामणियंमि पण्णे, लवावसक्की समणे त्ति वेमि ।। ६॥

कठिन शब्दार्थ - विरइं - विरति को, **सामणियंमि** - साधुपने में, **लवावसक्की** - कर्म से दूर रहने वाले।

भावार्थ - कर्म से दूर रहने वाले तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी श्रमणों के लिये पांच महाव्रत और श्रावकों के लिये पांच अणुव्रत तथा पांच आस्रव और संवर का उपदेश करते हैं एवं पूर्ण साधुपने में वे विरति की शिक्षा देते हैं यह मैं कहता हूँ॥ ६ ॥

विवेचन - भगवान् महावीर स्वामी की पहली चर्य्या दूसरी थी और अब दूसरी है क्योंकि वे पहले अकेले रहते थे और अब वे अनेक मनुष्यों के साथ रहते हैं अतः वे दाम्भिक हैं सच्चे साधु नहीं है यह जो गोशालक ने आक्षेप किया है इसका समाधान देते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं कि- भगवान् महावीर स्वामी सच्चे साधु हैं, दाम्भिक नहीं है। पहले उनको केवलज्ञान प्राप्त नहीं था इसलिये वे उसकी प्राप्ति के लिये मौन रहते थे और एकान्तवास करते थे। उस समय उनके लिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही उचित था क्योंकि उस समय उनको सर्वज्ञता प्राप्त न होने से धर्मोपदेश करना ठीक नहीं था क्योंकि वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक जानकर ही धर्मोपदेश देना उचित है, अन्यथा नहीं। परन्तु अब भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है और उसके प्रभाव से उन्होंने समस्त चराचर जगत् को अच्छी तरह जान लिया है। प्राणियों के अधःपतन का मार्ग क्या है और उनके कल्याण का साधन क्या है, यह भगवान् ने केवलज्ञान द्वारा जान लिया है और भगवान् दयालु है इसलिये जिस तरह प्राणियों का हित हो वैसा उपदेश करना भगवान् का कर्त्तव्य है अतः अब वे जगत् की भलाई के लिये धर्मोपदेश करते हैं । भगवान् धर्मोपदेश देकर किसी तरह का स्वार्थ साधन करना नहीं चाहते क्योंकि-उनका अब कोई स्वार्थ शेष नहीं है। जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है तभी तक जीव अपूर्णकाम और स्वार्थ साधन के प्रपञ्च में लगा रहता है परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर उसका किसी भी प्राणी के अधीन स्वार्थ शेष नहीं रहता है अतः भगवान् के ऊपर स्वार्थ का आरोप करना भी मिथ्या है। स्वार्थ के लिये जो अपनी अवस्थाओं का परिवर्तन करता है वही दाम्भिक है परन्तु स्वार्थ रहित पुरुष लोकोपकार के लिये जो उत्तम अनुष्ठान करता है वह दम्भ नहीं है। भगवान् महावीर स्वामी स्वार्थ रहित, ममता रहित और राग द्वेष रहित हैं। वे केवल प्राणियों के कल्याण के लिये धर्म का उपदेश करते हैं इसलिये वे महात्मा महापुरुष और परम दयालु हैं, दाम्भिक नहीं है। जिस पुरुष को भाषा के दोषों का ज्ञान नहीं है उसका भाषण भी दोष का कारण होता है अतः धर्मोपदेश करने वाले को भाषा के दोषों का ज्ञान और उनका त्याग आवश्यक है। जो पुरुष भाषा के दोषों को जानकर उनका त्याग करता हुआ भाषण करता है उसका भाषण करना दोष जनक नहीं होता किन्तु धर्म की वृद्धि आदि अनेक गुणों का कारण होता है इसलिये भगवान् महावीर स्वामी का धर्मोपदेश के लिये भाषण करना गुण है, दोष नहीं है क्योंकि वे भाषा के दोषों को त्यागकर भाषण करने वाले और प्राणियों को पवित्र मार्ग का प्रदर्शन कराने वाले हैं। धर्मोपदेश करते समय यद्यपि भगवान् को अनेक प्राणियों के मध्य में स्थित होना पड़ता है तथापि इससे उनकी कोई क्षति नहीं होती है। वे पहले जिस तरह एकान्त का अनुभव करते थे उसी तरह इस समय भी एकान्त का ही अनुभव करते हैं क्योंकि उनके हृदय में किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं है इसलिये हजारों प्राणियों के मध्य में रहते हुए भी वे भाव से अकेले ही हैं। लोगों के मध्य में रहने से भगवान् के शुद्ध भाव में कोई अन्तर नहीं होता जैसे एकान्त स्थान में उनके शुक्ल ध्यान की स्थिति रहती है उसी तरह हजारों मनुष्यों के मध्य में भी वह अविचल बना रहता है। ध्यान में अन्तर होने के कारण राग द्वेष हैं इसलिये रागद्वेष रहित पुरुष के ध्यान में अन्तर होने का कोई कारण नहीं है। किसी विद्वान् ने कहा है कि-

"राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि ।
अथ नो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यदि तुमने रागद्वेष जीत लिये हैं तो जङ्गल में जा कर क्या करोगे ? और यदि राग द्वेष को जीता नहीं है तो भी जङ्गल में जा कर क्या करोगे ? आशय यह है कि-राग द्वेष ही मनुष्य के ध्यान में अन्तर के कारण हैं वे जिसमें नहीं है वह महात्मा चाहे अकेला रहे या हजारों मनुष्यों से घिरा हुआ रहे उसकी स्थिति में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता है। अतः लोगों के मध्य में रहना भगवान् के लिये कोई दोष की बात नहीं है ।

जो पुरुष समस्त सावद्य कर्मों के त्यागी साधु हैं उनको मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवान् पांच महाव्रतों के पालन का उपदेश करते हैं और जो देश (अंश रूप) से सावद्य कर्मों का त्याग करने वाले श्रावक हैं उनके लिये भगवान् पाँच अणुव्रतों का उपदेश करते हैं। भगवान् पाँच आस्रवों का और सत्तरह प्रकार के संयम का भी उपदेश करते हैं। संवरयुक्त पुरुष को विरति प्राप्त होती है इसलिये भगवान् विरति का भी उपदेश देते हैं। विरति से निर्जरा और निर्जरा से मोक्ष होता है इसलिये भगवान् निर्जरा और मोक्ष का भी उपदेश देते हैं। भगवान् कर्मों से दूर रहने वाले परम तपस्वी हैं अतः उनके ऊपर पाप कर्म करने का आरोप करना मिथ्या है ।। ४-५-६ ॥

गोशालक का कथन -

सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेइ पावं ।।७।

कठिन शब्दार्थ - सीओदगं - कच्चा पानी, **बीयकायं** - बीजकाय, **आहायकम्मं** - आधाकर्म का।

भावार्थ - कच्चा जल, बीजकाय, आधाकर्म तथा स्त्रियों का भले ही वह सेवन करता हो परन्तु जो अकेला विचरने वाला पुरुष है उसको हमारे धर्म में पाप नहीं लगता है ॥ ७ ॥

गोशालक के उपरोक्त कथन का उत्तर -

सीओदगं वा तह बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ।। ८ ॥

भावार्थ - कच्चा जल, बीजकाय, आधाकर्म और स्त्रियाँ इनको सेवन करने वाले गृहस्थ हैं, श्रमण नहीं है ॥ ८ ॥

सिया य बीओदगइत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंतु ।
अगारिणोऽवि समणा भवंतु, सेवंति उ तेऽवि तहप्पगारं ।। ९ ॥

भावार्थ- यदि बीजकाय, कच्चा जल, आधाकर्म एवं स्त्रियों को सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हों तो गृहस्थ भी श्रमण क्यों न माने जावेंगे ? क्योंकि वे भी पूर्वोक्त विषयों का सेवन करते हैं ॥ ९ ॥

जे यावि बीओदगभोइ भिक्खू, भिक्खं विहं जायइ जीवियट्ठी ।
ते णाइसंजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंतकरा भवंति ।। १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **जीवियट्ठी** - जीवन रक्षा के लिये, **णाइसंजोगं** - जाति वालों के संयोग-संसर्ग को, **कायोवगा** - कायोपग-काया अर्थात् शरीर का पोषण करने वाले, **अवि** - अपि-भी, **प्पहाय** - छोड़ कर, **ण** - नहीं, **अंतकरा** - कर्मों का नाश करने वाले।

भावार्थ - जो पुरुष भिक्षु होकर भी सचित्त बीजकाय, कच्चा जल और आधाकर्म तथा स्त्री आदि का सेवन करते हैं और जीवन रक्षा के लिये भिक्षावृत्ति करते हैं। वे अपने ज्ञातिसंसर्ग को छोड़कर भी अपने शरीर के ही पोषक हैं। वे कर्मों का नाश करने वाले नहीं हैं॥ १० ॥

विवेचन - गोशालक अपने धर्म का तत्त्व समझाने के लिये आर्द्रकुमार से कहता है कि-हे आर्द्रकुमार ! तुमने अपने धर्म की बात तो कही अब मेरे धर्म के नियमों को सुनो । मेरे धर्म का सिद्धांत यह है कि जो पुरुष अकेला विचरने वाला और तपस्वी है वह चाहे कच्चा जल, बीजकाय, आधाकर्म और स्त्रियों का सेवन भले ही करे परन्तु उसको किसी प्रकार का पाप नहीं होता है ।।७॥

गोशालक के इस सिद्धांत का खण्डन करते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं कि हे गोशालक ! तुम्हारा यह सिद्धांत ठीक नहीं है क्योंकि बीजकाय, कच्चा जल, आधाकर्म और स्त्रियों का सेवन तो गृहस्थगण भी करते हैं परन्तु वे श्रमण नहीं है क्योंकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह इन पांच वस्तुओं का सेवन करना श्रमण पुरुष का लक्षण है। बीजकाय और स्त्री आदि का सेवन करना नहीं, इनके सेवन से तो श्रमणपने से ही जीव पतित हो जाता है अतः तुम्हारा सिद्धान्त अयुक्त है। यदि अकेले रहने मात्र से किसी प्रकार का दोष न लगे और वह साधु माना जाय तो परदेश आदि जाते समय अथवा बहुत से ऐसे अवसरों में गृहस्थ भी अकेले रहते हैं और धन न मिलने पर वे भी क्षुधा (भूख) और पिपासा (प्यास) के कष्टों को सहन करते हैं तथापि वे गृहस्थ ही माने जाते हैं श्रमण नहीं माने जाते। अतः जो पुरुष अपने परिवार आदि के संसर्ग को छोड़ कर प्रव्रज्या लेकर भिक्षु हो गया है वह यदि कच्चा जल, बीजकाय और आधा कर्म तथा स्त्री का सेवन करे तो उसे दाम्भिक समझना चाहिये। वह जीविका के लिये भिक्षावृत्ति को अङ्गीकार करता है, कर्मों का अन्त (क्षय) करने के लिये नहीं। अतः जो पुरुष छह काय के जीवों का आरम्भ करते हैं वे चाहे द्रव्य से ब्रह्मचारी भी हों परन्तु वे संसार को पार करने में समर्थ साधु नहीं है अतः तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है ।।८-९-१०॥

इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सव्व एव ।
पावाइणो पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठिं करेंति पाउ ।। ११॥

कठिन शब्दार्थ - **पाउकुव्वं** - प्रकट करते हुए, **पावाइणो**- प्रावादुक (वादी), **गरिहसि** - निन्दा करते हो, **दिट्ठिं** - दृष्टि-दर्शन को ।

भावार्थ - गोशालक कहता है कि हे आर्द्रकुमार ! तुम इस वचन को कहते हुए सम्पूर्ण प्रावादुकों (अन्य मतावलम्बियों) की निन्दा करते हो, प्रावादुक गण अलग-अलग अपने सिद्धान्तों को बताते हुए अपने दर्शन को श्रेष्ठ कहते हैं॥ ११ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ते अण्णमण्णस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य ।
सओ य अत्थि असओ य णत्थि, गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि ।। १२॥

भावार्थ - आर्द्रकमुनि कहते हैं कि - वे श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने दर्शन की प्रशंसा करते हैं वे अपने दर्शन में कही हुई क्रिया के अनुष्ठान से पुण्य होना और परदर्शनोक्त क्रिया के अनुष्ठान से पुण्य न होना बतलाते हैं अतः मैं उनकी इस एकान्त दृष्टि का खण्डन करता हूँ और कुछ नहीं॥ १२ ॥

ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं ।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ।। १३॥

कठिन शब्दार्थ-सदिट्ठिमग्गं - अपने दर्शन के मार्ग का, **सप्पुरिसेहिं**-सत्पुरुषों द्वारा, **अंजू**-सरल।

भावार्थ - हम किसी के रूप और वेष आदि की निन्दा नहीं करते हैं। किन्तु अपने दर्शन के मार्ग का प्रकट करते हैं यह मार्ग सर्वोत्तम है और आर्य्य सत्पुरुषों के द्वारा निर्दोष कहा गया है ॥ १३॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
भूयाहिसंकाभि दुगुंछमाणा, णो गरहती बुसिमं किंचि लोए।। १४॥

कठिन शब्दार्थ - भूयाहिसंकाभि - प्राणियों की हिंसा से, **दुगुंछमाणा** - दुगुंछा-घृणा रखने वाले, **बुसिमं** - संयमी ।

भावार्थ - ऊपर, नीची और तिरछी दिशाओं में रहने वाले जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन प्राणियों की हिंसा से घृणा करने वाले संयमी पुरुष इस लोक में किसी की भी निन्दा नहीं करते हैं॥१४॥

विवेचन - गोशालक आर्द्रकुमार से कहता है कि-हे आर्द्रकुमार ! तुम कच्चा जल, बीज काय और आधा कर्म आदि के उपयोग करने से कर्म का बन्ध बताकर दूसरे समस्त दार्शनिकों की निन्दा कर रहे हो क्योंकि समस्त दूसरे दार्शनिक शीतजल बीजकाय और आधा कर्म का उपयोग करते हुए संसार से पार होने का प्रयत्न करते हैं तथा वे अपने-अपने दर्शनों को जगत् में प्रकट करते हुए उन दर्शनों में विधान किए हुए आचरण से मुक्ति की प्राप्ति बतलाते हैं परन्तु यदि शीत जल बीजकाय और आधाकर्म के सेवन से कर्मबन्ध माना जाय तब तो इन दार्शनिकों का प्रयत्न निरर्थक ही है वह मुक्ति के साधन के बदले में बन्धन का ही साधक होगा इसलिये तुम सब दर्शनों की निन्दा कर रहे हो यह गोशालक आर्द्रकुमार से कहता है। इस गोशालक के आक्षेप का समाधान करते हुए आर्द्रकुमार कहते हैं कि - हे गोशालक ! हम किसी की निन्दा नहीं करते हैं किन्तु वस्तु स्वरूप का कथन करते हैं। देखो, सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शन की प्रशंसा और परदर्शन की निन्दा किया करते हैं तथा उनका अनुष्ठान भी परस्पर विरुद्ध देखा जाता है। तो भी वे अपने पक्ष का समर्थन और परपक्ष को दूषित करते हैं तथा सभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने आगम में किये हुए विधान से मुक्तिलाभ और परदर्शन में किये हुए विधान से मुक्ति का निषेध करते हैं। यह बात सत्य है मिथ्या नहीं है परन्तु मैं इस नीति का आश्रय लेकर किसी की निन्दा नहीं करता किन्तु मध्यस्थ भाव को धारण करके वस्तु के सच्चे स्वरूप को बतला रहा हूँ। सभी अन्य दार्शनिक एकान्त दृष्टि को लेकर अपने पक्ष का समर्थन और परमत का निषेध करते हैं। परन्तु उनकी यह एकान्त दृष्टि ठीक नहीं है क्योंकि एकान्त दृष्टि से वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है। वस्तु स्वरूप को जानने के लिये अनेकान्त दृष्टि ही उपयोगी है अतः उसका आश्रय लेकर मैं वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बता रहा हूँ ऐसा करना किसी की निन्दा करना नहीं है अपितु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करना है अतएव विद्वानों ने कहा है कि –

नेत्रैर्निरीक्ष्य बिलकण्टककीटसर्पान्,
सम्यक् पथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान्।
कुज्ञानकुश्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान्,
सम्यग् विचारयत कोऽत्र परापवादः ।

अर्थात् नेत्रवान् पुरुष नेत्रों के द्वारा बिल, कण्टक, कीट, और सर्पों को देखकर तथा उनको वर्जित करके उत्तम मार्ग से चलता है इसी तरह विवेकी पुरुष कुज्ञान कुश्रुति और कुमार्ग और कुदृष्टि को अच्छी तरह विचार कर सन्मार्ग का आश्रय लेते हैं अतः ऐसा करना किसी की निन्दा करना नहीं है। वस्तुतः जो पुरुष पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य एवं सामान्य स्वरूप तथा विशेष स्वरूप ही मानने वाले एकान्तवादी अन्यदर्शनी हैं वे ही दूसरे की निन्दा करते हैं परन्तु जो अनेकान्तवादी अनेकान्त पक्ष को मानने वाले हैं वे किसी की भी निन्दा नहीं करते हैं क्योंकि वे पदार्थों को कथञ्चित् सत् और कथञ्चित् असत् तथा कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य एवं कथञ्चित् सामान्यरूप और कथञ्चित् विशेषरूप स्वीकार करके उन सबों का समन्वय करते हैं । ऐसा किये बिना वस्तुस्वरूप का ज्ञान जगत् को हो नहीं सकता है इसलिये राग द्वेष रहित होकर हम एकान्त दृष्टि को दूषित करते हुए अनेकान्तवाद का समर्थन करते हैं । हम किसी श्रमण या ब्राह्मण के निन्दित अङ्ग अथवा वेष को बताकर उनकी निन्दा नहीं करते हैं किन्तु उन्होंने अपने दर्शन में जो कहा है वह प्रकट कर देते हैं । ऐसा करना उनकी निन्दा नहीं है । एवं परमत को बताकर अपने मत की विशेषता बताना भी कोई दोष नहीं है अतः परदार्शनिकों की निन्दा का आक्षेप तुम्हारा ठीक नहीं है। आर्द्रकमुनि कहते हैं कि – हे गोशालक ! सर्वज्ञ सर्वदर्शी आर्य्य पुरुषों के द्वारा कहा हुआ जो मार्ग सबसे उत्तम तथा वस्तु के सच्चे स्वरूप को प्रकट करने वाला सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप है वही जीवों के कल्याण का कारण है। उस धर्म के पालन करने वाले संयमी पुरुष ऊपर नीचे तिरछे दिशाओं में रहने वाले प्राणियों के दुःख के भय से किसी की निन्दा नहीं करते हैं । वे जिन कार्य्यों से प्राणियों का उपमर्द सम्भव है उन सावद्य अनुष्ठानों का आचरण कदापि नहीं करते हैं। वे राग द्वेष रहित पुरुष जगत् के उपकारार्थ जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं वह किसी की भी निन्दा नहीं है। यदि ऐसा करना भी निन्दा हो तब तो आग गर्म होती है और पानी ठण्डा होता है यह कहना भी निन्दा मानना चाहिये अतः वस्तु के सच्चे स्वरूप को बताना निन्दा नहीं है ।। ११-१२-१३-१४॥

आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीए ण उवेइ वासं ।
दक्खा हु संति बहवे मणुस्सा, ऊणाइरित्ता य लवालवा य।। १५॥

कठिन शब्दार्थ - **आगंतगारे** - धर्मशालाओं में, **आरामगारे**- आराम गृहों में (बगीचों में), **भीए** - भीत-भीरु (डरपोक)।

भावार्थ - गोशालक आर्द्रक मुनि से कहता है कि - तुम्हारे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बड़े डरपोक हैं इसीलिये वे जहाँ बहुत से आगन्तुक लोग उतरते हैं ऐसे गृहों में तथा आराम गृहों में निवास नहीं करते हैं। वे सोचते हैं कि - उक्त स्थानों में बहुत से मनुष्य कोई न्यून कोई अधिक कोई वक्ता तथा कोई मौनी निवास करते हैं ॥ १५ ॥

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य णिच्छयण्णा।
पुच्छिंसु मा णे अणगार अण्णे, इति संकमाणो य उवेइ तत्थ।। १६॥

कठिन शब्दार्थ - **णिच्छयण्णा** - निश्चय किये हुए, **पुच्छिंसु**- पूछ ले, **संकमाणो** - आशंका करता हुआ।

भावार्थ - कोई बुद्धिमान्, कोई शिक्षा पाए हुए, कोई मेधावी तथा कोई सूत्र और अर्थों को पूर्णरूप से निश्चय किए हुए पुरुष वहाँ निवास करते हैं अतः ऐसे दूसरे साधु मेरे से कुछ प्रश्न न पूछ बैठें ऐसी आशंका करके वहाँ महावीर स्वामी नहीं जाते हैं॥ १६ ॥

णो कामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुओ भएणं
वियागरेज्ज पसिणं ण वावि, सकामकिच्चेणिह आरियाणं।। १७॥

कठिन शब्दार्थ - **कामकिच्चा** - कामकृत्य-बिना प्रयोजन कार्य नहीं करते, **बालकिच्चा** - बालकृत्य, **पसिणं** - प्रश्न का, **सकामकिच्चेण**- सकामकृत्य- तीर्थङ्कर नाम कर्म के क्षय के लिए, **इह** - इस लोक में।

भावार्थ - आर्द्रकमुनि गोशालक से कहते हैं कि - भगवान् महावीर स्वामी बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करते हैं तथा वे बालक की तरह बिना विचारे भी कोई क्रिया नहीं करते हैं। वे राजभय से भी धर्मोपदेश नहीं करते हैं फिर दूसरे भय की तो बात ही क्या है ? भगवान् प्रश्न का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते हैं। वे इस जगत् में आर्य लोगों के लिये तथा अपने तीर्थंकर नाम कर्म के क्षय के लिये धर्मोपदेश करते हैं॥ १७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गंता च तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियासुपण्णे ।
अणारिया दंसणओ परित्ता, इइ संकमाणो ण उवेइ तत्थ।। १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - समिया - समता भाव से, **आसुपण्णे** - आशुप्रज्ञ - जिसे तत्काल बुद्धि उत्पन्न हो जाती है वह पुरुष, **परित्ता** - भ्रष्ट ।

भावार्थ - सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी सुनने वालों के पास जाकर अथवा न जाकर समान भाव से धर्म का उपदेश करते हैं। परन्तु अनार्य्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं इस आशङ्का से भगवान् उनके पास नहीं जाते हैं॥ १८ ॥

विवेचन - आर्द्रकमुनि के पूर्वोक्त वचनों से तिरस्कार को प्राप्त गोशालक फिर दूसरी रीति से भगवान् महावीर स्वामी पर आक्षेप करता हुआ कहता है कि - हे आर्द्रक ! तुम्हारे महावीर सच्चे साधु नहीं है किन्तु राग द्वेष और भय से युक्त होने के कारण दाम्भिक हैं । जहां बहुत से आये गये लोग उतरते हैं उस स्थान में तथा बगीचे आदि में बने हुए स्थानों में वे नहीं उतरते हैं वे समझते हैं कि-"इन स्थानों में बहुत से बड़े-बड़े धर्म के ज्ञाता विद्वान् अन्यतीर्थी उतरते हैं । वे बड़े तार्किक और शास्त्र के ज्ञाता वक्ता, जाति आदि में श्रेष्ठ एवं योगसिद्धि तथा औषधसिद्धि आदि के ज्ञाता होते हैं। वे अन्यतीर्थी बड़े मेधावी और आचार्य्य के पास रहकर शिक्षा पाये हुए होते हैं। वे सूत्र और अर्थ के धुरन्धर विद्वान् और बुद्धिमान् होते हैं अतः वे यदि मेरे से कुछ पूछ बैठें तो मैं उनका उत्तर नहीं दे सकूंगा अतः वहां जाना ही ठीक नहीं है"। यह सोच कर तुम्हारे महावीर स्वामी अन्यतीर्थियों के डर से उक्त स्थानों में नहीं उतरते हैं। इस प्रकार अन्यतीर्थियों से डरने वाले महावीर स्वामी डरपोक हैं तथा सबमें उनकी समान दृष्टि नहीं है इसलिये वे राग और द्वेष से भी युक्त हैं। यदि यह बात न होती तो वे अनार्य्य देश में जाकर अनार्य्यों को धर्म का उपदेश क्यों नहीं करते ? तथा आर्य्य देश में भी सर्वत्र न जाकर कतिपय स्थानों में ही क्यों जाते ? अतः वे समान दृष्टि वाले नहीं किन्तु विषम दृष्टि होने के कारण राग द्वेष से युक्त हैं अतः राग द्वेष और भययुक्त होने के कारण वे सच्चे साधु नहीं अपितु दाम्भिक हैं ।

इस प्रकार गोशालक के द्वारा किये हुए आक्षेपों का समाधान करते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं कि- हे गोशालक ! भगवान् महावीर स्वामी भयशील तथा विषमदृष्टि नहीं है किन्तु भगवान् बिना प्रयोजन कोई कार्य्य नहीं करते हैं एवं भगवान् बिना विचारे भी कार्य्य करना नहीं चाहते हैं। भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं वे सदा दूसरे प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं इसलिये जिससे दूसरे का उपकार होता दिखता है वही कार्य्य वे करते हैं भगवान् जब देखते हैं कि मेरे उपदेश से यहां कोई फल होने वाला नहीं तब वे वहां उपदेश नहीं देते हैं। प्रश्नकर्त्ता का उपकार देखकर भगवान् उसके प्रश्न का उत्तर देते हैं अन्यथा नहीं देते हैं। भगवान् स्वतंत्र हैं वे अपने तीर्थंकर नाम कर्म का क्षपण तथा आर्य्य पुरुषों के उपकार के लिये धर्मोपदेश देते हैं। वे उपकार होता देखकर भव्यजीवों के पास जाकर भी धर्म का उपदेश देते हैं अन्यथा वहां रहकर भी उपदेश नहीं देते हैं। चाहे चक्रवर्ती हो या दरिद्र हो सबको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समानभाव से भगवान् धर्म का उपदेश देते हैं इसलिये उनमें राग द्वेष का गन्ध भी नहीं है। अनार्य्य देश में भगवान् नहीं जाते हैं इसका कारण अनार्य्य देश से उनका द्वेष नहीं है किन्तु अनार्य्य पुरुष क्षेत्र भाषा और कर्म से हीन हैं तथा वे दर्शन से भी भ्रष्ट है अतः कितना ही प्रयत्न करने पर भी उनका उपकार सम्भव नहीं है अतः वहां जाना व्यर्थ जानकर भगवान् अनार्य्य देश में नहीं जाते हैं। आर्य देश में भी राग के कारण भगवान् नहीं भ्रमण करते हैं किन्तु भव्य जीवों का उपकार के लिये तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म का क्षपण करने के लिये भ्रमण करते हैं अतः भगवान् में राग द्वेष की कल्पना करना मिथ्या है।

भगवान् अन्य तीर्थियों से डरकर आगन्तुकों के स्थान पर नहीं जाते हैं यह कथन भी मिथ्या है क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं उनसे कुछ भी छिपा नहीं है फिर वे प्रश्नों के उत्तर से डरें यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है। एक अन्यतीर्थी तो क्या सभी अन्यतीर्थी मिल कर भी भगवान् के सामने अपना मुख भी नहीं उठा सकते हैं अतः उनसे भगवान् को भय करने की कल्पना मिथ्या है। भगवान् जहां कुछ उपकार होना नहीं देखते हैं वहां नहीं जाते हैं, यही बात सत्य जानो ।। १८ ॥

पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेइ संगं ।
तऊवमे समणे णायपुत्ते, इच्चेव मे होइ मइ वियक्का।। १९॥

कठिन शब्दार्थ - **उदयट्ठी** - उदयार्थी-लाभार्थी, **वणिए** - वणिक, **मइ** - मति ।

भावार्थ - जैसे लाभार्थी वणिक् क्रय विक्रय के योग्य वस्तु को लेकर लाभ के निमित्त महाजनों से सङ्ग करता है यही उपमा श्रमण ज्ञातपुत्र की है यह मेरी बुद्धि या विचार है॥ १९ ॥

विवेचन - गोशालक कहता है कि-हे आर्द्रकुमार ! जैसे कोई वैश्य कपूर, अगर, कस्तुरी तथा अम्बर आदि बेचने योग्य वस्तुओं को लेकर लाभ के लिये दूसरे देश में जाता है और वहां अपने लाभ के लिये महाजनों का संग करता है इसी तरह तुम्हारे ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी का भी व्यवहार है। वे अपने स्वार्थ साधन के लिये ही जन समूह में जाकर धर्मोपदेश देते हैं यह मेरा निश्चय है अतः तुम मेरी बात सत्य जानो ।। १९ ॥

णवं ण कुज्जा विहूणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ताई य साह एवं ।
एओवया बंभवइत्ति वुत्ता, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ।। २०॥

कठिन शब्दार्थ - **विहूणे** - क्षपण (नष्ट) करते हैं, **ताई** - त्रायी-रक्षक, **बंभवई** - ब्रह्मव्रती-मोक्ष का व्रत वाला, **स** - वह, **आह** - कहा है।

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी नवीन कर्म नहीं करते हैं किन्तु वे पुराने कर्मों का क्षपण करते हैं। क्योंकि वे स्वयं यह कहते हैं कि - प्राणी कुमति को छोड़ कर ही मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार मोक्ष का व्रत कहा गया है उसी मोक्ष के व्रत की इच्छा वाले भगवान् हैं। यह मैं कहता हूँ॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - गोशालक का पूर्वोक्त कथन सुनकर आर्द्रकमुनि कहते हैं कि- हे गोशालक ! तुमने जो महावीर स्वामी के लिये लाभार्थी वैश्य का दृष्टान्त दिया है वह सम्पूर्ण तुल्यता को लेकर दिया है अथवा देश (एक अंश)तुल्यता को लेकर दिया है ? यदि देश तुल्यता को लेकर दिया है तब तो इससे मेरी कोई क्षति नहीं है क्योंकि भगवान् भी जहां उपकार देखते हैं वहां उपदेश देते हैं और जहां उपकार नहीं देखते हैं वहां उपदेश नहीं देते हैं इसलिये लाभार्थी वैश्य का दृष्टान्त उनमें देश से ठीक सङ्गत होता है परन्तु यदि सम्पूर्ण तुल्यता को लेकर तुमने वैश्य का दृष्टान्त दिया है तो वह भगवान् में कदापि सङ्गत नहीं होता है क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण सावद्य अनुष्ठानों से सर्वथा रहित होकर नवीन कर्म नहीं बांधते हैं तथा भव को प्राप्त कराने वाले पुरातन कर्म जो बंधे हुए हैं उनका वे क्षपण करते हैं । कुबुद्धि को छोड़ कर भगवान् सबकी रक्षा करने वाले हैं । जो पुरुष कुबुद्धि का त्यागी है वह सभी की रक्षा करने वाला है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि-कुमति को छोड़ने वाला पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त करता है अतः भगवान् मोक्ष व्रत का अनुष्ठान करने वाले और मोक्ष के लाभार्थी हैं यह मेरा मत है ।। २० ॥

समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा ।
ते णाइसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पगरंति संगं ।। २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - **भूयगामं** - भूतग्राम-प्राणियों का समूह **समारभंते** - आरंभ करते हैं, **ममायमाणा** - ममत्व रखते हुए **आयस्स** - आय (लाभ) के ।

भावार्थ - बनिये तो प्राणियों का आरम्भ करते हैं। तथा वे परिग्रह पर भी ममता रखते हैं एवं वे ज्ञाति के सम्बन्ध को न छोड़ कर लाभ के निमित्त दूसरों से सम्पर्क करते हैं॥ २१ ॥

विवेचन - आर्द्रकमुनि कहते हैं कि हे गोशालक ! मैं बनियों का आचरण बतलाता हूँ उसे सुनो। बनिये सावद्य क्रिया के अनुष्ठान द्वारा प्राणिसमूह का उपमर्दन (हिंसा)करते हैं। वे माल को इधर-उधर गाड़ी, ऊँट, बैल तथा दूसरे साधनों के द्वारा भेजते हैं जिससे अनेक प्राणियों का विनाश होता है तथा वे द्विपद चतुष्पद और धन धान्य आदि सम्पत्ति को रख कर उन पर अपना ममत्व रखते हैं एवं वे अपने ज्ञाति वर्ग से सम्बन्ध न छोड़ते हुए लाभ के निमित्त दूसरों से संसर्ग करते हैं परन्तु भगवान् वीर प्रभु ऐसे नहीं है। वे छह काय के जीवों की रक्षा करने वाले, परिग्रह रहित, स्वजनों के त्यागी और अप्रतिबद्ध विहारी हैं। वे धर्म की वृद्धि के लिये उपदेश देते हैं अतः भगवान् के साथ बनिये के दृष्टान्त का सर्व सादृश्य मानना ठीक नहीं है ।। २१ ॥

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्झोववण्णा, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ।। २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - **वित्तेसिणो** - धन के अन्वेषी, **मेहुणसंपगाढा** - मैथुन में आसक्त, **पेमरसेसु** - प्रेम रस में।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - बनिये धन के अन्वेषी और मैथुन में अत्यन्त आसक्त रहने वाले होते हैं। वे भोजन की प्राप्ति के लिये इधर-उधर जाते रहते हैं। अतः हम लोग तो बनियों को काम में आसक्त प्रेम रस में फँसे हुए और अनार्य्य कहते हैं॥ २२॥

विवेचन - आर्द्रकमुनि कहते हैं कि-हे गोशालक ! बनिये धन के अन्वेषी, स्त्री सुख में आसक्त एवं आहार प्राप्ति के लिये इधर-उधर जाते हैं इसलिये हम लोग बनियों को कामासक्त अनार्य्य कर्म करने वाले और सुख में फंसे हुए कहते हैं परन्तु भगवान् महावीर प्रभु ऐसे नहीं हैं इसलिये बनियों के साथ उनकी सम्पूर्ण रूप से तुल्यता बताना मिथ्या है।। २२॥

आरंभगं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ।। २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अविउस्सिया** - नहीं छोड़ कर, **आयदंडा** - आत्मा को दण्ड देने वाले, **चउरंत** - चातुरंत-चार गति में जिसका अंत है ऐसा संसार, **अणंताय** - अनन्त संसार के लिये।

भावार्थ - बनिये आरम्भ और परिग्रह को नहीं छोड़ते हैं किन्तु वे उनमें अत्यन्त बद्ध (गृद्ध) रहते हैं तथा वे आत्मा को दण्ड देने वाले हैं। उनका वह उदय, जिसे तू उदय बतला रहा है वह वस्तुतः उदय नहीं है किन्तु वह चतुर्गतिक संसार को प्राप्त कराने वाला और दुःख का कारण है एवं वह उदय कभी नहीं भी होता है॥ २३ ॥

विवेचन - आर्द्रकमुनि गोशालक से कहते हैं कि - बनिये सावद्य अनुष्ठान के त्यागी नहीं होते हैं तथा वे परिग्रह का भी त्याग नहीं करते हैं। वे क्रय (खरीदना) विक्रय (बेचना) पचन (पकाना) और पाचन (पकवाना) आदि सावद्य कार्यों को करते हैं और धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण और द्विपद, चतुष्पद आदि पदार्थों में अतिशय ममत्व रखते हैं। वे असत् आचरण में प्रवृत्त रहते हुए अपनी आत्मा को अधोगति में गिराकर उसे दण्ड देते हैं। वे जिस लाभ के निमित्त इन कार्यों को करते हैं उसको यद्यपि तुम भी लाभ मान रहे हो परन्तु वह विचार करने पर लाभ नहीं है क्योंकि उसके कारण जीव को चतुर्गतिक संसार में अनन्त काल तक भ्रमण करना पड़ता है अतः विचार करने पर वह महान् हानि है। जिस धन के उपार्जन के लिये बनिये नाना प्रकार के सावद्य कार्य करते हैं वह धन भी सबको प्राप्त नहीं होता है किन्तु किसी को उसकी प्राप्ति होती है और किसी को उद्योग करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती है ।। २३॥

णेगंत णच्चंतिय ओदए सो, वयंति ते दो विगुणोदयंमि ।
से उदए साइमणंतपत्ते, तमुदयं साहयइ ताई णाई ।। २४॥

कठिन शब्दार्थ - **ण** - नहीं, **एगंत** - एकान्त, **अच्चंतिय** - आत्यन्तिक, **ओदए** - उदय, **साइं** - सादि-जिसकी आदि है, **अणंतपत्ते** - अनन्त प्राप्त, **ताई** - त्राता-रक्षक, **णाई** - ज्ञायी-ज्ञाता, जानने वाला।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - सावद्य अनुष्ठान करने से बनिये का जो उदय होता है वह एकान्त तथा आत्यन्तिक नहीं है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। जो उदय एकान्त तथा आत्यन्तिक नहीं है उसमें कोई गुण नहीं है परन्तु भगवान् जिस उदय को प्राप्त हैं वह सादि और अनन्त है। वे दूसरे को भी इसी उदय की प्राप्ति के लिये उपदेश देते हैं। भगवान् त्राण (रक्षा) करने वाले और सर्वज्ञ हैं॥ २४ ॥

विवेचन - आर्द्रकमुनि कहते हैं कि - हे गोशालक ! उद्योग धन्धा आदि के द्वारा बनिये को लाभ कभी होता है और कभी नहीं होता है तथा कभी लाभ के स्थान में भारी हानि भी हो जाती है इसलिये विद्वान् लोग कहते हैं कि - बनिये के लाभ में कोई गुण नहीं है। परन्तु भगवान् ने धर्मोपदेश के द्वारा जो निर्जरा रूप लाभ प्राप्त किया है तथा दिव्य ज्ञान की प्राप्ति की है वही यथार्थ लाभ है। वह लाभ सादि और अनन्त है। ऐसे उदय को स्वयं प्राप्त कर भगवान् दूसरे प्राणियों को भी उसकी प्राप्ति कराने के लिये धर्म का उपदेश देते हैं। भगवान् ज्ञातकुल में उत्पन्न और समस्त पदार्थों के ज्ञाता हैं तथा वे भव्यजीवों को संसार सागर से पार करने वाले हैं अतः भगवान् को बनिये के समान कहना मिथ्या है ।। २४॥

अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिरूवमेयं ।। २५॥

कठिन शब्दार्थ - **सव्वपयाणुकंपी** - समस्त प्राणियों पर अनुकंपा करने वाले, **कम्मविवेगहेउं** - कर्म विवेक (क्षय) के लिये।

भावार्थ - भगवान् प्राणियों की हिंसा से रहित हैं तथा वे समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाले हैं वे धर्म में सदा स्थित और कर्म के विवेक के कारण हैं। ऐसे उस भगवान् को तुम्हारे जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले पुरुष ही बनिये के सदृश कहते हैं यह कार्य तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है॥ २५ ॥

विवेचन - भगवान् महावीर स्वामी देवताओं का समवसरण, कमल, तथा देवच्छन्दक सिंहासन आदि का उपभोग करते हैं इसलिये आधाकर्मी स्थान का उपभोग करने वाले साधु की तरह भगवान् भी अनुमोदन रूप कर्मों से उपलिप्त क्यों नहीं हो सकते हैं ? इस गोशालक की आशंका की निवृत्ति के लिये आर्द्रकमुनि कहते हैं कि हे गोशालक ! यद्यपि भगवान् महावीर स्वामी देवताओं द्वारा किये हुए समवसरण आदि का उपभोग करते हैं तथापि उनको कर्मबन्ध नहीं होता हैं क्योंकि भगवान् प्राणियों की हिंसा न करते हुए उनका उपभोग करते हैं तथा समवसरण आदि के लिये उनकी स्वल्प भी इच्छा नहीं होती किन्तु तृण, मणि, मुक्ता सुवर्ण और पत्थर को समान दृष्टि से देखते हुए वे उनका उपभोग करते हैं। देवगण भी प्रवचन की उन्नति और भव्यजीवों को धर्म में प्रवृत्त करने के लिये एवं अपने हित के लिये समवसरण करते हैं अतः भगवान् का इसमें स्वल्प भी आग्रह नहीं होने से उनको कर्म बन्ध नहीं होता है। भगवान् समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाले और सच्चे धर्म में स्थित हैं। ऐसे भगवान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को बनिये के तुल्य वही बतला सकता है जो सावद्य अनुष्ठान द्वारा अपने आत्मा को दण्ड देने वाला अज्ञानी है अतः हे गोशालक ! यह कार्य तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है। हे गोशालक ! प्रथम तो तुम स्वयं कुमार्ग में प्रवृत्ति कर रहे हो और उस पर भी जगद्वन्द्य और सब अतिशयों के धारी भगवान् की बनिये से तुलना करते हो यह तुम्हारा महान् अज्ञान का ही परिणाम है ।। २५ ॥

अब बौद्ध मत की मान्यता बतलाई जाती है –

पिण्णागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति ।
अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं।। २६ ॥

कठिन शब्दार्थ – **पिण्णागपिंडीं** – खली के पिण्ड को, **अवि** – भी, **पएज्जा** – पकावे **अलाउयं** – तुम्बे (लौकी) को **पाणिवहेण** – प्राणी वध के पाप से।

भावार्थ – कोई पुरुष खली (तेल निकला हुआ तिलों) के पिण्ड को भी यदि "यह पुरुष है" यह मान कर शूल में बेध कर पकावे अथवा तुम्बे को बालक मान कर पकावे तो वह हमारे मत में प्राणी के वध करने के पाप का भागी होता है ॥ २६ ॥

विवेचन – पूर्वोक्त प्रकार से गोशालक को परास्त करके भगवान् के पास जाते हुए आर्द्रकमुनि को मार्ग में शाक्य (बौद्ध) मतवाले भिक्षुओं से भेंट हुई। वे आर्द्रकुमार से कहने लगे कि – हे आर्द्रकुमार ! तुमने बनिये के दृष्टान्त को दूषित करके बाह्य अनुष्ठान को दूषित किया है यह अच्छा किया है क्योंकि बाह्य अनुष्ठान तुच्छ है आन्तरिक अनुष्ठान ही संसार और मोक्ष का साधन है यही हमारे दर्शन का सिद्धान्त है। इस विषय को इस प्रकार समझना चाहिये – जैसे कोई मनुष्य उपद्रव आदि से पीड़ित होकर परदेश में चला गया और वह दैववश म्लेच्छों के देश में जा पहुँचा। वहां मनुष्यों को पका कर खाने वाले म्लेच्छ निवास करते थे अतः उनके भय से वह पुरुष खली के पिण्ड के ऊपर अपने वस्त्रों को डालकर कहीं छिप गया। म्लेच्छ उसे ढूंढ रहे थे उन्होंने उसके वस्त्र से ढके हुए खली के पिण्ड को देखकर उसे मनुष्य समझा और शूल में बेधकर उस पिण्ड को पकाया तथा वस्त्र से ढके हुए किसी तुम्बे को बालक समझ कर उसे भी पकाया इस प्रकार मनुष्य बुद्धि से खली के पिण्ड और बालक बुद्धि से तुम्बे को पकाने वाले उन म्लेच्छों को मनुष्यवध का पाप लगा क्योंकि आन्तरिक भाव के अनुसार ही पाप पुण्य होता है । यद्यपि उन म्लेच्छों के द्वारा मनुष्य का वध नहीं हुआ तथापि उनके चित्त के दूषित होने से उन्हें मनुष्य वध का ही पाप हुआ यह हमारा सिद्धान्त है। अतः द्रव्य से प्राणी का घात न करने पर भी चित्त के दूषित होने से जीव को प्राणी के घात का पाप लगता है यह जानना चाहिये ।

अहवा वि विद्धूण मिलक्खू सूले, पिण्णागबुद्धीइ णरं पएज्जा।
कुमारगं वावि अलाबुयं ति, ण लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं।। २७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **मिलक्खू** - म्लेच्छ, **अलाबुयं** - अलाबु-तुम्बा।

भावार्थ - शाक्य भिक्षु कहते हैं कि - हे आर्द्रकुमार ! म्लेच्छ पुरुष यदि मनुष्य को खली मानकर तथा बालक को तुम्बा मान कर पकावें तो उन्हें प्राणी के वध का पाप नहीं होता है यह हमारा सिद्धान्त है ।। २७॥

पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केई पए जायतेए ।
पिण्णायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पइ पारणाए।। २८॥

कठिन शब्दार्थ - **जायतेए** - आग में, **बुद्धाण** - बुद्ध के लिये, **विद्धूण** - बिंध कर, **सतिं** - विद्यमान, **आरुहेत्ता** - आरोपित करके।

भावार्थ - शाक्य भिक्षु कहते हैं कि - कोई पुरुष मनुष्य को अथवा बालक को खली का पिण्ड मानकर उन्हें शूल में वेध कर यदि आग में पकावे तो उसे प्राणी के वध का पाप नहीं लगता है और वह आहार पवित्र तथा बुद्धों के पारणा के योग्य है । जो कार्य भूल से हो जाता है तथा जो मन के संकल्प के बिना किया जाता है वह बन्धन का कारण नहीं है ।। २८॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं ।
ते पुण्णखंधं सुमहं जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता।। २९॥

कठिन शब्दार्थ - **सिणायगाणं** - स्नातक, **णियए** - नित्य, **पुण्णखंधं** - पुण्य स्कंध को, **आरोप्प** - आरोप्य नामक, **महंतसत्ता**- महासत्त्व।

भावार्थ - शाक्य मतवाले भिक्षु आर्द्रकुमार मुनि से कहते हैं कि - हे आर्द्रकुमार ! जो पुरुष प्रतिदिन दो हजार शाक्य भिक्षुओं को अपने यहाँ भोजन कराता है वह महान् पुण्यपुञ्ज को उपार्जन करके आरोप्य नामक सर्वोत्तम देवता होता है ॥ २९ ॥

अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं ।
अबोहिए दोण्हवि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - **अजोगरूवं** - अयोग्य रूप, **पसज्झ** - प्रसह्य-जबर्दस्ती, **काउं** - करके।

भावार्थ - आर्द्रकमुनि कहते हैं कि यह शाक्य मत संयमी पुरुषों के योग्य नहीं है। प्राणियों का घात करके पाप का अभाव कहना दोनों के लिये अज्ञानपूर्वक और बुरा है जो ऐसा कहते हैं और जो सुनते हैं॥ ३० ॥

विवेचन - शाक्य मुनियों का सिद्धान्त सुनकर आर्द्रकमुनि कहते हैं कि - हे शाक्यभिक्षुओ ! आपका यह पूर्वोक्त सिद्धान्त संयमी पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं है। जो पुरुष पांच समिति और तीन गुप्तियों को पालन करता हुआ सम्यग् ज्ञान के साथ क्रिया करता है और अहिंसा व्रत का आचरण करता है उसी की भावशुद्धि होती है परन्तु जो पुरुष अज्ञानी है और मोह में पड़ कर खली और पुरुष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के भेद को भी नहीं जानता है उसकी भावशुद्धि कभी नहीं हो सकती है। मनुष्य को खली मान कर उसे शूल में वेध कर पकाना और उसे खली समझ कर मांस भक्षण करना अत्यन्त पाप है ऐसे काय्यों में पाप का अभाव बताने वाले और उसे सुन कर वैसा ही मानने वाले दोनों ही पुरुष अज्ञानी और पाप की वृद्धि करने वाले हैं ऐसे पुरुषों का भाव कभी शुद्ध नहीं होता है। यदि ऐसे पुरुषों का भाव शुद्ध माना जाय तब तो जो लोग रोग आदि से पीड़ित प्राणी को विष आदि का प्रयोग करके मार डालने का उपदेश करते हैं उनके भाव को भी शुद्ध क्यों न मानना चाहिये ? परन्तु बौद्ध गण उसके भाव को शुद्ध नहीं मानते हैं । तथा एकमात्र भाव की शुद्ध ही यदि कल्याण का साधन है तब फिर बौद्ध लोग शिर का मुण्डन और भिक्षावृत्ति क्रियाओं का आचरण क्यों करते हैं अतः भावशुद्धि के साथ बाह्य क्रिया की पवित्रता भी आवश्यक है। जो लोग मनुष्य को खली समझ कर उसको आग में पकाते हैं वे तो घोर पापी तथा प्रत्यक्ष ही अपने आत्मा को धोखा देने वाले हैं। इसलिये उनका भाव भी दूषित है। अतः पूर्वोक्त बौद्धों की मान्यता ठीक नहीं है ॥ ३० ॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, विण्णाय लिंगं तसथावराणं ।
भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, वएज्ज करेज्जा व कुओ वीहउत्थि ? ॥ ३१ ॥

कठिन शब्दार्थ - **विण्णाय** - जान कर, **लिंगं** - लिंग (लक्षण) को, **भूयाभिसंकाइ** - जीव हिंसा की आशंका से, **दुगुंछमाणे** - घृणा करता हुआ, **वि** - अपि - भी, **इह** - इस जिन शासन में, **अत्थि** - है।

भावार्थ - ऊपर, नीची और तिरछी दिशाओं में त्रस और स्थावर प्राणियों के सद्भाव के चिह्न को जानकर जीव हिंसा की आशङ्का से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा करता हुआ विचार कर भाषण करे और कार्य भी विचार कर ही करे तो उसे दोष किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

विवेचन - आर्द्रकुमार मुनि बौद्धों के पक्ष को दूषित करके अब अपना पक्ष बतलाते हैं - ऊपर, नीचे और तिरछे सर्वत्र जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते हैं वे अपनी-अपनी जाति के अनुसार चलना, कम्पन और अंकुर उत्पन्न करना आदि क्रियाएँ करते हैं तथा छेदन करने पर स्थावर प्राणी मुरझा जाते हैं। इत्यादि बातें इनके जीव होने के चिह्न हैं। अतः विवेकी पुरुष इन चिह्नों को देखकर इन प्राणियों की रक्षा के लिये निरवद्य भाषा बोलते हैं और निरवद्य कार्य्य का ही अनुष्ठान करते हैं। ऐसे पुरुषों को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है। अतः इन पुरुषों का जो धर्म है वही सच्चा और दोष रहित है। इसलिये ऐसे धर्म के वक्ता और श्रोता दोनों ही उत्तम हैं, यह जानो ॥ ३१ ॥

पुरिसेत्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु ।
को संभवो ? पिण्णगपिंडियाए, वायावि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

कठिन शब्दार्थ - **विण्णत्ति** - विज्ञप्ति-ज्ञान, **अणारिए** - अनार्य, **असच्चा** - असत्य।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - खली के पिण्ड में पुरुष बुद्धि मूर्ख को भी नहीं होती है। अतः जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुष बुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि करता है वह अनार्य्य है। खलपिण्डी में पुरुष बुद्धि होना सम्भव नहीं है। अतः ऐसा वाक्य कहना भी मिथ्या है॥ ३२ ॥

विवेचन- आर्द्रकमुनि कहते हैं कि - हे बौद्ध भिक्षुओ ! खलपिण्ड में पुरुष बुद्धि होना अत्यन्त मूर्ख को भी सम्भव नहीं है। पशु आदि भी पुरुष और खली को एक नहीं मानते हैं अतः जो अज्ञानी, पुरुष को खली समझ कर उसको आग में पका कर खाता है और दूसरे को भी ऐसा करने का उपदेश देता है वह निश्चय ही अनार्य्य है। खली के पिण्ड में पुरुष बुद्धि होना सम्भव नहीं है अतः जो पुरुष मनुष्य को खली का पिण्ड बताता है वह बिलकुल मिथ्या भाषण करता है अतः तुम्हारा धर्म आर्य्य पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥

वायाभियोगेण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा ।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय मुरालमेयं॥ ३३॥

कठिन शब्दार्थ - **वायाभियोगेण** - जिस वचन से पाप लगता हो, **दिक्खिए** - दीक्षित, **उरालं** - स्थूल, निःसार।

भावार्थ - जिस वचन के बोलने से जीव को पाप लगता है वह वचन विवेकी जीव को कदापि न बोलना चाहिये। तुम्हारा पूर्वोक्त वचन गुणों का स्थान नहीं है। अतः दीक्षा धारण किया हुआ पुरुष ऐसा असत्य और निःसार वचन नहीं कहता है ॥ ३३॥

विवेचन - सावद्य भाषा के बोलने से भी पाप लगता है इसलिए भाषा के गुण और दोष को जानने वाले विवेकी पुरुष कर्म बन्ध को उत्पन्न करने वाली भाषा नहीं बोलते हैं तथा वस्तुतत्त्व को जान कर सत्य अर्थ का उपदेश देने वाले प्रव्रजित पुरुष "खली पुरुष है तथा पुरुष खली है एवं बालक तुम्बा है और तुम्बा बालक है" इत्यादि युक्ति रहित और मिथ्या वचन कभी नहीं कहते हैं ॥ ३३ ॥

लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए व ।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, उलोइए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - **जीवाणुभागे** - जीवों के कर्म फल का, **सुविचिंतिए** - विचार किया है, **पाणितले** - हस्ततल में, **ठिए** - स्थित, **उलोइए** - देख लिया है।

भावार्थ - अहो ! बौद्धो ! तुमने ही पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है तथा तुमने ही जीवों के कर्म-फल का विचार किया है एवं तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैला है तथा तुमने ही हाथ में रखी हुई वस्तु के समान इस जगत् को देख लिया है॥ ३४॥ (ये व्यंग वचन हैं।)

विवेचन - मुनि आर्द्रकुमार बौद्ध भिक्षुओं को परास्त करके उनका हास्य करते हुए कहते हैं कि - हे बौद्धो ! तुमने ही पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है एवं जीवों के शुभाशुभ कर्मों के फल को भी तुमने ही समझा है एवं ऐसे विज्ञान से तुम्हारा यश ही समस्त जगत् में व्याप्त है तथा तुमने ही अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञान बल से हाथ में रखे हुए पदार्थ की तरह समस्त पदार्थों को जान लिया है । धन्यवाद है आपके इस विचित्र विज्ञान को जो पुरुष और पिण्याक खली तथा तुम्बा और बालक में भेद न मानने से पाप न होना और भेद मानने से पाप होना बतलाता है ॥ ३४ ॥

जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अण्णविहीय सोहिं ।
ण वियागरे छण्णपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं॥ ३५॥

कठिन शब्दार्थ - छण्णपओपजीवी - कपट से आजीविका करने वाले ।

भावार्थ - जैन शासन को मानने वाले पुरुष जीवों की पीडा को अच्छी तरह सोच कर शुद्ध अन्न को स्वीकार करते हैं तथा कपट से जीविका करने वाले बन कर मायामय वचन नहीं बोलते हैं। इस जैन शासन में संयमी पुरुषों का यही धर्म है॥ ३५ ॥

विवेचन - आर्द्रकमुनि बौद्ध मत का खण्डन करके अपने मत का महत्त्व प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे बौद्धो ! जैनेन्द्र शासन को मानने वाले बुद्धिमान् पुरुष प्राणियों की पीड़ा को विचार कर प्रासुक और शुद्ध भिक्षान्न का ही ग्रहण करते हैं। वे बयालीस दोषों को टाल कर भिक्षा ग्रहण करके जीवों के उपमर्द से सर्वथा पृथक् रहने का प्रयत्न करते हैं। जैसे बौद्ध गण भिक्षापात्र में आये हुए मांस को भी बुरा नहीं मानते हैं वैसा आर्हत् साधु नहीं करते तथा जो पुरुष कपट से जीविका करने वाला और कपट से बोलने वाला है वह साधु बनने योग्य नहीं यह जैनों की मान्यता है अतः जैन धर्म ही पवित्र और आदरणीय है, बौद्ध धर्म नहीं । बौद्ध गण कहते हैं कि अन्न भी मांस के सदृश है क्योंकि वह भी प्राणी का अंग है। परन्तु यह बौद्धों का कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्राणी का अंग होने पर भी लोक में कोई वस्तु मांस और कोई अमांस मानी जाती है जैसे दूध और रक्त दोनों ही गौ के विकार हैं तथापि लोक में ये दोनों अलग-अलग माने जाते हैं और दूध भक्ष्य तथा रक्त अभक्ष्य माना जाता है एवं अपनी पत्नी तथा माता दोनों ही स्त्री जाति की होने पर भी लोक में भार्य्या गम्य और माता अगम्य मानी जाती है इसी तरह प्राणी के अंग होने पर भी अन्न दूसरा और मांस दूसरा माना जाता है इसलिए अन्न के तुल्य मांस को भक्ष्य बताना मिथ्या है ॥ ३५ ॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, णियच्छइ गरिहमिहेव लोए ॥ ३६॥

कठिन शब्दार्थ - लोहियपाणि - रुधिर से लिप्त हाथ वाला,**गरिहं** - गर्हा (निंदा) को।

भावार्थ - जो पुरुष मांसभक्षक दो हजार स्नातक भिक्षुकों को प्रतिदिन भोजन कराता है वह असंयमी तथा रुधिर से लिप्त हाथ वाला पुरुष इसी लोक में निन्दा को प्राप्त होता है और परलोक में दुर्गति का भागी बनता है॥ ३६ ॥

विवेचन - आर्द्रकुमारमुनि कहते हैं कि - जो पुरुष बोधिसत्व के तुल्य मांस भक्षक दो हजार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षुकों को प्रतिदिन भोजन कराता है वह असंयमी तथा रुधिर से भींगा हुआ हाथ वाला पुरुष इस लोक में साधु पुरुषों के निन्दा का पात्र होता है और परलोक में अनार्य पुरुषों की गति को प्राप्त करता है अतः तुमने जो दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराने से उत्तम गति की प्राप्ति कही है वह सर्वथा मिथ्या है ॥ ३६ ॥

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं॥ ३७॥

कठिन शब्दार्थ - **थूलं** - स्थूल-मोटे शरीर वाला, **उरब्भं** - उरभ्र-भेड़ को, **उद्दिट्ठभत्तं**-उद्दिष्टभक्त-मुनियों के निमित्त बनाया हुआ आहार आदि।

भावार्थ - इस बौद्धमत को मानने वाले पुरुष मोटे भेड़ को मारकर उसे बौद्ध भिक्षुकों के भोजन के लिए बनाकर उसे लवण और तेल के साथ पकाकर पिप्पल्ली आदि से उस मांस को वघारते हैं और उन बौद्ध भिक्षुओं को खिलाते हैं॥ ३७ ॥

विवेचन - आर्द्रकुमार मुनि अब बौद्ध भिक्षुओं के आहार की रीति बताते हुए कहते हैं कि - बौद्ध धर्म को मानने वाले पुरुष बौद्ध भिक्षुओं के भोजनार्थ मोटे शरीर वाले भेडों को मारते हैं और उसके मांस को निकाल कर वे नमक तथा तेल में उसे पकाते है फिर पिप्पली आदि द्रव्यों से उसे वघार कर तैयार करते हैं। वह मांस बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है । यही इन भिक्षुओं की आहार की रीति है ॥ ३७ ॥

तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा॥ ३८॥

कठिन शब्दार्थ - **पिसितं** - मांस का, **पभूतं** - प्रचुर मात्रा में, **उवलिप्पामो** - लिप्त नहीं होते **रएणं** - कर्म रज से।

भावार्थ - अनार्यों का कार्य करने वाले, अनार्य अज्ञानी रस लोलुप वे बौद्ध भिक्षु यह कहते हैं कि बहुत मांस खाते हुए भी हम लोग पाप से लिप्त नहीं होते हैं॥ ३८ ॥

विवेचन - पूर्वगाथा में जिसका वर्णन किया गया है ऐसे मांस को खाने वाले, अनार्य्यों का कार्य्य करने वाले ये बौद्ध भिक्षु कहते हैं कि - हम लोग खूब मांस का भक्षण करते हुए भी पाप के भागी नहीं होते हैं भला इससे बढ़कर दूसरा अज्ञान क्या हो सकता है ? अतः ये लोग अज्ञानी अनार्य्य और रस के लोलुप हैं त्यागी नहीं हैं अतः ऐसे लोगों को भोजन कराने से मनुष्य को किस प्रकार शुभ फल प्राप्त होगा ? यह बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये ॥ ३८ ॥

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं ण एयं कुसला करेंति, वायावि एसा बुइया उ मिच्छा॥३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **वाया** - वाणी, **बुइया** - कही हुई।

भावार्थ - जो लोग पूर्व गाथा में कहे हुए उस प्रकार के मांस का भक्षण करते हैं वे अज्ञानी जन पाप का सेवन करते हैं। अतः जो पुरुष कुशल हैं वे उक्त प्रकार के मांस को खाने की इच्छा भी नहीं करते हैं तथा मांस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है॥ ३९ ॥

विवेचन - आर्द्रकुमार मुनि कहते हैं कि - पूर्व गाथा में जिस मांस का वर्णन किया गया है उसे खाने वाले पुरुष अनार्य्य हैं उन्हें पाप और पुण्य का ज्ञान सर्वथा नहीं है । एक तो मांस हिंसा के बिना प्राप्त नहीं होता तथा वह स्वभाव से ही अपवित्र है एवं वह रौद्र ध्यान का हेतु है तथा वह रक्त आदि दूषित पदार्थों से पूर्ण और अनेक कीड़ों का स्थान है। वह दुर्गन्ध से भरा हुआ और शुक्र तथा शोणित से उत्पन्न तथा सज्जनों से निन्दित है। ऐसे मांस को जो खाता है वह पुरुष राक्षस के समान है और नरकगामी है अतः विचार करने पर मालूम होता है कि-मांस खाने वाला पुरुष अपने आत्मा को नरक में डालने के कारण आत्मद्रोही है तथा आत्मा का कल्याण करने वाला नहीं है ।

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि-"जिसके मांस को जो इस भव में खाता है वह भी उसके मांस को पर भव में खायगा" इस भाव को लेकर मांस का 'मांस' यह नाम रखा गया है । 'मा' यानी मुझको 'स' अर्थात् वह प्राणी परभव में खायगा, जिसके मांस को मैंने इस भव में खाया है, यह मांस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है। अतः मांस खाने वाला पुरुष मोक्ष मार्ग का आराधक नहीं है। जो पुरुष कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक रखते हैं जो ज्ञानी और महात्मा हैं वे मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते हैं तथा इसके अनुमोदन को भी पाप समझते हैं । अतः बौद्धों का यह आचरण अच्छा नहीं है ।। ३९ ॥

सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो णायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ।। ४० ॥

कठिन शब्दार्थ - **दयट्ठयाए** - दया करने के लिये, **सावज्जदोसं** - सावद्य दोष को, **परिवज्जयंता**- वर्जन करने वाले, **उद्दिट्ठभत्तं** - उद्दिष्ट भक्त-मुनियों के लिये बनाया गया आहार आदि को।

भावार्थ - सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने के लिये सावद्य दोष को वर्जित करने वाले तथा उस सावद्य की आशङ्का करने वाले, महावीर स्वामी के शिष्य ऋषिगण उद्दिष्ट भक्त को वर्जित करते हैं॥ ४० ।।

विवेचन - जो पुरुष मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं उनको मांस भक्षण तो करना ही नहीं चाहिये इसके सिवाय उद्दिष्टभक्त भी उन्हें त्याग करना चाहिये। क्योंकि छह काय के जीवों का आरम्भ करके आहार तैयार किया जाता है वह आहार यदि साधु के लिये बनाया गया हो तो साधु को छह काय के जीवों के आरम्भ का अनुमोदक बनना पड़ता है इसलिये साधु ऐसे आहार को भी नहीं लेते हैं। भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य ऋषिगण सर्व सावद्य कर्मों को वर्जित करने वाले होते हैं अतः जिस आहार में उन्हें स्वल्प भी दोष की आशंका हो जाती है उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं ।। ४० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाण णिहाय दंडं ।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ।। ४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - **णिहाय** - त्याग कर, **अणुधम्मो** - अनुधर्म ।

भावार्थ - प्राणियों के उपमर्द की आशङ्का से सावद्य अनुष्ठान को वर्जित करने वाले साधु पुरुष सब प्राणियों को दण्ड देना अर्थात् हिंसा का त्याग कर उस प्रकार के आहार को यानी दोष युक्त आहार को नहीं भोगते हैं। इस जैन शासन में संयमी पुरुषों का यही धर्म है ॥ ४१ ॥

विवेचन - सर्वज्ञोक्त धर्म को पालन करने वाले उत्तम पुरुष प्राणियों के उपमर्द की आशंका से सावद्य कार्य नहीं करते हैं । वे किसी भी प्राणी को दण्ड नहीं देते हैं अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा नहीं करते हैं इसलिए वे अशुद्ध आहार का ग्रहण नहीं करते हैं। पहले तीर्थंकर ने इस धर्म का आचरण किया उसके पश्चात् उनके शिष्यगण इस धर्म का आचरण करने लगे इसलिये इस धर्म को अनुधर्म कहते हैं अथवा यह धर्म शिरीष के फूल के समान अत्यन्त कोमल है क्योंकि थोड़ा भी अतिचार हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है इसलिये इसे अणुधर्म कहते हैं यह धर्म ही उत्तम पुरुषों का धर्म है और यही मोक्ष प्राप्ति का सच्चा साधन है।। ४१ ॥

णिग्गंथधम्मंमि इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थतं (ओ) पाउणइ सिलोगं।। ४२ ॥

कठिन शब्दार्थ - **णिग्गंथधम्मम्मि** - निर्ग्रंथ धर्म में, **सुठिच्चा** - स्थित हो कर, **सीलगुणोववेए**- शील गुणों से युक्त, **सिलोगं** - श्लाघा (प्रशंसा) को।

भावार्थ - इस निर्ग्रन्थ धर्म में स्थित पुरुष पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके तथा इसमें भली भांति रह कर माया रहित होकर संयम का अनुष्ठान करे। इस धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के ज्ञान को प्राप्त त्रिकालवेदी तथा शील और गुणों से युक्त पुरुष अत्यन्त प्रशंसा का पात्र होता है ॥ ४२ ॥

विवेचन - यह निर्ग्रन्थ धर्म किसी प्रकार के कपट से युक्त नहीं है किन्तु सम्पूर्ण कपटों से रहित है इसलिये यह 'निर्ग्रन्थ धर्म' कहलाता है "निर्गतः ग्रन्थेभ्यः कपटेभ्य इति निर्ग्रन्थः" अर्थात् जो धर्म ग्रन्थ यानी कपट से रहित है उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहते हैं। यह धर्म श्रुत और चारित्र रूप है अथवा उत्तम पुरुषों से आचरण किया जाने वाला सर्वज्ञोक्त जो क्षान्ति आदि धर्म है वह निर्ग्रन्थ धर्म है। उस निर्ग्रन्थ धर्म में स्थित पुरुष पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके अशुद्ध आहार का त्याग करे तथा सम्पूर्ण परीषहों को सहन करता हुआ वह शुद्ध संयम का अनुष्ठान करे । इस प्रकार इस धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ क्रोधादि रहित त्रिकाल दर्शी मूल गुण और उत्तर गुण से सम्पन्न साधु सम्पूर्ण द्वन्द्वों से रहित हो जाता है और वह दोनों लोक में प्रशंसा का पात्र होता है । ऐसे मुनिवरों के विषय में विद्वानों ने कहा है कि -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"राजानं तृणतुल्यमेव मनुते, शक्रेऽपि नैवादरो ।
वित्तोपार्जनरक्षण व्ययकृताः, प्राप्नोति नो वेदनाः ॥
संसारान्तर्वर्त्त्यपीह लभते शं, मुक्त वन्निर्भयः
सन्तोषात् पुरुषो-ऽमृतत्वमचिराद्, यायात् सुरेन्द्रार्चितः"

अर्थात् - सर्वज्ञोक्त धर्म में स्थित सन्तोषी साधु राजा महाराजा आदि को तृण के तुल्य मानता है तथा वह इन्द्र में भी आदर नहीं रखता है। वह सन्तोषी पुरुष धन के अर्जन रक्षण और व्यय के दुःखों को प्राप्त नहीं करता है। वह संसार में रहता हुआ भी मुक्त पुरुष के समान निर्भय होकर विचरता है तथा सन्तोष के कारण वह इन्द्रादि देवों का भी पूजनीय होकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है ।। ४२ ॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए माहणाणं ।
ते पुण्णखंधे सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ।। ४३ ॥

कठिन शब्दार्थ- सिणायगाणं - स्नातकों को, **पुण्णखंधे** - पुण्य स्कंध, **सुमहं** - महान् **अज्जणित्ता** - अर्जन करके, **वेयवाओ**- वेद का कथन है।

भावार्थ - ब्राह्मण लोग आर्द्रकमुनि से कहते हैं कि - जो पुरुष दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन करता है वह भारी पुण्य पुञ्ज को उपार्जन करके देवता होता है यह वेद का कथन है॥ ४३ ॥

विवेचन - बौद्ध मत वालों को परास्त किये हुए आर्द्रकमुनि को देखकर ब्राह्मणगण उनके पास आये और कहने लगे कि - हे आर्द्रक ! तुमने गोशालक और बौद्ध मत का तिरस्कार किया है यह बहुत अच्छी बात है क्योंकि ये दोनों ही मत वेद बाह्य हैं तथा यह आर्हत् मत भी वेदबाह्य ही है अतः तुम इसे भी छोड़ दो । तुम क्षत्रियों में प्रधान हो इसलिए सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है शूद्रों की सेवा करना नहीं । तुम यज्ञ याग आदि का अनुष्ठान करो और ब्राह्मणों की सेवा करो । ब्राह्मण सेवा का माहात्म्य हम तुम से कहते हैं उसे सुनो । वेद में लिखा है कि-छह प्रकार के कर्मों को करने वाले वेदपाठी शौचा- चार परायण सदा स्नान करने वाले ब्रह्मचारी दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो मनुष्य प्रतिदिन भोजन कराता है वह महान् पुण्य पुञ्ज को उपार्जन करके स्वर्गलोक में देवता होता है ।। ४३ ॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
से गच्छइ लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी।। ४४ ॥

कठिन शब्दार्थ - **कुलालयाणं** - कुलों में भोजन के लिए घूमने वाले-ब्राह्मणों को, **तिव्वाभितावी**- तीव्र ताप को सहने वाला, **णरगाभिसेवी** - नरक सेवी, **लोलुवसंपगाढे** - भयंकर वेदना से युक्त मांस प्राप्ति के लिये।

भावार्थ - क्षत्रिय आदि कुलों में भोजन के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन भोजन कराता है वह पुरुष मांस लोभी पक्षियों से पूर्ण नरक में जाता है और वह वहाँ भयङ्कर ताप को भोगता हुआ निवास करता है ॥ ४४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - आर्द्रकमुनि ब्राह्मणों के वाक्य को सुनकर उनके मत को दूषित करते हुए कहते हैं कि - हे ब्राह्मणो ! जो मनुष्य मांस भक्षक दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराता है वह कुपात्र को दान देने वाला है क्योंकि बिल्ली जैसे मांस की प्राप्ति के लिये घर-घर घूमती फिरती है इसी तरह जो ब्राह्मण मांस की प्राप्ति के लिए क्षत्रिय आदि कुलों में घूमता है वह दूसरे की कमाई खाने वाला, निन्दनीय जीविका करता है। वह ब्राह्मण कुपात्र है, वह शील रहित है, इसलिए ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराना कुपात्र दान देना है, अतः ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला पुरुष मांसाहारी पक्षियों से पूर्ण तथा भयंकर वेदना से युक्त नरक में जाता है ।। ४४ ॥

दयावरं धम्म दुगुंछमाणा, वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
एगंपि जे भोययइ असीलं, णिवो णिसं जाइ कुओ सुरेहिं ? ।। ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - **दयावरं** - दया प्रधान, **धम्म** - धर्म की, **वहावहं** - हिंसाप्रधान, **पसंसमाणा** - प्रशंसा करता हुआ, **असीलं** - अशील को, **णिसं** - अंधकार युक्त।

भावार्थ - दया प्रधान धर्म की निन्दा और हिंसा प्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो राजा एक भी मांस लोलुपी शील रहित ब्राह्मण को भोजन कराता है वह अन्धकार युक्त नरक में जाता है फिर देवता होने की तो बात ही क्या है ॥ ४५ ॥

विवेचन - दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसामय धर्म की प्रशंसा करने वाला जो मूर्ख राजा एक भी व्रत रहित मांस लोलुपी अशील ब्राह्मण को छह काय के जीवों का उपमर्द करके भोजन कराता है वह भयंकर अन्धकार युक्त नरक में जाता है । वह मूर्ख व्यर्थ ही अपने को धर्मात्मा मानता है वह पुरुष अधम देवता भी नहीं होता है फिर उत्तम देवता होने की तो बात ही क्या है ? ऐसे एक भी अशील ब्राह्मण को भोजन कराने से जबकि नरक होता है तब फिर दो हजार को भोजन कराने से तो कहना ही क्या है ? ब्राह्मणों को जाति का भारी अभिमान होता है परन्तु जाति कर्मवश जीव को प्राप्त होती है वह नित्य नहीं है इसलिये बुद्धिमान् पुरुष अपनी जाति का मद नहीं करते हैं । कोई कहते हैं कि "ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण की, भुजा से क्षत्रिय की, उरु से, वैश्य की, और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है" परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वर्णों का परस्पर भेद नहीं हो सकता है। जैसे वृक्ष की मूल शाखा तथा अग्र भाग में उत्पन्न फल समान होते हैं इसी तरह एक ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण चारों वर्ण भी समान होने चाहिये। परन्तु ब्राह्मण लोग चारों वर्णों को समान नहीं मानते हैं । तथा ब्रह्म के मुख आदि अङ्गों से चारों वर्णों की उत्पत्ति आज कल क्यों नहीं होती ? अतः यह कल्पना युक्ति रहित होने के कारण अप्रमाण है। एवं जाति अनित्य है यह ब्राह्मण धर्म का भी सिद्धान्त है जैसे कि -

"श्रृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते"
"सद्यः पतति मांसेन, लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेन शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जिसके शरीर में विष्ठा लगा रहता है वह मृत व्यक्ति विष्ठा सहित जलाये जाने पर श्रृगाल योनि को प्राप्त करता है । तथा जो ब्राह्मण मांस चमड़ा और नमक बेचता है वह शीघ्र ही पतित हो जाता है एवं दूध बेचने वाला ब्राह्मण तो तीन ही दिन में शूद्र हो जाता है । इत्यादि वाक्यों में जाति का नाश होना ब्राह्मण धर्म में भी कहा है एवं परलोक में तो जाति भ्रंश हो ही जाता है । जैसे कि -

"कायिकैः कर्मणां दोषैः, याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां, मानसै रन्त्यजातिताम्" ।

अर्थात् जो जीव शरीर से पाप करता है वह स्थावर योनि को प्राप्त करता है और जो वाणी से पाप करता है वह पक्षी तथा मृग आदि होता है एवं जो मानसिक पाप करता है वह चाण्डाल जाति में जन्म लेता है। अतः जाति अनित्य है यह निश्चित है फिर जो मनुष्य इस अनित्य जाति को पाकर मद करता है उससे बढ़कर मूर्ख कौन है ? इसके सिवाय ब्राह्मणगण पशु हिंसा को धर्म का अङ्ग मानते हैं यह भी ब्राह्मणत्व के अनुकूल कार्य्य नहीं है । अतः हिंसा के समर्थक मांस भोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक की प्राप्ति होती है यह आर्द्रकुमारमुनि का आशय है ।। ४५ ॥

दुहओवि धम्मंमि समुट्ठियामो, अस्सिं सुट्ठिच्चा तह एसकालं।
आयारसीले बुइएह णाणी, ण संपरायंमि विसेसमत्थि।। ४६ ॥

कठिन शब्दार्थ - **समुट्ठियामो** - समुपस्थित होते हैं, **संपरायम्मि** - सम्पराय-संसार में, **आयारसीले** - आचारशील।

भावार्थ - एक दण्डी लोग आर्द्रकमुनि से कहते हैं कि - हम और तुम दोनों ही धर्म में प्रवृत्त हैं। हम दोनों भूत वर्तमान और भविष्य तीनों काल में धर्म में स्थित हैं। हमारे दोनों के मत में आचारशील पुरुष ज्ञानी कहा गया है तथा हमारे और तुम्हारे मत में संसार के स्वरूप में भी कोई भेद नहीं है ॥ ४६ ॥

विवेचन - आर्द्रकुमार मुनि जब ब्राह्मणों को पूर्वोक्त प्रकार से परास्त करके आगे जाने के लिये तैयार हुए तब उनके पास एकदण्डी लोग आये और वे कहने लगे कि हे आर्द्रकुमार ! सब प्रकार के आरम्भों को करने वाले मांसाहारी विषय भोग में रत गृहस्थ ब्राह्मणों को परास्त करके तुमने अच्छा किया है। अब तुम हमारा सिद्धान्त सुनो और उसे हृदय में धारण करो । सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है और महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है उस अहंकार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं। उन सोलह गणों में पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये सब मिलकर चौबीस पदार्थ हैं और पचीसवाँ पुरुष है वह चेतन स्वरूप है। इस प्रकार उक्त २५ तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है यही हमारा सिद्धान्त है । इस हमारे सिद्धान्त के साथ आर्हत् सिद्धान्त का बहुत भेद नहीं है किन्तु अधिकांश में तुल्यता है। आप लोग जीव, पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को स्वीकार करते हैं और हम भी इनका अस्तित्व मानते हैं एवं हम लोग जिन अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह को यम कह कर स्वीकार करते हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप लोग उन्हें ही पञ्च महाव्रत कहते हैं। इसी तरह इन्द्रिय और मन को नियम में रखना हमारा और आपका दोनों का सिद्धान्त है अतः हमारे दोनों के मतों की बहुत समता है। वस्तुतः हम और आप ये दो ही सच्चे धर्म में स्थित हैं तथा भूत वर्तमान और भविष्य तीनों ही काल में अपनी प्रतिज्ञा को पालने वाले हैं। एवं हम दोनों के यहां आचार प्रधान शील सबसे उत्तम माना गया है जो शील यम नियमादि रूप है । तथा हम दोनों के ही शास्त्रों में श्रुत ज्ञान या केवलज्ञान को मोक्ष का कारण माना है। एवं संसार का स्वरूप जैसा आपके शास्त्र में माना जाता है वैसा ही हमारे शास्त्र में भी माना गया है। हमारा शास्त्र कहता है कि - अत्यन्त असत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती है किन्तु कारण में कथञ्चित् स्थित ही उत्पन्न होती है और आप भी यही मानते हैं तथा द्रव्य रूप से संसार को आप नित्य मानते हैं और हम भी उसे नित्य कहते हैं। यद्यपि आप संसार की उत्पत्ति और नाश भी मानते हैं तथापि आपके साथ हमारा अधिक भेद नहीं हैं क्योंकि हम भी संसार का आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं ।। ४६ ॥

अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूएसु वि सव्वओ से, चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ।। ४७ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अव्वत्तरूवं** - अव्यक्तरूप, **सणातणं** - सनातन, **अक्खयं** - अक्षय और, **अव्वयं** - अव्यय, **समत्तरूवे** - समस्त रूप।

भावार्थ - यह पुरुष यानी जीवात्मा अव्यक्त है यानी यह इन्द्रिय और मन का विषय नहीं है तथा यह सर्वलोक व्यापक और सनातन यानी नित्य है। यह क्षय और नाश से रहित है। यह जीवात्मा सब भूतों में सम्पूर्ण रूप से रहता है जैसे चन्द्रमा सम्पूर्ण ताराओं के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्बन्ध करता है ॥ ४७ ॥

विवेचन- एक दण्डी लोग आर्हत् मत से अपने मत की तुल्यता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि - शरीर को पुर कहते हैं और उस शरीर में जो निवास करता है उसे पुरुष कहते हैं वह जीवात्मा है उसे जैसे आर्हत लोग स्वीकार करते हैं उसी तरह हम लोग भी स्वीकार करते हैं। वह जीवात्मा इन्द्रिय और मन से जानने योग्य न होने से अव्यक्त है। वह स्वतः कर(हाथ), चरण(पैर), शिर और ग्रीवा(गर्दन) आदि अवयवों से युक्त नहीं है। वह सर्व लोकव्यापी और नित्य है। यद्यपि उसकी नाना योनियों में गति होती है तथापि उसके चैतन्य रूप का कभी भी विनाश नहीं होता है अतः वह नित्य है। उसके प्रदेशों को कोई खण्डित नहीं कर सकता है इसलिये वह अक्षय है। अनन्त काल व्यतीत होने पर भी उसके एक अंश का भी नाश नहीं होता है इसलिये वह अव्यय है। जैसे चन्द्रमा अश्विनी आदि नक्षत्रों के साथ पूर्ण रूप से सम्बन्ध करता है इसी तरह यह आत्मा शरीर रूप से परिणत सब भूतों के साथ पूर्णरूप से सम्बन्ध करता है किन्तु एक अंश से नहीं क्योंकि वह निरंश है। इस प्रकार आत्मा के ये सब विशेषण हमारे दर्शन में ही पूर्णरूप से कहे गये हैं, आर्हत दर्शन में नहीं, यह हमारे धर्म की आर्हत दर्शन से विशेषता है, अतः हे आर्द्रकुमार ! तुमको हमारे धर्म में ही आना चाहिये, आर्हत धर्म में नहीं। यह एकदण्डियों ने आर्द्रकमुनि से कहा ।। ४७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं ण मिज्जंति ण संसरंति, ण माहणा खत्तिय वेस पेसा ।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य, णरा य सव्वे तह देवलोगा ।। ४८ ॥

कठिन शब्दार्थ - मिज्जंति - माप (तुल्यता) करना, **संसरंति**- परिभ्रमण करते हैं, **वेस** - वैश्य (वणिक), **पेसा** - प्रेष्य (क्षुद्र), **कीडा** - कीट, **पक्खी** - पक्षी, **सरीसिवा** - सरीसृप।

भावार्थ- मुनि आर्द्रकुमार कहते हैं कि हे एकदण्डियो! तुम्हारे सिद्धान्तानुसार सुभग तथा दुर्भग आदि भेद नहीं हो सकते हैं तथा जीव का अपने कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में जाना भी सिद्ध नहीं हो सकता है। एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूप भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है एवं कीट पक्षी और सरीसृप इत्यादि गतियाँ भी सिद्ध न होगी। एवं मनुष्य तथा देवता आदि गतियों के भेद भी सिद्ध न होंगे॥ ४८ ॥

विवेचन - आर्द्रकुमार मुनि एक दण्डियों के वाक्य को सुन कर उनका समाधान देते हुए कहते हैं कि - आप के साथ हमारे सिद्धान्त की एकता नहीं है। आप एकान्तवादी और हम अनेकान्तवादी हैं। आप आत्मा को सर्व व्यापक मानते हैं और हम उसे शरीर मात्र व्यापी मानते हैं । इस प्रकार जैसे आत्मा के विषय में हमारा और आपका एक मत नहीं है इसी तरह संसार के स्वरूप के विषय में हमारा और आपका एक मत नहीं है आप कहते हैं कि- सभी पदार्थ प्रकृति से सर्वथा अभिन्न हैं और हम कहते हैं कि कारण में कार्य्य द्रव्यरूप से रहता है परन्तु पर्य्यायरूप से नहीं रहता है। यह हमारा और आपका महान् भेद है। आपके मत में कार्य्य, कारण में सर्वात्मरूप से विद्यमान् है परन्तु हमारे मत में सर्वात्मरूप से नहीं है। एवं हमारे मत में सभी सत् पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त माने गये हैं परन्तु आप ऐसा नहीं मानते हैं। आप लोग समस्त सत् पदार्थों को ध्रौव्य युक्त ही मानते हैं । यद्यपि आपने पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव भी माना है तथापि वे आविर्भाव और तिरोभाव उत्पत्ति और नाश के बिना हो नहीं सकते हैं अतः आपके साथ हमारा ऐहिक और पारलौकिक किसी भी पदार्थ के विषय में मतैक्य नहीं है । आप लोग आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं परन्तु यह मान्यता युक्ति से सिद्ध नहीं होती है क्योंकि चैतन्य रूप आत्मा का गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता है वह शरीर में ही पाया जाता है इसलिये आत्मा को सर्वव्यापी न मान कर उसे शरीरमात्रव्यापी ही मानना उचित है। जो वस्तु आकाश की तरह सर्व व्यापक है उसकी गति होना संभव नहीं है परन्तु यह आत्मा कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में जाता है यह आप भी मानते हैं फिर यह सर्व व्यापक कैसे हो सकता है ? आप आत्मा में किसी प्रकार का विकार होना नहीं मानते हैं उसे सदा एक रूप एक रस बतलाते हैं ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न गतियों में उसका परिवर्तन होना किस प्रकार संभव है ? इस जगत में कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई धनवान, कोई निर्धन, कोई बालक, कोई युवा और कोई वृद्ध इत्यादि रूप से नाना भेद वाले देखे जाते हैं। वे भेद आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर तथा एक ही आत्मा मानने पर बन नहीं सकते हैं अतः आत्मा को सर्वव्यापी कूटस्थ तथा एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अलग-अलग सुख-दुःख भोगते हैं अतः आत्मा भिन्न-भिन्न है और आत्मा का गुण चैतन्य शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में ही पाया जाता है अन्यत्र नहीं इसलिये वह शरीर मात्र व्यापी है तथा कारण में कार्य्य द्रव्यरूप से रहता है और पर्य्याय रूप से नहीं रहता है । आत्मा नाना गतियों में जाता है इसलिये वह परिणामी है कूटस्थ नित्य नहीं है इत्यादि आर्हत सिद्धान्त ही युक्तियुक्त और मानने के योग्य है साङ्ख्य और आत्माऽद्वैतवाद नहीं, यह आर्द्रकुमार मुनि का आशय है ।। ४८ ॥

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरंमि अणोरपारे ।। ४९ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अयाणित्ता** - न जान कर, **इह** - यहाँ, **केवलेणं** - केवलज्ञान से, **णट्ठा** - नष्ट, **घोरंमि** - घोर, **अणोरपारे** - आर पार रहित।

भावार्थ - इस लोक को केवल ज्ञान के द्वारा न जान कर जो अज्ञानी धर्म का उपदेश करते हैं वे स्वयं नष्ट जीव अपने को तथा दूसरे को भी अपार तथा भयंकर संसार में परिभ्रमण करवाते हैं ॥ ४९ ॥

विवेचन - मुनि आर्द्रकुमार कहते हैं कि - जो पुरुष केवलज्ञानी नहीं है वह वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं जान सकता है क्योंकि वस्तु के सत्य स्वरूप का ज्ञान केवलज्ञान से ही प्राप्त होता है। अतः केवलज्ञानी तीर्थंकरों ने जो उपदेश दिया है वही जीवों के कल्याण का मार्ग है दूसरे सब अनर्थ है। अतः जिसने केवल ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है और केवलज्ञानी के द्वारा कहे हुए पदार्थों पर श्रद्धा भी नहीं रखता है वह पुरुष धर्मोपदेश देने के योग्य नहीं है। ऐसे मनुष्य जो उपदेश देते हैं उससे जगत् के जीवों की भारी हानि होती है क्योंकि उनके विपरीत उपदेश से जीव विपरीत आचरण करके संसार सागर में सदा के लिये बद्ध हो जाते हैं। अतः ऐसे मूर्ख जीव स्वयं तो नष्ट हैं ही साथ ही अन्य जीवों का भी नाश करते हैं ।। ४९ ॥

लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुण्णेण णाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाणं परं च तिण्णा ।। ५० ॥

कठिन शब्दार्थ - **विजाणंति** - जानते हैं, **समाहिजुत्ता** - समाधि युक्त, **तारंति** - तारते हैं, **तिण्णा** - तीर्ण-तिर गये हैं।

भावार्थ - समाधि युक्त जो पुरुष पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा इस लोक के वास्तविक स्वरूप को जानते हैं और सच्चे धर्म का उपदेश देते हैं वे पाप से पार हुए पुरुष अपने को और दूसरे को भी संसार सागर से पार करते हैं ॥ ५० ॥

विवेचन - मुनि आर्द्रकुमार इस गाथा के द्वारा यह बतलाते हैं कि जो पुरुष केवलज्ञानी हैं वे ही वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानते हैं अतः वे पुरुष ही जगत् के हित के लिये सच्चे धर्म का उपदेश देकर अपने को तथा दूसरों को भी संसार सागर से पार करते हैं। परन्तु जो पुरुष केवली नहीं है वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता न होने के कारण मन माने तौर से आचरण करता हुआ स्वयं भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बिगड़ता है और बुरा उपदेश देकर दूसरे प्राणी को भी खराब करता है। जैसे सच्चे मार्ग को जानने वाला पुरुष ही घोर जंगल से अपने को पार करता है और उपदेश देकर दूसरों को भी पार करता है परन्तु जो मार्ग का ज्ञाता नहीं है और मार्ग जानने वाले के उपदेश को भी नहीं मानता है वह उस घोर जंगल में भटकता फिरता है। अतः कल्याणार्थी मनुष्य को केवलज्ञानी तीर्थंकरों के बताये हुए मार्ग से ही चलना चाहिये ।। ५० ॥

जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मईए, अहाउसो विप्परियासमेव ।। ५१ ॥

कठिन शब्दार्थ - गरहियं - गर्हित, **ठाणं** - स्थान में, **चरणोववेया** - चारित्र संपन्न, **इह** - यहाँ, **आवसंति** - रहते हैं, **उदाहडं** - कहा हुआ, **मईए** - अपनी बुद्धि से।

भावार्थ - मुनि आर्द्रकुमार कहते हैं कि इस लोक में जो पुरुष निन्दनीय आचरण करते हैं और जो पुरुष उत्तम आचरण का पालन करते हैं उन दोनों के अनुष्ठानों को असर्वज्ञ जीव अपनी इच्छा से समान बतलाते हैं। अथवा हे आयुष्मन् ! वे शुभ अनुष्ठान करने वालों को अशुभ आचरण करने वाले और अशुभ अनुष्ठान करने वालों को शुभ आचरण करने वाले इस प्रकार विपरीत प्ररूपणा करते हैं ॥ ५१ ॥

विवेचन - जो पुरुष अशुभ कर्म के उदय से अज्ञानी पुरुषों द्वारा आचरण किये हुए बुरे मार्ग का आश्रय लेकर असत् आचरण करते हैं तथा जो सर्वज्ञोक्त मार्ग का आश्रय लेकर उत्तम चारित्र का आचरण करते हैं इन दोनों के आचरण यद्यपि समान नहीं है किन्तु पहले का अशुभ और पिछले का शुभ होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं तथापि अज्ञानी जीव इन दोनों को समान ही बतलाते हैं तथा कोई अज्ञानी तो पूर्वोक्त असत्य अनुष्ठान वाले के आचरण को शुभ बतलाते हैं, वस्तुतः यह उनकी अपनी बुद्धि की कल्पना मात्र है वस्तु स्थिति नहीं है ।। ५१ ॥

संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्तिं पकप्पयामो ।। ५२ ॥

कठिन शब्दार्थ - **संवच्छरेण** - वर्ष भर में, **बाणेण** - बाण से, **महागयं** - बड़े हाथी को, **दयट्ठयाए** - दया के लिए।

भावार्थ - हस्तितापस कहते हैं कि - हम लोग शेष जीवों की दया के लिये वर्ष भर में बाण के द्वारा एक बड़े हाथी को मार कर वर्ष भर उसके मांस से अपना निर्वाह करते हैं ॥ ५२ ॥

विवेचन - पूर्वोक्त प्रकार से एकदण्डियों को परास्त करके जब आर्द्रकुमारमुनि भगवान् महावीर स्वामी के पास जाने लगे तो हस्तितापसों ने आकर उन्हें घेर लिया और वे कहने लगे कि हे आर्द्रकुमार! बुद्धिमान् मनुष्यों को सदा अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिये । वे जो कन्द मूल फल आदि को खाकर अपना निर्वाह करने वाले तापस हैं वे बहुत से स्थावर प्राणियों को तथा उनके आश्रित अनेक जङ्गम प्राणियों का नाश करते हैं । गुलर आदि फलों में बहुत से जङ्गम प्राणी निवास करते हैं इसलिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुलर आदि फलों को खाने वाले तापस उन अनेक जङ्गम जीवों का विनाश करते हैं तथा जो लोग भिक्षा से अपनी जीविका चलाते हैं वे भी भिक्षा के लिये इधर उधर जाते आते समय अनेक कीडी आदि प्राणियों का मर्दन करते हैं तथा भिक्षा की कामना से उनका चित्त भी दूषित हो जाता है अतः हम लोग वर्षभर में एक महान् हाथी को मार कर उसके मांस से वर्ष भर अपना निर्वाह करते हैं और शेष जीवों की रक्षा करते हैं। अतः हमारे धर्म के आचरण करने से अनेक प्राणियों की रक्षा और एक प्राणी का विनाश होता है इसलिये यही धर्म सबसे श्रेष्ठ है आप भी इसे स्वीकार करें ।। ५२ ॥

संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणोऽवि तम्हा ।। ५३ ॥

कठिन शब्दार्थ - **अणियत्तदोसा** - दोष से निवृत्त नहीं है **वहेण** - जीवों की घात से, **लग्गा** - संलग्न।

भावार्थ - वर्ष भर में एक एक प्राणी को मारने वाले पुरुष भी दोष रहित नहीं है। क्योंकि शेष जीवों के घात में प्रवृत्ति न करने वाले गृहस्थ भी दोष वर्जित क्यों न माने जावेंगे ॥ ५३ ॥

विवेचन - मुनि आर्द्रकुमार हस्तितापसों से कहते हैं कि - एक वर्ष में एक प्राणी को मारने वाला पुरुष भी हिंसा के दोष से रहित नहीं है । उस पर भी हाथी जैसे पंचेन्द्रिय महाकाय प्राणी को मारने वाले तो किसी भी दृष्टि से दोष रहित नहीं है । जो पुरुष साधु हैं वे सूर्य्य की किरणों से प्रकाशित मार्ग में युगमात्र दृष्टि रख कर चलते हैं । वे ईर्य्यासमिति से युक्त होकर बयालिस दोषों को वर्जित करके आहार ग्रहण करते हैं । वे लाभ और अलाभ में समान वृत्ति रखते हैं अतः उनके द्वारा कीड़ी आदि प्राणियों का घात नहीं होता है तथा आशंसा का दोष भी नहीं लगता है। आप लोग अल्प जीवों के घात से पाप होना नहीं मानते हैं परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि गृहस्थ भी क्षेत्र और काल से दूरवर्ती प्राणियों का घात नहीं करते हैं ऐसी दशा में अन्य प्राणियों के घातक होने से गृहस्थ को भी आप दोष रहित क्यों नहीं मानते ? अतः जैसे गृहस्थ दोष वर्जित नहीं है उसी तरह आप भी दोष रहित नहीं है ।। ५३ ॥

संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता समणव्वएसु ।
आयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसे केवलिणो भवंति ॥ ५४ ॥

कठिन शब्दार्थ - **समणव्वएसु** - श्रमणों के व्रत में, **अणज्जे**- अनार्य, **केवलिणो** - केवली।

भावार्थ - जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्ष भर में भी एक-एक प्राणी को मारता है वह अनार्य्य कहा गया है ऐसे पुरुष को केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ५४ ॥

विवेचन - मुनि आर्द्रकुमार हस्तितापसों से कहते हैं कि- जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित हो कर भी प्रति वर्ष एक एक प्राणी का घात करते हैं और दूसरों को इस कार्य्य का उपदेश देते हैं वे अपने और दूसरे का अहित करने वाले अज्ञानी हैं । वर्ष भर में एक प्राणी के घात करने से एक प्राणी का ही घात नहीं होता किन्तु उस प्राणी के मांस आदि में रहने वाले अनेक प्राणियों का तथा उसके मांस को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पकाने में अनेक स्थावर और जङ्गम प्राणियों का भी घात होता है इसलिये वे जो वर्ष भर में एक प्राणी के घात की बात कहते हैं यह भी वास्तव में मिथ्या है । वे अहिंसा के उपासक नहीं है । अहिंसा की उपासना तो एक मात्र माधुकरी वृत्ति से ही होती है परन्तु यह मूर्खों के समझ में नहीं आता है । ऐसे हिंसामय कार्य्य करने वाले मिथ्याचारी जीवों को ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं होती है अतः मनुष्य को इन दूषित मार्गों का आश्रय कदापि नहीं लेना चाहिये । इस प्रकार हस्तितापसों को परास्त करके आर्द्रकुमार मुनि भगवान् महावीर स्वामी के पास आये ।।५४॥

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा।। ५५॥ त्तिबेमि
इति अद्दइज्जणामं छट्ठमज्झयणं समत्तं।।

कठिन शब्दार्थ - **बुद्धस्स** - तीर्थंकर की, **आणाए** - आज्ञा में, **तरिउं** - तैर कर, **महाभवोघं**- भवरूपी महान् प्रवाह वाले।

भावार्थ - तत्त्वदर्शी भगवान् की आज्ञा से इस शान्तिमय धर्म को अङ्गीकार करके और इस धर्म में अच्छी तरह स्थित होकर तीनों करणों से मिथ्यात्व की निन्दा करता हुआ पुरुष अपनी तथा दूसरे की रक्षा करता है। महादुस्तर समुद्र की तरह संसार को पार करने के लिये विवेकी पुरुषों को सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप धर्म का वर्णन और ग्रहण करना चाहिये॥ ५५ ॥

विवेचन - जो पुरुष केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी की आज्ञा से इस उत्तम धर्म को स्वीकार करके मन, वचन और काया से इसका भली भांति पालन करता है तथा समस्त मिथ्या दर्शनों की तीनों करणों से निन्दा करता है वह पुरुष इस घोर संसार से अपनी और दूसरे की भी रक्षा करता है तथा वही केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी होता है। इस संसार को पार करने का एक मात्र उपाय सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र ही है इसलिये जो पुरुष इनको धारण करने वाला है, वही सच्चा साधु है। वह पुरुष अपने सम्यग्दर्शन के प्रभाव से परतीर्थियों की तपः समृद्धि को देख कर जैन दर्शन से भ्रष्ट नहीं होता है और सम्यग् ज्ञान के प्रभाव से वह परतीर्थियों को परास्त करके उन्हें पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का उपदेश देता है तथा सम्यक् चारित्र के प्रभाव से वह समस्त जीवों का हितैषी होकर अपने आस्रव द्वारों को रोक देता है वह अपनी विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से अपने अनेक जन्म के कर्मों को नष्ट कर देता है अतः ऐसे उत्तम धर्म को ही विद्वान् पुरुष स्वयं ग्रहण करते हैं और दूसरों को भी इसे ग्रहण करने की शिक्षा देते हैं ।।५५॥

त्ति बेमि - इति ब्रवीमि - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि - हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

।। छठा अध्ययन समाप्त॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नालंदीय नामक सातवां अध्ययन

उत्थानिका - छठे अध्ययन के पश्चात् सप्तम अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है। पूर्व के अध्ययन में साधुओं के आचार का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। परन्तु श्रावकों के आचार का वर्णन नहीं किया गया है। अतः श्रावकों का आचार बताने के लिये इस सातवें अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का नाम नालंदीय है। राजगृह के बाहर नालंदा नामका स्थान है। उसमें जो घटना हुई है उसे "नालंदीय" कहते हैं। उस स्थान का नाम नालंदा होने से ज्ञात होता है कि - वह स्थान याचकों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला था। क्योंकि "नालंदा" शब्द का यही अर्थ व्युत्पत्ति से निकलता है।

"न अलं ददाति इति नालन्दा"

यह नालन्दा शब्द की व्युत्पत्ति है। इसमें न (नकार) और अलं शब्द दोनों ही निषेधार्थक हैं। दान शब्द "दा" धातु (दानार्थक) से बना है। संस्कृत का नियम है - "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थमनुसरतः" अर्थात् निषेधवाची दो शब्द प्रकृत अर्थ अर्थात् विधि अर्थ को कहते हैं। इसलिये नालन्दा शब्द का यह अर्थ हुआ कि - जो याचकों को उनकी इच्छा के अनुसार अवश्य दान देवें। यह नालन्दा शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है।

नालन्दा उस युग में जैन और बौद्ध दोनों परंपराओं में राजगृह नगर का उपनगर था। नालन्दा शब्द का अर्थ भी गौरवपूर्ण है - जहाँ श्रमण, ब्राह्मण, परिव्राजक आदि किसी भी भिक्षाचर के लिये दान का निषेध नहीं था अपितु याचक की इच्छा के अनुसार प्रचुर मात्रा में दान दिया जाता था।

राजा श्रेणिक तथा बड़े-बड़े सामन्त एवं सेठ सार्थवाह आदि नरेन्द्रों का निवास होने के कारण उसका नाम 'नारेन्द्र' भी प्रसिद्ध था। जो मागधी भाषा के उच्चारण के अनुसार 'नालेंद' पड़ा बाद में ह्रस्व उच्चारण के कारण 'नालिंद' तथा इकार के स्थान में अकार हो जाने से 'नालन्द' हुआ। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के यहाँ १४ चातुर्मास होने के कारण इस उपनगर का गौरव और महत्त्व बहुत बढ़ गया। इस कारण भी इस अध्ययन का नाम नालन्दीय रखा जाना स्वाभाविक है। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम के साथ पुरुषादानीय भगवान् पारसनाथ की परम्परा के निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र की जो धर्मचर्चा हुई है उसका वर्णन इस अध्ययन में होने से इसका नाम 'नालन्दीय' रखा गया है।

इस अध्ययन में सर्वप्रथम धर्मचर्चा का स्थान बतलाने के लिए राजगृह, नालन्दा, श्रमणोपासक लेप गाथापति, उसके द्वारा निर्मित 'शेषद्रव्या' नामक उदक शाला (प्याऊ) तथा उसके निकटवर्ती हस्तियाम वनखण्ड और वनखण्ड के अन्दर आये हुए मनोरम उद्यान का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी और निर्ग्रन्थ उदक पेढाल पुत्र की धर्मचर्चा का प्रश्नोत्तर के रूप में वर्णन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म चर्चा मुख्यतया श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में है। जिसके मुख्य दो मुद्दे उदक निर्ग्रन्थ की ओर से प्रश्न के रूप में उपस्थित किये गये हैं -

१. श्रमणोपासक द्वारा ग्रहण किये जाने वाला त्रस वध प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। क्योंकि उसका पालन संभव नहीं है। क्योंकि त्रसजीव मरकर स्थावर हो जाते हैं और स्थावर जीव मरकर त्रस जीव हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में त्रस स्थावर का निर्णय करना कठिन हो जाता है इसलिये क्या त्रस के बदले 'त्रस भूत' शब्द का प्रयोग नहीं होगा ? त्रसभूत का अर्थ है - वर्तमान में जो जीव त्रस पर्याय में हैं उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान तथा २. सभी त्रस जीव यदि कदाचित् स्थावर हो जायेंगे तो श्रमणोपासक का त्रसवध प्रत्याख्यान निरर्थक और निर्विषय हो जायेगा।

इन दोनों प्रश्नों का उत्तर श्री गौतमस्वामी द्वारा अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा विस्तारपूर्वक दिया गया है। अन्त में निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में आत्म समर्पण करके पञ्चमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लेते हैं। यह सब रोचक वर्णन इस अध्ययन में है।

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था, रिद्धित्थिमियसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे, तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं णालंदा णामं बाहिरिया होत्था, अणेगभवणसयसण्णिविट्ठा जाव पडिरूवा ।। ६८।।

कठिन शब्दार्थ - रिद्धित्थिमियसमिद्धे - ऋद्धि (ऐश्वर्यशाली) शान्त और समृद्ध, **बाहिरिया** - बाहिरिका (उपनगर-छोटा गांव) **अणेगभवणसयसण्णिविट्ठा** - अनेक (सैकडों) भवनों से सुशोभित।

भावार्थ - इस सूत्र में राजगृह नगर का वर्णन जैसा किया है वैसा वह इस समय नहीं पाया जाता है किन्तु किसी समय वह वैसा अवश्य था इसी अर्थ को बताने के लिये मूल में "**तेणं कालेणं तेणं समएणं**" कहा है अर्थात् जिस समय राजगृह नगर इस सूत्र में कहे हुए विशेषणों से युक्त था उस काल उस समय के अनुसार ही यहाँ वर्णन किया जाता है। इसलिये अब वैसा न होने पर भी इस वर्णन को मिथ्या नहीं जानना चाहिये यह आशय है। किस काल में वह राजगृह नगर वैसा था ? यह तो गौतम स्वामी के समय से ही निश्चित हो जाता है। इसलिये जिस समय भगवान् महावीर स्वामी और गौतम स्वामी वर्तमान थे उस समय राजगृह नगर बहुत विस्तृत और अनेक गगनचुम्बी भवनों से सुशोभित तथा धन धान्य आदि से परिपूर्ण था उस नगर के बाहर उत्तर और पूर्व दिशा में नालन्दा नामक एक छोटा ग्राम था वह ग्राम भी बड़ा ही मनोहर और अनेक उत्तमोत्तम भवनों से सुशोभित था ।। ६८ ॥

तत्थ णं णालंदाए बाहिरियाए लेवे णामं गाहावई होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्ण-विपुलभवणसय-णासणजाणवाहणाइण्णे बहुधण-बहुजायरूवरयए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासी-दासगोमहिस-गवेलगप्पभूए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था ।। से णं लेवे णामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था, अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ, णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिए, णिक्कंखिए, णिव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, विणिच्छियट्ठे, अभिगहियट्ठे, अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे चियत्तंतेउरप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे णिग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुण-विरमणपच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ ।। ६९ ।।

कठिन शब्दार्थ - **लेवे** - लेप **अड्ढे** - आढ्य **दित्ते** - दीप्त-तेजस्वी **वित्ते** - वित्त-प्रसिद्ध **विच्छिण्णविपुलभवणसय-णासणजाणवाहणाइण्णे** - विस्तीर्ण विपुल भवन, शयन, आसन, यान और वाहन से आकीर्ण, **बहुधणबहुजायरूवरयए** - बहुत धन और बहुत चांदी सोने वाला, **आओगपओगसंपउत्ते** - आयोग प्रयोग संपयुक्त-धन उपार्जन के उपायों में कुशल **विच्छड्डियपउरभत्तपाणे**- विच्छर्दित प्रचुर भक्तपान-प्रचुर मात्रा में भोजन पानी वितरण करने वाला, **बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए** - अनेक दासी, दास, गाय, भैंस और भेडों वाला, **सीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं** - शीलव्रत और गुणव्रत, विरमण प्रत्याख्यान और पौषधोपवास के द्वारा।

भावार्थ - पहले जिसका वर्णन किया गया है उस नालंदा ग्राम में एक बड़ा धनवान् लेप नामक गृहस्थ निवास करता था । वह श्रमणों की उपासना करने वाला श्रावक था । वह जीव और अजीव तत्त्व को भली-भांति जानने वाला सम्यग् ज्ञानी था । अतः वह अकेला भी समस्त देवता और असुरों से भी धर्म से विचलित किया जाने योग्य नहीं था। आर्हत् प्रवचन में उसकी जरा भी शंका न थी। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि-वही सत्य और शंका रहित है जो तीर्थंकरों द्वारा उपदेश किया गया है तथा अन्य दर्शन के प्रति उसका बिलकुल अनुराग नहीं था। उसकी हड्डी और मज्जाओं में निर्ग्रन्थ प्रवचन का अनुराग भरा हुआ था। यदि उससे कोई धर्म के विषय में प्रश्न करता तो वह यही उत्तर दिया करता था कि-यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य प्रवचन है और यही मनुष्य को कल्याण का मार्ग बताने वाला है शेष सब अनर्थ है । इस प्रकार निर्मल श्रावक व्रत के पालन करने से उसका निर्मल यश जगत् में सर्वत्र फैला हुआ था और अन्य तीर्थी उसके घर पर आकर चाहे कितना ही प्रयत्न करे परन्तु उसका एक मामूली दास भी सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट नहीं किया जा सकता था इस कारण उसके घर का द्वार खुला रहता था अन्यतीर्थियों के भय से बन्द नहीं किया जाता था। जहाँ अन्यजनों का प्रवेश सर्वथा वर्जित है ऐसे राजाओं के अन्तःपुरों में भी उसका प्रवेश बन्द नहीं था क्योंकि श्रावक के सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण वह परम विश्वास पात्र था। उसके प्रति किसी प्रकार की शंका किसी को नहीं होती थी। वह चतुर्दशी अष्टमी पूर्णिमा एवं दूसरी शास्त्रोक्त कल्याणकारिणी तिथियों में आहार शरीरसत्कार और अब्रह्मचर्य्य का त्याग करता हुआ परिपूर्ण देश चारित्र का पालन करता था । वह श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक और एषणीय आहार आदि देता हुआ तथा पौषध और उपवास आदि के द्वारा अपने को पवित्र करता हुआ धर्माचरण करता था ।। ६९ ॥

तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स णालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया णामं उदगसाला होत्था, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा पासाईया जाव पडिरूवा, तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं हत्थिजामे णामं वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ।। ७० ॥

कठिन शब्दार्थ - **सेसदविया** - शेष द्रव्या, **उदगसाला** - उदकशाला (जलशाला), **अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा** - अनेक प्रकार के सैकडों खंभों से युक्त।

भावार्थ - उस लेप नामक गाथापति की नालन्दा से बाहर उत्तर पूर्व दिशा में शेष द्रव्या नामक जलशाला (प्याऊ) थी वह जलशाला अनेक प्रकार के सैकडों खम्भों से युक्त थी तथा वह बड़ी मनोहर और चित्त को प्रसन्न करने वाली बड़ी सुन्दर थी । उस जलशाला के उत्तर पूर्व दिशा में हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था वह वनखण्ड कृष्ण वर्ण वाला था तथा शेष वर्णन उववाई सूत्र में किये हुए वनखण्ड के वर्णन के समान ही जानना चाहिये ।। ७० ॥

तस्सिं च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-आउसंतो ! गोयमा अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो ! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवायं, भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी अवियाइ आउसो सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो सवायं उदये पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी।। ७१ ॥

कठिन शब्दार्थ - **गिहपदेसंमि** - गृहप्रदेश में, **पासावच्चिज्जे**- पार्श्वापत्यीय, **मेयज्जे** - मेदार्य (मेतार्य), **पदेसे** - प्रदेश-प्रश्न, **पुच्छियव्वे** - पूछने हैं, **अहादरिसियं** - यथादर्शित-जैसा आपने निश्चय किया है, **सवायं** - सवाद-वादसहित ।

भावार्थ - इस वन खण्ड के गृह प्रदेश में भगवान् गौतम स्वामी विचरते थे। भगवान् गौतम स्वामी बगीचे में विराजमान थे। इसी अवसर में उदक पेढाल पुत्र जो भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्यानुशिष्य थे उनका गोत्र मैदार्य (मेतार्य) था। भगवान् गौतमस्वामी के पास आये आकर इस प्रकार कहा कि - ' हे आयुष्मन् गौतम! मुझे आपसे कुछ प्रश्न पूछने हैं। उनको आप ने जैसा सुना है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसा निश्चित किया है वैसा मुझसे वाद सहित कहें तब गौतम स्वामी ने कहा कि हे आयुष्मन् उदक पेढाल पुत्र! आपके प्रश्न को सुन कर और समझ कर यदि मैं जान सकूंगा तो उत्तर दूंगा। तब निर्ग्रन्थ उदक पेढाल पुत्र ने विनयपूर्वक इस प्रकार प्रश्न पूछा –

आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया णाम समणा णिग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपण्णं एवं पच्चक्खावेंति-णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइ-चोरग्गहण-विमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवं णं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं णं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अइयरंति सयं पइण्णं, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं धत्तं ।। ७२ ॥

कठिन शब्दार्थ – **पवयमाणा** – निरूपण करते हुए, **उवसंपण्णं** – उवसंपदा के लिये आये हुए, **गाहावइ-चोरग्गहण-विमोक्खणयाए** – गाथापति के चोर ग्रहण (पकड़ने) एवं छोड़ने के न्याय से **पइण्णं** – प्रतिज्ञा को, **अइयरंति** – उल्लंघन करते हैं, **पच्चायंति** – उत्पन्न होते हैं, **विप्पमुच्चमाणा** – छोड़ते हुए ।

भावार्थ – उदक पेढालपुत्र गौतम स्वामी से कहता है कि – हे भगवन् ! आपके अनुयायी कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ, श्रावकों को जिस पद्धति से प्रत्याख्यान कराते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि उस पद्धति से प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता किन्तु भङ्ग होता है । जैसे कि-उनके पास जब कोई श्रद्धालु गृहस्थ प्रत्याख्यान करने की इच्छा प्रकट करता है तब वे इस प्रकार प्रत्याख्यान उसे कराते हैं कि – "राजा आदि के अभियोग को छोड़कर (गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणन्याय से) त्रस प्राणी को दण्ड देने का त्याग है" परन्तु इस रीति से प्रत्याख्यान कराने पर प्रतिज्ञा नहीं पाली जा सकती है क्योंकि-प्राणी परिवर्तनशील हैं वे सदा एक शरीर में ही नहीं रहते किन्तु भिन्न-भिन्न कर्मों के उदय से भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं अतएव कभी तो त्रस प्राणी त्रस शरीर को त्याग कर स्थावर शरीर में आ जाते हैं और कभी स्थावर प्राणी स्थावर शरीर को त्याग कर त्रस शरीर में आ जाते हैं ऐसी दशा में जिसने यह प्रतिज्ञा की है कि " मैं त्रस प्राणी का घात न करूँगा" वह पुरुष स्थावर शरीर में गये हुए उस त्रस प्राणी को ही अपने घात के योग्य मानता है और आवश्यकतानुसार उसका घात भी कर डालता है फिर उसकी त्रस प्राणी को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा कैसे अभंग रह सकती है। जैसे किसी पुरुष ने प्रतिज्ञा की है कि "मैं नागरिक पुरुष या पशु को नहीं मारूँगा" वह पुरुष यदि नगर से बाहर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गये हुए उस नागरिक पुरुष का घात करे तो वह अपनी प्रतिज्ञा को अवश्य नष्ट करता है इसी तरह जो पुरुष त्रस शरीर को छोड़ कर स्थावर काय में आये हुए त्रस प्राणी को मारता है वह त्रस प्राणी को न मारने की प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। जो त्रस प्राणी स्थावर काय में आते हैं उनमें कोई ऐसा चिह्न नहीं होता जिससे उनकी पहिचान हो सके ऐसी दशा में जिसको दण्ड न देने की प्रतिज्ञा की गई थी उसी को दण्ड दिया जाता है इसलिये त्रस प्राणी को न मारने का जो प्रत्याख्यान करना है वह दुष्प्रत्याख्यान करना है और उक्त रीति से प्रत्याख्यान कराना भी दुष्प्रत्याख्यान कराना है ।।७२॥

एवं णं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ, एवं णं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णाइयरंति सयं पइण्णं, णण्णत्थ अभिओगेणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति अयंवि णो उवएसे णो णेयाउए भवइ, अवियाइं आउसो ! गोयमा ! तुब्भं वि एवं रोयइ ?॥७३॥

कठिन शब्दार्थ - **तसभूएहिं** - त्रस भूतों से, **भासाए** - भाषा, **परिक्कम्मे** - परिकर्म होने पर, **उवएसे** - उपदेश, **णेयाउए**- न्याय युक्त ।

भावार्थ - उदक पेढाल पुत्र गौतम स्वामी से कहता है कि जो लोग त्रस प्राणी को मारने का त्याग करते हैं और जो कराते हैं उन दोनों की त्याग पद्धति अच्छी नहीं है यह पूर्व पाठ में बता दिया गया है अतः मैं जो प्रत्याख्यान की पद्धति बताता हूँ उसके अनुसार प्रत्याख्यान करना निर्दोष है । वह पद्धति यह है - त्रसपद के आगे 'भूत' पद को जोड़ कर प्रत्याख्यान करने से अर्थात् मुझको त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है ऐसे शब्द प्रयोग के साथ त्याग करने से त्याग का आशय यह होता है कि- जो प्राणी वर्तमान काल में त्रसरूप से उत्पन्न हैं उनको दण्ड देने का त्याग है परन्तु जो वर्तमान काल में त्रस नहीं है किन्तु आगे जाकर त्रसरूप में उत्पन्न होने वाले हैं अथवा जो भूतकाल में त्रस थे उनको मारने का त्याग नहीं है ऐसी दशा में स्थावर पर्य्याय में आये हुए प्राणी को दण्ड देने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती है । अतः आप लोग प्रत्याख्यान वाक्य में केवल त्रस पद का प्रयोग न करके यदि भूत पद के साथ उसका प्रयोग करें अर्थात् त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है ऐसा वाक्य कहें तो प्रतिज्ञा भङ्ग का दोष नहीं आ सकता है। जैसे कोई पुरुष घृत के खाने का त्याग लेकर यदि दधि(दही) खाता है तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता है क्योंकि दधि में घृत होने पर भी वर्तमान में वह घृत नहीं है इसी तरह त्रस पद के उत्तर भूत पद जोड़ देने से भाषा में ऐसी शक्ति आ जाती है जिससे स्थावर प्राणी के पर्य्याय में आये हुए प्राणी के घात से व्रतभंग नहीं होता है। अतः उक्त भाषा में दोष निवारण की शक्ति होते हुए भी जो लोग क्रोध या लोभ के वशीभूत हो कर प्रत्याख्यान के वाक्य में त्रस पद के उत्तर भूत पद का प्रयोग न कर के प्रत्याख्यान कराते हैं वे दोष का सेवन करते हैं। हे गौतम ! क्या प्रत्याख्यान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाक्य में त्रस पद के उत्तर भूत पद को लगाना न्याय संगत नहीं है ? क्या यह पद्धति आपको भी पसन्द है ? मेरी तो धारणा यह है कि इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से स्थावर रूप से उत्पन्न त्रसों के घात होने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती है अन्यथा प्रतिज्ञा भंग होने में कोई सन्देह नहीं है ।। ७३ ॥

सवायं भगवं गोयमे ! उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-आउसंतो ! उदगा णो खलु अम्हे एयं रोयइ, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति णो खलु ते समणा वा णिग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा, जेहिंवि अण्णेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणवि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्प-मुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं ।। ७४ ॥

कठिन शब्दार्थ - **रोयइ** - रुचिकर (अच्छा) लगता है, **अणुतावियं** - ताप को उत्पन्न करने वाली, **अब्भाइक्खंति** - अभ्याख्यान करते हैं, **अघत्तं** - अघात्य-घात करने योग्य नहीं ।

भावार्थ - उदक पेढाल पुत्र के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से पूछे हुए श्री गौतम स्वामी ने वाद के सहित उससे कहा है कि - हे उदक ! तुम जो प्रत्याख्यान की रीति बतला रहे हो वह मुझको पसंद नहीं है। तुम प्रत्याख्यान के वाक्य में त्रस पद के पश्चात् भूत पद का प्रयोग निरर्थक करते हो क्योंकि जिसको त्रस कहते हैं उसी को त्रसभूत भी कहते हैं इसलिये त्रसपद से जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ भूत शब्द के प्रयोग से भी प्रतीत होता है फिर भूत शब्द के जोड़ने का क्या प्रयोजन है ? भूत शब्द के प्रयोग करने से तो उल्टे अनर्थ भी सम्भव है क्योंकि भूत शब्द उपमा अर्थ में भी आता है, जैसे कि- "देवलोकभूतं नगरमिदम्" अर्थात् यह नगर देवलोक के तुल्य है । इस प्रकार 'भूत' शब्द का अर्थ 'उपमा' होने से त्रसभूत पद का त्रस के सदृश अर्थ भी हो सकता है और ऐसा अर्थ होने पर त्रस के सदृश प्राणी के वध का त्याग रूप अर्थ प्रतीत होगा, त्रस प्राणी का त्याग नहीं। परन्तु यह इष्ट नहीं है अतः त्रस पद के उत्तर भूत शब्द का प्रयोग करके जो अर्थ इष्ट नहीं उसके होने का संशय उत्पन्न करना ठीक नहीं है । यदि भूत शब्द का उपमा अर्थ न किया जाय तो उसके प्रयोग का यहां कोई फल नहीं है क्योंकि-उस दशा में भूत शब्द उसी अर्थ का बोधक होगा जिसका त्रस पद बोधक है। जैसे कि- "शीतीभूतमुदकम्" इस वाक्य में 'शीत' पद के उत्तर आया हुआ 'भूत' शब्द 'शीत' शब्द के अर्थ को ही बताता है उससे भिन्न अर्थ को नहीं। यदि वर्तमान अर्थ में 'भूत' शब्द का प्रयोग यहां माना जाय तो भी कुछ फल नहीं है क्योंकि जो जीव वर्तमान काल में त्रस के शरीर में आया है वह सदा इसी शरीर में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रह नहीं सकता है किन्तु वह स्थावरनाम कर्म के उदय से स्थावरकाय में भी जायगा और वह स्थावरकाय में जाकर उस प्रत्याख्यानी पुरुष के द्वारा घात करने योग्य होगा। फिर उसकी प्रतिज्ञा किस प्रकार अभङ्ग रह सकेगी ? एवं जिसने किसी खास जाति या किसी खास व्यक्ति को न मारने की प्रतिज्ञा की है जैसे कि-मैं ब्राह्मण को न मारूँगा, मैं शूकर को न मारूँगा । वह व्यक्ति यदि ब्राह्मण शरीर और शूकर शरीर को त्याग कर अन्य जाति के शरीर में आये हुए उन प्राणियों का घात करता है तो तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार उसकी प्रतिज्ञा का भंग क्यों नहीं माना जावेगा ? अतः जो लोग त्रस पद के उत्तर 'भूत' शब्द का प्रयोग करके प्रत्याख्यान कराते हैं वे निरर्थक 'भूत' शब्द का प्रयोग करके पुनरुक्ति दोष का सेवन करते हैं तथा उनसे जब कोई यह बात समझाता है तब वे उसके ऊपर नाराज होते हैं और उनके हृदय में ताप उत्पन्न होता है। इसलिये वे निरर्थक और 'अनुतापिनी' भाषा बोलने वाले हैं जो श्रमण निर्ग्रंथों के बोलने योग्य नहीं है तथा जो श्रमण निर्ग्रंथ प्रत्याख्यान वाक्य में भूत शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं उनके ऊपर वे व्यर्थ दोषारोपण का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले श्रावकों के ऊपर भी वे मिथ्या कलंक चढ़ाते हैं। अतः वे लोग वस्तुतः साधु कहलाने योग्य नहीं हैं ।।७४॥

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह तसा पाणा तसा आउ अण्णहा ?, सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वयं वयामो तसा पाणा, जे वयं वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा, एए संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो ! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ तसभूया पाणा तसा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ-तसा पाणा तसा, ततो एगमाउसो। पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह, अयं वि भेदो से णो णेयाउए भवइ ।। भगवं च णं उदाहु-संतेगइआ मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, सावयं णं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं संखवेंति, ते एवं संखं ठवयंति, ते एवं संखं ठावयंति, णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ ।। ७५॥

कठिन शब्दार्थ - तसभूया - त्रसभूत, **तुल्ला** - तुल्य, **एगट्ठा**- एकार्थक, **सुप्पणीयतराए** - सुप्रणीततर, **दुप्पणीयतराए** - दुष्प्रणीततर, **पडिक्कोसह** - निन्दा करते हो, **अभिणंदह** - अभिनंदन-प्रशंसा करते हो, **णेयाउए** - न्याय युक्त, **कुसलं** - कुशल, **एव** - ही ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से पूछा कि - हे भगवन् गौतम ! आप किन प्राणियों को त्रस कहते हैं ? भगवान् गौतम ने वाद के सहित उदक से कहा कि जिन्हें तुम त्रसभूत कहते हो उन्हीं को हम त्रस कहते हैं और हम जिन्हें त्रस प्राणी कहते हैं उनको तुम त्रसभूत कहते हो। इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भेद नहीं है ये दोनों शब्द एकार्थक हैं । जो प्राणी वर्तमान काल में त्रस हैं उन्हीं का वाचक जैसे त्रसभूत पद है उसी तरह त्रस पद भी है तथा जो प्राणी भूतकाल में त्रस थे और जो भविष्य में त्रस होने वाले हैं उनका वाचक जैसे त्रसभूत पद नहीं है उसी तरह त्रस पद भी नहीं है ऐसी दशा में तुम लोग त्रसभूत शब्द का प्रयोग करना ठीक समझते हो और त्रस का प्रयोग करना ठीक नहीं समझते इसका क्या कारण है ? तथा ये दोनों ही शब्द जब कि समान अर्थ के बोधक हैं तब क्या कारण है तुम एक की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करते हो ? अतः तुम्हारा यह भेद न्याय सङ्गत नहीं है ।

यह कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने कहा कि- हे उदक ! साधु समस्त प्राणियों की हिंसा से स्वयं निवृत्त होकर यही चाहता है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का घात न करे परन्तु उसके निकट कितने ऐसे लोग भी आते हैं जो समस्त प्राणियों की घात को छोड़ नहीं सकते हैं वे कहते हैं कि हे साधो! मैं समस्त प्राणियों की हिंसा को त्याग कर साधुपना पालन करने के लिये अभी समर्थ नही हूँ किन्तु क्रमशः प्राणियों की हिंसा का त्याग करना चाहता हूँ इसलिये गृहस्थ अवस्था में रहते हुए जितना त्याग मेरे से हो सकता है उतना ही त्याग करना चाहता हूँ । यह सुनकर साधु विचार करता है कि यह सभी प्राणियों की हिंसा से निवृत्त नहीं हो सकता है तो जितने से निवृत्त हो उतना ही सही इसलिये वह उसको त्रस प्राणियों के न मारने की प्रतिज्ञा कराता है और इस प्रकार त्रस प्राणियों के घात से निवृत्ति की प्रतिज्ञा करना भी उस पुरुष के लिये अच्छा ही होता है क्योंकि जहां सब का घात वह करता था वहां कुछ तो छोड़ता ही है। इस प्रकार उस पुरुष को त्याग कराने वाले साधु को शेष प्राणियों के मारने का अनुमोदन नहीं होता है क्योंकि-वह तो सभी के घात का त्याग कराना चाहता है परन्तु जब वह पुरुष ऐसा करने के लिये समर्थ नहीं है तो जितने को वह छोड़े उतने तो बचेंगे यह आशय साधु का होता है अतः उसको शेष प्राणियों के घात का अनुमोदन नहीं लगता है ।। ७५ ॥

तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि वुच्चंति थावरा, थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति। तओ आउयं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया ।। ७६ ।।

कठिन शब्दार्थ - **तससंभारकडेणं** - त्रससंभार कृत-त्रस नाम कर्म के फल का अनुभव करने से, **अब्भुवगयं** - अभ्युपगत-स्वीकृत, **परिक्खीणं** - परिक्षीण, **थावरसंभारकडेणं** - स्थावर संभार कृत।

भावार्थ - उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से यह प्रश्न किया था कि - जो श्रावक त्रस प्राणी के घात का त्याग करके भी स्थावर काय में उत्पन्न हुए उसी प्राणी को मारता है तो उसका व्रतभङ्ग क्यों नहीं हो सकता है ? जो मनुष्य नागरिक को न मारने की प्रतिज्ञा करके नगर से बाहर गये हुए उस नागरिक पुरुष की हत्या करता है तो उसकी प्रतिज्ञा जैसे भङ्ग हो जाती है उसी तरह त्रस काय को न मारने की प्रतिज्ञा किया हुआ श्रावक यदि स्थावर काय में गये हुए उस त्रस प्राणी का घात करता है तो उसकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है यह क्यों न माना जावे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि - हे उदक ! जीव गण अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जब त्रस पर्य्याय में आते हैं तब उनकी त्रस संज्ञा होती है और वे जब अपने कर्मों का फल भोगने के लिये स्थावर पर्य्याय में जाते हैं तब उनकी स्थावर संज्ञा होती है इस प्रकार जीव कभी त्रस पर्य्याय को त्याग कर स्थावर पर्य्याय को प्राप्त करते हैं और कभी स्थावर पर्य्याय को त्याग कर त्रस पर्य्याय को प्राप्त करते हैं अतः जो श्रावक त्रस प्राणी को मारने का त्याग करता है वह त्रस पर्य्याय में आये हुए जीव को ही मारने का त्याग करता है परन्तु स्थावर पर्य्याय के घात का त्याग नहीं करता है इसलिये स्थावर पर्य्याय के घात से उसके व्रत का भङ्ग किस तरह हो सकता है ? क्योंकि स्थावर पर्य्याय के घात का त्याग उसने नहीं किया है। तुमने जो नागरिक का दृष्टान्त देकर स्थावर पर्य्याय के घात से त्रस प्राणी के घात का त्याग करने वाले पुरुष की प्रतिज्ञा का भङ्ग होना कहा है यह अयुक्त है क्योंकि नगर निवासी पुरुष नगर से बाहर जाने पर भी नागरिक ही कहा जाता है क्योंकि उसकी पर्य्याय वही है बदली नहीं है इसलिये उसका घात करने से नागरिक के घात का त्याग करने वाले का व्रत भङ्ग हो जाता है परन्तु वह नागरिक यदि नगर का रहना सर्वथा छोड़ कर ग्राम में रहने लग जाय तो वह ग्रामीण कहलाने लगता है और उसकी वह नागरिक रूपी पर्य्याय बदल जाती है ऐसी दशा में उसके घात से जैसे नागरिक को न मारने का व्रत धारण किये हुए पुरुष का व्रत भंग नहीं होता है उसी तरह त्रस पर्य्याय को त्याग कर जो प्राणी स्थावर पर्य्याय में चला गया है उसके घात से त्रस पर्य्याय के घात का त्याग किये हुए पुरुष की प्रतिज्ञा का भंग नहीं हो सकता हैं क्योंकि स्थावर पर्य्याय के घात का त्याग उसने नहीं किया है ।। ७६ ।।

सवायं उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी-आउसंतो गोयमा ! णत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणाइवायविरए वि दंडे णिक्खित्ते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ।।

कठिन शब्दार्थ - **सवायं** - वाद सहित, **एगपाणाइवाय विरए** - एक प्राणातिपात से विरत प्राणी को नहीं मारने का त्याग, **णिक्खित्ते** - निक्षिप्त ।

भावार्थ - उदक पेढालपुत्र भगवान् गौतम स्वामी से अपने प्रश्न को दूसरे प्रकार से पूछता है वह कहता है कि - हे आयुष्मन् गौतम ! ऐसा एक भी पर्य्याय नहीं है जिसके घात का त्याग श्रावक कर सकता है क्योंकि प्राणी परिवर्तनशील हैं वे सदा एक ही काय में नहीं रहते हैं वे कभी त्रस और कभी स्थावर इस प्रकार बदलते रहते हैं अतः जीव सब के सब त्रस प्राणी त्रस पर्य्याय को छोड़ कर स्थावर काय में उत्पन्न हो जाते हैं उस समय एक भी त्रस प्राणी नहीं रहता है जिसके घात के त्याग को श्रावक पालन कर सके किन्तु उस समय श्रावक का व्रत निर्विषय हो जाता है । जैसे किसी ने यह व्रत ग्रहण किया कि - "मैं नगरवासी मनुष्य को नहीं मारूँगा" परन्तु दैवयोग से नगर का उजाड़ हो गया और सब के सब नगरवासी नगर छोड़ कर वनवासी हो गये तो उस समय जैसे नगर वासी को न मारने की प्रतिज्ञा करने वाले उस पुरुष की प्रतिज्ञा निर्विषय हो जाती है उसी तरह त्रस को न मारने की प्रतिज्ञा करने वाले श्रावक की प्रतिज्ञा भी जब त्रस प्राणी सब के सब स्थावर हो जाते हैं उस समय निर्विषय हो जाती है इसका क्या समाधान ?

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-णो खलु आउसो ! अम्हाणं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवाएणं अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते भवइ, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जण्णं तुब्भे वा अण्णो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा एवं वएह-णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते, अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।। ७७॥

कठिन शब्दार्थ-वत्तव्वएणं-वक्तव्य के अनुसार, **सुपच्चक्खायं**-सुप्रत्याख्यान, **परियाए**-पर्याय।

भावार्थ - उदक पेढालपुत्र के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि - हे उदक पेढालपुत्र ! हमारी मान्यता के अनुसार तो यह प्रश्न उठता ही नहीं है क्योंकि त्रस प्राणी सब के सब एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं ऐसी हमारी मान्यता नहीं है तथा ऐसा न कभी हुआ और न है और न होगा लेकिन तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें तो भी श्रावक का व्रत निर्विषय नहीं हो सकता है क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्तानुसार सब के सब स्थावर प्राणी भी तो किसी समय त्रस हो जाते हैं उस समय श्रावकों के त्याग का विषय तो अत्यन्त बढ़ जाता हैं उस समय श्रावक का प्रत्याख्यान सर्व प्राणी विषयक हो जाता है अतः तुम लोग श्रावकों के व्रत को जो निर्विषय कहते हो यह न्यायसंगत नहीं है ।। ७७॥

भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो ! णियंठा इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च एवं वुत्तपुव्वं भवइ-जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, एएसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति एएसिं णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारमावसेज्जा?, हंता आवसेज्जा, तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणं भंगे भवइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे, एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ, से एवमायाणह ? णियंठा!, एवमायाणियव्वं ।।

कठिन शब्दार्थ - **णियंठा** - निर्ग्रन्थ, **आमरणंताए** - मरण पर्यन्त, **देसं** - देश में, **दूइज्जित्ता** - विचर कर, **अगारमावसेज्जा** - गृहस्थ बन जाते हैं, **गारत्थं** - गृहस्थों को, **आयाणह** - समझो, **आयाणियव्वं** - समझना चाहिये ।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी ने उदक पेढाल पुत्र के स्थविरों से पूछा कि - हे स्थविरो ! जगत् में कोई पुरुष ऐसे होते हैं जो साधु भाव को अंगीकार किये हुए पुरुषों को मरणपर्य्यन्त दण्ड न देने का व्रत ग्रहण करते हैं परन्तु गृहस्थों को मारने का त्याग वे नहीं करते हैं । वे पुरुष यदि साधुपन को छोड़कर गृहस्थ बने हुए भूतपूर्व श्रमण को मारते हैं तो उनका प्रत्याख्यान भंग होता है या नहीं ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गौतम स्वामी का यह प्रश्न सुनकर निर्ग्रंथों ने कहा कि - नहीं उनका प्रत्याख्यान भंग नहीं हो सकता है क्योंकि उक्त पुरुषों ने साधु भाव में रहते हुए पुरुषों को ही न मारने का प्रत्याख्यान स्वीकार किया है परन्तु गृहस्थ भाव में रहने वालों को न मारने का प्रत्याख्यान नहीं किया है अतः गृहस्थ भाव में आये हुए भूतपूर्व श्रमणों को मारने से भी उनका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। श्री गौतम स्वामी ने कहा कि- हे स्थविरो ! इसी तरह यह भी समझो कि-श्रमणोपासक ने त्रसभाव में आये हुए प्राणियों को मारने का त्याग किया है परन्तु स्थावरभाव में आये हुए को मारने का त्याग नहीं किया है अतः स्थावर भाव में आये हुए भूतपूर्व त्रस को मारने पर भी श्रावक का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है ।

भगवं च णं उदाहु णिग्गंठा खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो णिग्गंठा ! इह खलु गाहावइ वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा?, हंता उवसंकमेज्जा, तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे?, हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा-इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसियामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति वएज्जा ?, हंता वएज्जा, किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावित्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए ?, हंता कप्पंति, तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?, हंता णिक्खित्ते, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा। तस्स णं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, परेणं असंजए आरेणं संजए, इयाणिं असंजए, असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, से एवमायाणह ?, णियंठा!, से एवमायाणियव्वं ।।

कठिन शब्दार्थ - सवणवत्तियं - सुनने के लिये, **उवसंकमेज्जा** - आ सकते हैं, **अवितहं** - अवितथ-मिथ्यात्व, **असंदिद्धं**-संदेह रहित, **सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं** - समस्त दुःखों के नाश का मार्ग, **तमं** - उसकी अर्थात् धर्म की, **आणाए** - आज्ञा अनुसार, **पव्वावित्तए** - प्रव्रजित-दीक्षा देने के लिये, **णिक्खित्ते** - निक्षिप्त-छोड़ दिया ।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी इस पाठ के द्वारा निर्ग्रंथों को यह समझाते हैं कि - प्रत्याख्यान का सम्बन्ध प्रत्याख्यान करने वाले तथा प्रत्याख्यान किये जाने वाले प्राणी के पर्य्याय के साथ होता है। उनके द्रव्य रूप जीव के साथ नहीं होता है। जैसे कोई पुरुष साधुओं के द्वारा धर्म को सुन कर वैराग्य युक्त हो साधु के पास दीक्षा धारण करके सम्पूर्ण प्राणियों के घात का त्याग करता है। वह पुरुष जब तक साधुपने की पर्य्याय में रहता है तब तक उसका उस प्रत्याख्यान के साथ सम्बन्ध रहता है । अतः वह यदि थोड़ा-सा भी अपनी प्रतिज्ञा में दोष लगाता है तो उसके लिये उसे प्रायश्चित्त लेना पड़ता है परन्तु जब वह गृहस्थ के पर्य्याय में था उस समय उसका इस प्रत्याख्यान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था तथा वह किसी बुरे कर्म के उदय से जब साधुपने को छोड़ कर गृहस्थ हो जाता है उस समय भी इस प्रत्याख्यान के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः साधुपने को धारण करके समस्त प्राणियों के घात का प्रत्याख्यान करने वाले इस पुरुष के जीव में जैसे साधुपना धारण करने के पहले और साधुपना छोड़ देने के पश्चात् कोई भेद नहीं रहता, जीव वही होता है परन्तु उसके पर्य्याय एक नहीं होते वे भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये साधुपने के पर्य्याय में किये हुए प्रत्याख्यान के साथ जैसे गृहस्थ पर्य्याय का कोई सम्बन्ध नहीं होता है इसी तरह त्रस पर्य्याय को न मारने का किया हुआ प्रत्याख्यान त्रस पर्य्याय को छोड़कर स्थावर पर्य्याय में आये हुए प्राणी के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता है अतः त्रस के प्रत्याख्यानी पुरुष के द्वारा स्थावर पर्य्याय के घात से उसके व्रत का भंग नहीं होता है ।

भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो णियंठा ! इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइयाओ वा अण्णयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?, हंता उवसंकमेज्जा, किं तेसिं तहप्पगारेणं धम्मे आइक्खियव्वे ?, हंता आइक्खियव्वे, तं चेव उवट्ठावित्तए जाव कप्पंति ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ! हंता कप्पंति, तेणं एयारूवेणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विहारेणं विहरमाणा तं चेव जाव अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा, ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे ! से जे से जीवे जे परेणं णो कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संभुंजित्तए, से जे जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति संभुंजित्तए, परेणं अस्समणे आरेणं समणे, इयाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाण णिग्गंथाणं संभुंजित्तए, से एवमायाणह, णियंठा, से एवमायाणियव्वं ।। ७८ ॥

कठिन शब्दार्थ - **परिव्वाइया** - परिव्राजक, **परिव्वाइयाओ**- परिव्राजिकाएँ, **तित्थाययणेहिंतो** - तीर्थ के स्थान में, **संभुंजित्तए** - संभोग के लिये, आहार शामिल कराने के लिये, **अस्समणे** - अश्रमण, **आरेणं** - पीछे-बाद में ।

भावार्थ - श्री गौतम स्वामी दूसरा दृष्टान्त देकर श्रमण निर्ग्रंथों को वही बात समझा रहे हैं कि - प्रत्याख्यान का सम्बन्ध पर्य्याय के साथ होता है। द्रव्य रूप जीव के साथ नहीं होता है । यह श्रावकों के लिये ही नहीं किन्तु साधुओं के लिये भी यही बात है। किसी अन्यतीर्थी परिव्राजक और परिव्राजिका के साथ सम्यग्दृष्टि साधु संभोग नहीं करते हैं अर्थात् आहार पानी शामिल नहीं करता है। परन्तु जब वे साधु से धर्म को सुन कर सम्यग् धर्म के अनुसार दीक्षा धारण करके साधु हो जाते हैं उनके साथ साधु संभोग करते हैं और वे ही जब असत् कर्म के उदय से फिर पहले के समान ही दीक्षा पालन त्याग कर गृहस्थ हो जाते हैं तब उनके साथ साधु संभोग नहीं करते हैं । कारण यही है कि - दीक्षा छोड़ देने के पश्चात् उनकी पर्य्याय बदल जाती है परन्तु जीव तो उनका वही है जो दीक्षा लेने के पश्चात् था । परन्तु अब वह दीक्षा की पर्य्याय नहीं है इसलिये साधु उनके साथ संभोग नहीं करता है । इसी तरह जिस पुरुष ने त्रस प्राणी के घात का त्याग किया है वह त्रस प्राणी जब त्रस काय को छोड़ कर स्थावर पर्य्याय में आ जाता है तब वह श्रावक के प्रत्याख्यान का विषय नहीं होता है इसलिए उसके घात से श्रावक के प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है, यह जानना चाहिये ।। ७८ ॥

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ - णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं, थूलगं अदिण्णादाणं, थूलगं मेहुणं, थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचि करेह वा करावेह वा तत्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वि पच्चक्खाइस्सामो, ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता, ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया - सम्मं कालगयत्ति ?, वत्तव्वं सिया ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते अप्पतरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, इति से महयाओ, जण्णं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी दूसरी रीति से उदक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि - हे उदक ! यह संसार कभी भी त्रस प्राणी से खाली नहीं होता है क्योंकि बहुत प्रकार से संसार में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। उनमें से दिग्दर्शन के रूप में कुछ मैं बतलाता हूँ । इस संसार में बहुत से शान्त श्रावक होते हैं जो साधु के निकट आकर कहते हैं कि - हम गृहवास को त्याग कर प्रव्रज्या धारण करने के लिये समर्थ नहीं हैं अतः हम अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्ण पौषध व्रत का आचरण करते हुए रहेंगे तथा स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन का त्याग करेंगे और परिग्रह का परिमाण करेंगे तथा पौषध व्रत के दिन दो करण और तीन योग से करने, कराने और पकाने पकवाने से भी निवृत्ति करेंगे। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे श्रावक बिना खाये पीये और बिना स्नान आदि किये यदि मृत्यु का अवसर जानकर संलेखणा संथारा करके मृत्यु को प्राप्त हो जायँ तो उनकी गति उत्तम हुई यही कहना होगा और इस प्रकार काल करने वाले प्राणी देवलोक में उत्पन्न होते हैं इसीलिये उन्होंने देवगति प्राप्त की है यही मानना होगा और वे प्राणी त्रस हैं तथा दिव्य शरीर वाले और चिरकाल तक देवलोक में निवास करने वाले हैं उन प्राणियों का घात प्रत्याख्यानी श्रावक नहीं करता है इसलिये उसका प्रत्याख्यान सविषय है, निर्विषय नहीं है इसलिये श्रावकों के प्रत्याख्यान को त्रस के अभाव के कारण निर्विषय बताना मिथ्या है ।।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ, णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं णं अपच्छिममारणंतियं संलेहणाजूसणाजूसिया भत्तपाणं पडियाइक्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचिवि जाव आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता एते तहा कालगया, किं वत्तव्वं सिया संमं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालगयत्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।

भावार्थ - श्री गौतम स्वामी उदक पेढाल पुत्र से कहते हैं कि - हे उदक ! संसार में ऐसे भी श्रावक होते हैं जो गृहस्थवास को त्याग कर दीक्षा ग्रहण करने में तथा अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्ण पौषध व्रत को पालन करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं कि हम मरण समय में संथारा और संलेखना को धारण करके उत्तम गुण युक्त होकर भात पानी का सर्वथा त्याग करेंगे तथा उस समय हम समस्त प्राणातिपात आदि आस्रवों को तीन करण और तीन योगों से त्याग करेंगे । ऐसी प्रतिज्ञा करने के पश्चात् वे श्रावक इसी रीति से जब मृत्यु को प्राप्त करते हैं तब उनकी गति के विषय में यही कहना होगा कि वे उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं। वे अवश्य किसी देवलोक में उत्पन्न हुए हैं। वे श्रावक देवता होने के कारण यद्यपि किसी मनुष्य के द्वारा मारे जाने योग्य तो नहीं है तथापि वे त्रस तो कहलाते ही हैं अतः जिसने त्रस जीवों के घात का त्याग किया है उसके त्याग के विषय तो वे देव होते ही है अतः त्रस के अभाव के कारण श्रावक के प्रत्याख्यान को निराधार बताना न्याय संगत नहीं है यह श्री गौतम स्वामी का आशय है ।।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा - महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, तओ भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते बहुयरगा आयाणसो, इति से महयाओ णं जण्णं तुब्भे वयह तं चेव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

कठिन शब्दार्थ - **दुप्पडियाणंदा** - दुष्प्रत्यानन्द-पाप में आनन्द मानने वाले, **अप्पडिविरया** - अप्रतिविरत, **सगमादाए** - अपने कर्म को अपने साथ ले कर ।

भावार्थ - श्री गौतम स्वामी कहते हैं कि - इस जगत् में बहुत से मनुष्य महा इच्छा वाले, महारम्भी, महापरिग्रही और अधार्मिक होते हैं । वे कितना ही समझाने पर भी नहीं समझते । वे सावद्य कर्मों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं । प्रत्याख्यानी श्रावक व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरणपर्य्यन्त उन प्राणियों के घात के त्यागी होते हैं । वे प्राणी काल के समय मृत्यु को प्राप्त करके अपने पाप कर्म के कारण नरक गति को प्राप्त करते हैं । वे उस नरक में चिरकाल तक निवास करते हैं उन प्राणियों को मारने का श्रावक ने त्याग किया है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये श्रावक का प्रत्याख्यान सविषय है, निर्विषय नहीं है अतः आप लोग त्रस प्राणी के अभाव के कारण जो श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बतला रहे हैं यह न्यायसंगत नहीं है ।।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउगं विप्पजहंति ते तओ भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ।।

कठिन शब्दार्थ - **धम्मिया** - धार्मिक, **धम्माणुया** - धर्म की अनुज्ञा देने वाले, **सग्गइगामिणो** - सुगति में जाने वाले ।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि - इस जगत् में बहुत से मनुष्य आरम्भ वर्जित परिग्रह रहित धर्माचरणशील और धर्म के अनुगामी होते हैं। वे मरण पर्य्यन्त सब प्रकार के परिग्रहों से निवृत्त रहते हुए काल के अवसर में मृत्यु को प्राप्त करके उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। उन प्राणियों को श्रावक व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मृत्युपर्य्यन्त दण्ड नहीं देता है इसलिये श्रावक का व्रत सविषय है, निर्विषय नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-अप्पेच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, तओ भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ।।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी ने कहा कि - इस जगत् में कोई ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो अल्प इच्छा वाले अल्प आरम्भ करने वाले अल्प परिग्रह रखने वाले धार्मिक और धर्म की अनुज्ञा देने वाले होते हैं। वे किसी प्राणातिपात से विरत और किसी से अविरत एवं परिग्रह पर्य्यन्त सभी आस्रवों में किसी से विरत और किसी से अविरत होते हैं । उन्हें व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरण पर्य्यन्त दण्ड देने का श्रावक त्याग करता है । वे अपनी उस आयु का त्याग करते हैं और अपने पुण्य कर्म को लेकर सद्गति को प्राप्त करते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसङ्गत नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-आरण्णिया आवसहिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया पाणभूयजीवसत्तेहिं, अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति-अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा, जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किब्विसियाइं जाव उववत्तारो भवंति, तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमुयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ।

कठिन शब्दार्थ - **आसुरियाइं** - असुर सम्बन्धी, **किब्विसियाइं** - किल्विषी में, **विप्पमुच्चमाणा**- मुक्त होते हुए, **एलमुयत्ताए** - बकरे की तरह गूंगा, **तमोरूवत्ताए** - तामसी ।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि - इस जगत् में कोई मनुष्य वन में निवास करते हैं और कन्द मूल फल आदि खाकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं और कोई झोंपड़ी बना कर निवास करते हैं तथा कोई ग्राम में निमन्त्रण पाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं । ये लोग अपने को मोक्ष का आराधक बतलाते हैं परन्तु ये मोक्ष के आराधक नहीं हैं ये अहिंसा का पालन करने वाले नहीं हैं । इन्हें जीव और अजीव का विवेक भी नहीं हैं । ये लोग कुछ सच्ची और कुछ झूठी बातों का उपदेश लोगों को दिया करते हैं। ये कहते हैं कि-"हम तो अवध्य है परन्तु दूसरे प्राणी अवध्य नहीं है हमें आज्ञा न देनी चाहिये परन्तु दूसरे प्राणियों को आज्ञा देनी चाहिये हमें दास आदि बनाकर नहीं रखना चाहिये परन्तु दूसरों को रखना चाहिये इत्यादि" । इस प्रकार उपदेश देने वाले ये लोग स्त्री भोग तथा सांसारिक दूसरे विषयों में भी अत्यन्त आसक्त रहते हैं। ये लोग अपनी आयु भर सांसारिक विषय भोगों को भोगकर मृत्यु को प्राप्त करके अपनी अज्ञान तपस्या के प्रभाव से अधम देवयोनि में उत्पन्न होते हैं । अथवा प्राणियों के घात का उपदेश देने के कारण ये लोग नित्यान्धकारयुक्त अति दुःखद नरकों में जाते हैं । ये लोग चाहे देवता हो या नारकी दोनों ही हालत में त्रसपने को नहीं छोड़ते हैं अतः श्रावक इनको न मार कर अपने व्रत को सफल करता है। यद्यपि इनको मारना द्रव्यरूप से सम्भव नहीं है तथापि भाव से इनको मारना सम्भव है अतः श्रावक का व्रत निर्विषय नहीं है। ये लोग स्वर्ग तथा नरक के भोग को समाप्त करके फिर इस लोक में अन्धे, बहरे और गूँगे होते हैं अथवा तिर्य्यञ्चों में जन्म ग्रहण करते हैं दोनों ही अवस्थाओं में ये त्रस ही कहलाते हैं इसलिये त्रस प्राणी को न मारने का व्रत जो श्रावक ने ग्रहण किया है उसके अनुसार ये श्रावकों के द्वारा अवध्य होते हैं अतः श्रावकों के व्रत को निर्विषय बताना मिथ्या है।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते दीहाउया, ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ ।

भावार्थ - भगवान् श्री गौतम स्वामी कहते हैं कि - इस जगत् में बहुत से प्राणी चिरकाल तक जीने वाले हैं जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है और वे व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरणपर्य्यन्त उन्हें दण्ड नहीं देते हैं। वे प्राणी पहले ही काल को प्राप्त होकर परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीर वाले तथा चिरकाल की स्थिति वाले और दीर्घ आयु वाले एवं बहुत संख्या वाले हैं। इसलिये श्रमणोपासक का व्रत उनकी अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना उचित नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा समाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ ते सयमेव कालं करेंति करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति ते पाणा वि वुच्चंति तसा वि वुच्चंति ते महाकाया ते समाउया ते बहुयरगा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ ।

भावार्थ - भगवान् श्री गौतम स्वामी कहते हैं कि - कोई प्राणी समान आयु वाले होते हैं। जिनको श्रमणोपासक व्रतग्रहण के दिन से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना वर्जित करता है । वे प्राणी स्वयमेव काल को प्राप्त होते हैं और काल को प्राप्त होकर परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं, वे महान् शरीर वाले और समान आयु वाले तथा बहुत संख्या वाले हैं अतः उनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सविषयक होता है। अतः श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना उचित नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि वुच्चंति ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुयरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ ।

कठिन शब्दार्थ - अप्पाउया - अल्प आयु वाले ।

भावार्थ- इस जगत् में बहुत से त्रस प्राणी अल्प आयु वाले होते हैं वे जब तक जीते रहते हैं तब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तक प्रत्याख्यानी श्रावक उन्हें नहीं मारता है और फिर वे मर कर जब त्रस योनि में उत्पन्न होते हैं उस समय भी श्रावक उन्हें नहीं मारता है इसलिये श्रावक का प्रत्याख्यान सविषयक है निर्विषयक नहीं है अतः त्रस के अभाव के कारण श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याय सङ्गत नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए, णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिमं जाव विहरित्तए, वयं च णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्था पाईणं वा पडिणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एयावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि, तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तओ आउयं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव तेसु पच्चायंति जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते पाणा वि जावं अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।। ७९ ॥

कठिन शब्दार्थ - खेमंकरे - क्षेमंकर-क्षेत्र कुशल करने वाले।

भावार्थ - श्री गौतम स्वामी अब दूसरे प्रकार से श्रावक के प्रत्याख्यान को सविषयक होना सिद्ध करते हैं। कोई श्रावक देशावकाशिक व्रत को स्वीकार करके धर्म का आचरण करते हैं । जिस श्रावक ने पहले सौ योजन की मर्य्यादा कायम करके दिग्व्रत ग्रहण किया है वह प्रतिदिन अपनी मर्य्यादा को घटाता हुआ जो एक योजन, गव्यूति (२ कोस) ग्राम और गृह की मर्यादा करता है उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं । इस व्रत को ग्रहण करने वाला श्रावक प्रतिदिन प्रातःकाल में इस प्रकार प्रत्याख्यान करता है कि- "मैं आज पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में इतने कोस या इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा।" इस प्रकार वह श्रावक प्रतिदिन अपने गमनागमन की मर्य्यादा स्थापित करता है । उस श्रावक ने गमनागमन के लिये जितनी मर्य्यादा स्थापित की है उस मर्य्यादा से बाहर रहने वाले प्राणियों को दण्ड देना वह वर्जित करता है । वह श्रावक अपने मन में यह निश्चय करता है कि "मैं ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहने वाले प्राणियों को दण्ड देना वर्जित करता हूँ इसलिये मैं उन प्राणियों की रक्षा करने वाला हूँ"। वे प्राणी जब तक जीते रहते हैं तब तक श्रावक उनकी रक्षा करता है और वे मर कर फिर यदि उस मर्यादा से बाहर के प्रदेशों में ही उत्पन्न होते हैं तो श्रावक उन्हें दण्ड देना पुनः वर्जित करता है इसलिए श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याय संगत नहीं है ।। ७९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा ते चिरट्ठिइया जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरंणताए० तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणा वि जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ॥

तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते जाव ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयं वि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।।

भगवं च णं उदाहु ण एयं भूयं, ण एयं भव्वं, ण एयं भविस्सइ जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा वि वोच्छिज्जिहिंति तसा पाणा भविस्संति, अवोच्छिण्णेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह-णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवइ ।। ८० ।।

भावार्थ - इस सूत्र के नौ भागों की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए । श्रावक ने जितने देश की मर्य्यादा ग्रहण की है उतने देश के अन्दर जो त्रस प्राणी निवास करते हैं वे जब मर कर उसी देश में फिर त्रस योनि में उत्पन्न होते हैं । तब वे श्रावक के प्रत्याख्यान के विषय होते हैं अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना ठीक नहीं है यह इस सूत्र के पहले भाग का आशय है । इस सूत्र के दूसरे भाग का तात्पर्य यह है कि - श्रावक ने जितने देश की मर्य्यादा ग्रहण की है उतने देश के अन्दर रहने वाले त्रस प्राणी त्रस शरीर को छोड़ कर उसी क्षेत्र में जब स्थावर योनि में जन्म ग्रहण करते हैं तब श्रावक उनको अनर्थ दंड देना वर्जित करता है इस प्रकार उसका प्रत्याख्यान सविषयक होता है निर्विषयक नहीं होता । तीसरे भाग का भाव यह है कि - श्रावक ने जितने देश की मर्य्यादा ग्रहण की है उसके अन्दर निवास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले जो त्रस प्राणी है । वे जब उस मर्य्यादा से बाह्य देश में त्रस और स्थावर योनि में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के चौथे भाग का भाव यह है कि - श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं वे मरकर उस मर्य्यादा के अन्दर जब त्रसयोनि में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के पांचवें भाग का सार यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं वे मर कर जब उसी देश में रहने वाले स्थावर जीवों मे उत्पन्न होते हैं तब उनको अनर्थदण्ड देना श्रावक वर्जित करता है ।

इस सूत्र के छठे भाग का तात्पर्य यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा से बाहर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं वे जब उस मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के सातवें भाग का अभिप्राय यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब उसी मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले त्रस प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के आठवें भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई देश मर्य्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब उस मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब श्रावक उन्हें अनर्थ दंड देना वर्जित करता है ।

इस सूत्र के नवम भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब मर्य्यादा से बाह्य देश में ही त्रस और स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इसी प्रकार प्रथम भाग से लेकर नौ ही भाग की व्याख्या करनी चाहिए परन्तु जहाँ जहाँ त्रस प्राणियों का ग्रहण है वहां सर्वत्र व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरण पर्य्यन्त उन प्राणियों को श्रावक दंड नहीं देता है यह तात्पर्य जानना चाहिये और जहाँ स्थावर का ग्रहण है वहाँ श्रावक के द्वारा उन्हें अनर्थ दंड वर्जित करना समझना चाहिए । शेष अक्षरों की योजना अपनी बुद्धि के अनुसार कर लेनी चाहिए ।

इस प्रकार बहुत दृष्टान्तों के द्वारा श्रावक के व्रत को सविषय होना सिद्ध करके अब भगवान् गौतम स्वामी उदक के प्रश्न को ही अत्यन्त असङ्गत बतलाते हैं-भगवान् गौतम स्वामी 'उदक' से कहते हैं कि हे उदक ! पहले व्यतीत हुए अनन्त काल में ऐसा कभी नहीं हुआ तथा अनागत अनन्त काल में ऐसा कभी नहीं होगा एवं वर्तमान काल में ऐसा नहीं हो सकता है कि सभी त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सभी स्थावर शरीर में जन्म ग्रहण कर लें तथा ऐसा भी नहीं हुआ, न होगा और न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि सभी स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सभी त्रस योनि में जन्म ग्रहण कर लें। यद्यपि कभी त्रस प्राणी स्थावर होते हैं और स्थावर प्राणी कभी त्रस होते हैं इस प्रकार इनका परस्पर संक्रमण होता अवश्य है परन्तु सब के सब त्रस, स्थावर हो जायँ अथवा सभी स्थावर एक ही काल में त्रस हो जायँ ऐसा कभी नहीं होता है। ऐसा त्रिकाल में भी संभव नहीं है कि एक प्रत्याख्यान करने वाले श्रावक को छोड़ कर बाकी के नारक, द्वीन्द्रियादि, तिर्य्यञ्च तथा मनुष्य और देवताओं का सर्वथा अभाव हो जाय। उस दशा में श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय हो सकता है यदि प्रत्याख्यानी श्रावक की जीवन दशा में ही सभी नारक आदि त्रस प्राणी उच्छिन्न हो जायं परन्तु पूर्वोक्त रीति से यह बात संभव नहीं है तथा स्थावर प्राणी अनन्त हैं अतः अनन्त होने के कारण असंख्येय त्रस प्राणियों में उनकी उत्पत्ति भी संभव नहीं है यह बात अति प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब कि त्रस और स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होते तब आप अथवा दूसरे लोगों का यह कहना कि "इस जगत् में ऐसा एक भी पर्य्याय नहीं है जिनमें श्रावक का एक त्रस के विषय में भी दंड देना वर्जित किया जा सके" यह सर्वथा अयुक्त है।। ८०॥

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासेइ मित्ति मण्णइ आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्ति मण्णंति आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए ।।

भावार्थ - भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि हे आयुष्मन् उदक ! जो पुरुष, साधुओं के साथ मैत्री रखता हुआ भी शास्त्रोक्त आचार पालन करने वाले श्रमण तथा उत्तम ब्रह्मचर्य्य से युक्त माहन की निन्दा करता है तथा सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके कर्मों का विनाश करने के लिए प्रवृत्त है वह पुरुष लघुप्रकृति और पंडित न होता हुआ भी अपने को पंडित मानने वाला, सुगति स्वरूप परलोक तथा उसके कारण स्वरूप सत्संयम को अवश्य ही विनाश कर डालता है। परन्तु जो पुरुष, महासत्त्व सम्पन्न और समुद्र के समान गंभीर है तथा श्रमण माहन की निन्दा न करता हुआ उनमें मैत्री रखता है एवं सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र को स्वीकार करके कर्मों का क्षय करने के लिए प्रवृत्त है वह पुरुष निश्चय ही पर लोक की विशुद्धि के लिए समर्थ होता है। इस प्रकार कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने, पर निन्दा का त्याग और यथार्थ वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन के द्वारा अपनी उद्धता का परिहार किया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार गौतम स्वामी के द्वारा यथावस्थित पदार्थ समझाया हुआ भी उदक पेढालपुत्र, भगवान् गौतम स्वामी को आदर नहीं देता हुआ जिस दिशा से आया था उसी दिशा में जाने के लिए तत्पर हुआ।

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूयस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सो वि ताव तं आढाइ परिजाणेइ वंदइ णमंसइ सक्कारेइ सम्माणेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ ॥

भावार्थ - उदक का यह अभिप्राय जानकर भगवान् गौतम स्वामी ने कहा कि हे आयुष्मन् उदक ! जो पुरुष, तथाभूत श्रमण या माहन के निकट एक भी योगक्षेम पद को सुनता है वह उसका आदर सत्कार अवश्य करता है। (जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करने के उपाय को 'योग' कहते हैं और जो प्राप्त है उसकी रक्षा के उपाय को 'क्षेम' कहते हैं) जिसके द्वारा योग और क्षेम प्राप्त होते हैं उस अर्थ को बताने वाले पद को 'योगक्षेम पद' कहते हैं ऐसे योगक्षेमपद को उपदेश देने वाले का उपकार मानना कृतज्ञों का परम कर्तव्य है इसलिए भगवान् गौतम स्वामी उदक को उपदेश देते हुए उक्त "योग क्षेम पद" का महत्त्व बतलाते हैं। भगवान् कहते हैं कि - वह योगक्षेम पद, आर्य्य अनुष्ठान के हेतु होने से आर्य्य है, वह धर्मानुष्ठान का कारण है इसलिए धार्मिक है। वह सुगति का कारण है इसलिये सुवचन है। ऐसे योगक्षेम पद को सुनकर तथा समझ कर जो पुरुष अपनी सूक्ष्म बुद्धि से यह विचार करता है कि "इस श्रमण या माहन ने मुझको परम कल्याणप्रद योगक्षेम पद का उपदेश दिया है" वह, साधारण पुरुष होकर भी उस उपदेश दाता को आदर देता है, उसें अपना पूज्य समझता है तथा कल्याण मङ्गल और देवता की तरह उसकी उपासना करता है। यद्यपि वह पूज्यनीय पुरुष कुछ भी नहीं चाहता है तथापि कृतज्ञ पुरुष का यह कर्तव्य है कि उस परमोपकारी का यथाशक्ति आदर करे ।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासीएएसिं णं भंते ! पयाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविण्णायाणं अव्वोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिण्णाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहियं, णो पत्तियं, णो रोइयं, एएसिं णं भंते ! पयाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेव से जहेयं तुब्भे वयह ॥

कठिन शब्दार्थ - **अण्णाणयाए** - ज्ञान नहीं होने से, **असवणयाए** - नहीं सुनने से, **अबोहिए** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोध नहीं होने से, **अणभिगमेणं** - अभिगम अर्थात् हृदयंगम नहीं होने से, **अदिट्ठाणं**- नहीं देखे हुए, **असुयाणं** - नहीं सुने हुए, **अविण्णायाणं** - विज्ञात-विशेष नहीं जाने हुए, **अव्वोगडाणं** - अव्याकृत अर्थात् विशेष स्पष्ट नहीं किये हुए एवं गुरुमुख से ग्रहण नहीं किये हुए, **अणिगूढाणं** - गूढ अर्थ नहीं जाना हुआ अर्थात् प्रकट नहीं जाना हुआ, **अविच्छिण्णाणं** - संशय रहित होकर ज्ञात नहीं किये हुए, **अणिसिट्ठाणं** - निश्चय नहीं किये हुए, **अणिवूढाणं** - अच्छी तरह से निश्चय नहीं किये हुए अर्थात् निर्वाह (पालन) नहीं किये हुए, **अणुवहारियाणं** - अवधारण-धारणा नहीं किये हुए।

भावार्थ - उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से कहा कि हे भगवन् ! पहले मैंने इन पदों को नहीं जाना था इसलिए इनमें मेरी श्रद्धा न थी परन्तु अब आप से जानकर इनमें मैं श्रद्धा करता हूँ। इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी नें उदक पेढाल पुत्र से कहा कि हे आर्य ! तुम इस विषय में श्रद्धान करो क्योंकि सर्वज्ञ का कथन अन्यथा नहीं है । यह सुनकर फिर उदक ने कहा कि हे भगवन् ! यह मुझको इष्ट है परन्तु इस चार याम वाले धर्म को छोड़ कर अब पांच याम वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ स्वीकार करके मैं विचरना चाहता हूँ ।

तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं एवं वयासी-अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि, तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, त्तिबेमि ॥ ८१ ॥

कठिन शब्दार्थ - **चाउज्जामाओ** - चतुर्याम से, **पंचमहव्वइयं** - पांच महाव्रत युक्त, **सपडिक्कमणं** - सप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण के साथ ।

भावार्थ - इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी उदक पेढाल पुत्र को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ गये। इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र ने श्रमण भगवान् महावीरस्वामी की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, इसके पश्चात् वन्दना नमस्कार किया वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा कि - हे भगवन् ! मैं आपके पास चार याम वाले धर्म से प्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रत वाले धर्म को अङ्गीकार करके विचरना चाहता हूँ। इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उदक से इस प्रकार कहा - हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुमको सुख हो वैसा करो। धर्मकार्य में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विलम्ब मत करो । इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट चार याम वाले धर्म से पंच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरता है।

त्तिबेमि - इति ब्रवीमि - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। अपनी मनीषिका (बुद्धि) से कुछ नहीं कहता हूँ।

इति णालंदइज्जं सत्तमं अज्झयणं समत्तं॥

इति सूयगडांग बीयसुयक्खंधो समत्तो॥

इति सूयगडसुत्तं समत्तं

यह नालन्दीय नामक सातवां अध्ययन सम्पूर्ण हुआ। यह सूत्रकृताङ्ग सूत्र का दूसरा श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण हुआ।

यह सूत्रकृताङ्ग सूत्र सम्पूर्ण हुआ।

इति शुभमस्तु **इति कल्याणमस्तु**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित आगम

अंग सूत्र

क्रं.	नाम आगम	मूल्य
१.	आचारांग सूत्र भाग-१-२	५५-००
२.	सूयगडांग सूत्र भाग-१,२	४५-००
३.	स्थानांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	समवायांग सूत्र	२५-००
५.	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
६.	ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र भाग-१, २	८०-००
७.	उपासकदशांग सूत्र	२०-००
८.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	१५-००
९.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	३५-००
१०.	विपाक सूत्र	३०-००

उपांग सूत्र

१.	उववाइय सुत्त	२५-००
२.	राजप्रश्नीय सूत्र	२५-००
३.	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-१,२	८०-००
४.	प्रज्ञापना सूत्र भाग-१,२,३,४	१६०-००
५-९.	निरयावलिका (कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका-पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा)	२०-००
१०.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५०-००

मूल सूत्र

१.	नंदी सूत्र	२५-००
२.	अनुयोगद्वार सूत्र	५०-००

शीघ्र प्रकाशित होने वाले आगम

१. उत्तराध्ययनसूत्र २. अंतगडदशा सूत्र ३. दशवैकालिक सूत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संघ के अन्य प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य
१.	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	१४-००
२.	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
३.	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग ३	३०-००
४.	अंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
५.	अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	३५-००
६.	अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
७.	अनंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
८.	अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०
९.	आयारो	८-००
१०.	सूयगडो	६-००
११.	उत्तरज्झयणाणि(गुटका)	अप्राप्य
१२.	दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	५-००
१३.	नंदी सुत्तं (गुटका)	३-००
१४.	चउछेयसुत्ताइं	१५-००
१५.	आचारांग सूत्र भाग १	२५-००
१६.	अंतगडदसा सूत्र	१०-००
१७-१९.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग १,२,३	४५-००
२०.	आवश्यक सूत्र (सार्थ)	१०-००
२१.	दशवैकालिक सूत्र	१२-००
२२.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१०-००
२३.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	१०-००
२४.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ३	१०-००
२५.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह संयुक्त	१५-००
२६.	पन्नवणा सूत्र के थोकडे भाग १	८-००
२७.	पन्नवणा सूत्र के थोकडे भाग २	१०-००
२८.	पन्नवणा सूत्र के थोकडे भाग ३	अप्राप्य
२९-३१.	तीर्थंकर चरित्र भाग १,२,३	१४०-००
३२.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३५-००
३३.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
३४-३६.	समर्थ समाधान भाग १,२,३	५७-००
३७.	सम्यक्त्व विमर्श	१५-००
३८.	आत्म साधना संग्रह	२०-००
३९.	आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	२०-००
४०.	नवतत्त्वों का स्वरूप	१५-००
४१.	अगार-धर्म	१०-००
४२.	Saarth Saamaayik Sootra	१०-००
४३.	तत्त्व-पृच्छा	१०-००
४४.	तेतली-पुत्र	४५-००
४५.	शिविर व्याख्यान	१२-००
४६.	जैन स्वाध्याय माला	१८-००
४७.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	२२-००
४८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००
४९.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००
५०.	लोंकाशाह मत समर्थन	१०-००
५१.	जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा	१५-००
५२.	बड़ी साधु वंदना	१०-००
५३.	तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००
५४.	स्वाध्याय सुधा	७-००
५५.	आनुपूर्वी	१-००
५६.	सुखविपाक सूत्र	२-००
५७.	भक्तामर स्तोत्र	२-००
५८.	जैन स्तुति	६-००
५९.	सिद्ध स्तुति	३-००
६०.	संसार तरणिका	७-००
६१.	आलोचना पंचक	२-००
६२.	विनयचन्द चौबीसी	१-००
६३.	भवनाशिनी भावना	२-००
६४.	स्तवन तरंगिणी	५-००
६५.	सामायिक सूत्र	१-००
६६.	सार्थ सामायिक सूत्र	३-००
६७.	प्रतिक्रमण सूत्र	३-००
६८.	जैन सिद्धांत परिचय	३-००
६९.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका	४-००
७०.	जैन सिद्धांत प्रथमा	४-००
७१.	जैन सिद्धांत कोविद	३-००
७२.	जैन सिद्धांत प्रवीण	४-००
७३.	तीर्थंकरों का लेखा	१-००
७४.	जीव-धड़ा	२-००
७५.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
७६.	लघुदण्डक	२-००
७७.	महादण्डक	१-००
७८.	तेतीस बोल	२-००
७९.	गुणस्थान स्वरूप	२-००
८०.	गति-आगति	१-००
८१.	कर्म-प्रकृति	१-००
८२.	समिति-गुप्ति	२-००
८३.	समकित के ६७ बोल	२-००
८४.	पच्चीस बोल	३-००
८५.	नव-तत्त्व	७-००
८६.	सामायिक संस्कार बोध	४-००
८७.	मुखवस्त्रिका सिद्धि	३-००
८८.	विद्युत् सचित्त तेऊकाय है	३-००
८९.	धर्म का प्राण यतना	२-००
९०.	सामण्ण संहिधम्मो	अप्राप्य
९१.	मंगल प्रभातिका	१.२५
९२.	कुगुरु गुर्वाभास स्वरूप	४-००

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुद्रक
स्वस्तिक प्रिन्टर्स
प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org